तत्वदर्शिनी

लेखक

वीतराग महात्मा
श्री श्री १००८ श्री स्वामी स्वतंत्रानंदजी महाराज

प्रकाशक
वासुदेव नारायण सिंह
ग्राम—पलिया,
आजमगढ़।

मूल्य—स्वाध्याय

मुद्रक
महताब राय
नागरी मुद्रण
वाराणसी

भगवान श्रीकृष्ण जी

॰ नमो भगवते वासुदेवाय ॰

श्री मद्भगवद्गीता–टीका

तत्त्वदर्शिनी

लेखक

वीतराग महात्मा

श्री श्री १००८ श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज

वीतराग महात्मा
श्री श्री १००८ श्री स्वामी स्वतंत्रानंदजी महाराज

ॐ

टीकाकार

श्री श्री १००८ श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज

का

संक्षिप्त परिचय

विषय सूची

श्रीहरिः

प्राक्कथन

गीता के सम्बन्ध में सूतजी ने कहा है कि "समग्र उपनिषद् गौ हैं, श्रीकृष्ण उनको दुहनेवाले हैं, पार्थ अर्थात् अर्जुन बछड़ा हैं, महत्वपूर्ण गीता-रूप अमृत ही दूध है और विवेकी पुरुष इस दुग्ध का उपभोक्ता है।"—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपाल नन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

आनन्दकन्द लीलाविग्रहधारी भगवान् श्रीकृष्ण स्वयम् अर्जुन से गीता के सम्बन्ध में कहते हैं—"गीता मेरा हृदय है, गीता मेरा उत्तम सार तत्व है, गीता मेरा अत्यन्त तेजोमय एवं अविनश्वर ज्ञान है, गीता मेरा उत्तम स्थान है, गीता ही मेरा परम पद एवं परम गुह्य रहस्य है तथा यह मुमुक्षुओं के लिए परम गुरु है। गीता ही के आश्रय में मैं रहता हूँ—यही मेरा उत्कृष्ट गृह है तथा गीता ज्ञान के आश्रय से ही मैं जगत का पालन करता हूँ"।—

गीता मे हृदयं पार्थ गीता मे सारमुत्तमम्।
गीता मे ज्ञानमत्युग्रं गीता मे ज्ञानमव्ययम्॥
गीता मे चोत्तमं स्थानं गीता मे परमं पदम्।
गीता मे परमं गुह्यं गीता मे परमो गुरुः॥
गीताश्रयेऽहं तिष्ठामि गीता मे परमं गृहम्।
गीताज्ञानं समाश्रित्य त्रिलोकीं पालयाम्यहम्॥

तभी गीता के सम्बन्ध में कहा है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिस्सृता॥

संभवतः एक यही कारण है कि न केवल भारत का अपितु समग्र विश्व का जनसमाज येनकेन प्रकारेण गीता से लाभ उठाता चला आ रहा है। संशयात्मिका बुद्धि को हटाकर कर्म की ओर फल की भावना से रहित होकर प्रवृत्त होने का गीता का उपदेश विश्व के प्रत्येक जाति-संप्रदाय के अनुगामियों का हितकारक होता रहा है।

गीता में ज्ञान की महिमा सुरक्षित है, फिर भी वह मात्र बुद्धिगम्य नहीं हृदयगम्य है। गीता अध्यात्म संबंधी निदान-ग्रंथ है। यह हमारी सद्गुरु रूप है, माता रूप है और हमारा विश्वास है कि उसकी गोद में सर रख कर हम

सही सलामत अपना रास्ता पा लेंगे और अपनी संशयात्मिका बुद्धि को दूर कर सकेंगे।

श्रीमद्भगवद्गीता की प्रस्तुत "तत्त्वदर्शिनी" टीका के टीकाकार हैं वीतराग महात्मा श्रीश्री १००८ श्रीस्वामी स्वतंत्रानंदजी महाराज। ऐसे वीतराग स्थितप्रज्ञ महात्मा द्वारा इस ग्रंथ की टीका गीता के जिज्ञासु साधक के लिए अत्यंत ही महत्वपूर्ण है। यह सौभाग्य का ही विषय कहा जायगा कि स्वामीजी ने धारावाहिक प्रवचन के रूप में इसका श्रीगणेश किया और स्वामीजी के भक्तजनों के अनवरत प्रयास से यह टीका पुस्तक रूप में प्रकाशित हुई जिससे अन्य गीताप्रेमियों और जिज्ञासुओं की ज्ञानपिपासा का शमन और उनका ऐहिकामुष्मिक कल्याण हो सकेगा।

"तत्त्वदर्शिनी" टीका के सम्बन्ध में कुछ कहना सूर्य को दीपक दिखाना है। गीता एक महान धर्मकाव्य है। श्रद्धालु होकर इसमें जितना गहरे उतरिये उतने ही नवीन और सुन्दर अर्थ लीजिये। गीता जनसमाज के लिए है। उसमें एक ही बात को अनेक प्रकार से कहा गया है। गीता में आए महाशब्दों का अर्थ युग युग में बदलता और विस्तृत होता रहेगा पर उसका मूल मंत्र कभी नहीं बदल सकता। गीता के ही शब्दों में —

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गत संदेहः करिष्ये वचनं तव॥

और जब मोह नष्ट हुआ तथा ज्ञान प्राप्त हुआ तो—

यत्र योगेश्वरः कृष्णः यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयोभूतिर्ध्रुवानीतिर्मतिर्मम॥

हमें पूर्ण आशा और विश्वास है कि गीता पर पूज्य श्री स्वामीजी की यह प्रवचनात्मिका "तत्त्वदर्शिनी" टीका विद्वज्जनों द्वारा समादृत और भक्त एवं जिज्ञासु जनों द्वारा आदृत होगी और पूज्य स्वामीजी की अमृतमयी वाग्धारा से जनसमाज गीता-ज्ञान प्राप्त कर समाज और देश का कल्याण कर सकेगा।

शुभमस्तु

लोलार्क कुण्ड, भदैनी
वाराणसी

विश्वनाथ त्रिपाठी
साहित्याचार्य

ॐ

॥ श्री परमात्मने नमः ॥

अनन्त करुणावरुणालय भगवान् अपने भक्तों की भारी भीर हटाने के लिये स्वयं आविर्भूत हुआ करते हैं, और जब चाहते हैं,अंशावतार भी ग्रहण करते हैं। वे अवतारों में अपनी पावन लीलाओं से लोक-कल्याण का आदर्श उपस्थित करते रहते हैं। अवतारों के अतिरिक्त वे संत-स्वरूप में तो सदा इस पुण्यमयी पृथ्वी पर विचरण करते ही हैं। संतजन तो साक्षात् ही उनके रूप हैं। संतों का प्रत्येक कार्य लोककल्याणार्थ हुआ करता है। ऐसे परमात्म-स्वरूप संत-महात्माओं का साक्षात्कार अत्यन्त दुर्लभ है। जैसा कि श्री नारदजी ने कहा है—

महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च[1] [ना० भ० सू० ३६]

केवल परम प्रभु की असीम अनुकम्पा से अनेक जन्मों के पुण्योदय पर ही किन्हीं-किन्हीं पुण्यात्माओं को उनका दर्शन हो पाता है, जिसके फलस्वरूप सारे पाप-ताप पूर्णतया विनष्ट हो जाते हैं। जीवन्मुक्त सन्त-महात्मा अज्ञ जीवों को भवसागर पार कराने के लिये ही इस पृथ्वी पर जीवन धारण किये हुये हैं। श्रीमद्भागवत में भगवान् कहते हैं:—

निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम्।
सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम्॥

[श्री० भा० ११।२६।३२]

'जल में डूबते हुये लोगों के लिये दृढ़ नौका के समान इस संसार-सागर में गोते खानेवालों के लिये ब्रह्मवेत्ता शान्तचित्त संतजन ही परम अवलम्बन हैं।' वे धन धन्य हैं, जिन्हें ऐसे जीवन्मुक्त महात्माओं के चरणरज में अवगाहन का सौभाग्य प्राप्त होता है। हम जैसे मायावी नीच-पतित को यदि किसी महापुरुष का दर्शन मिल जाय तो इसे सिवाय भगवान् की अहैतुकी कृपा के और कहा ही क्या जा सकता है?

---

१. परन्तु महापुरुषों का संग दुर्लभ, अगम्य एवं अमोघ है।

परमपिता परमेश्वर की असीम अनुकम्पा से दिसम्बर सन् १६५७ में एक वीतराग 'संन्यासी **श्री श्री १००८ पूज्यपाद श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज**' विचरते हुये ग्राम घरवारा [आजमगढ़] में आ गये। दर्शन की उत्कण्ठा बढ़ते ही मैंने उनके श्रीचरणों में साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम किया। प्रथम दर्शन में ही उन्होंने हृदय पर अधिकार जमा लिया और फिर मैं सदा के लिये उनका हो गया। फिर तो मैं नित्य-प्रति उनके प्रवचन में सम्मिलित होकर उनकी अमृत-वाणी से कलुषित अन्तःकरण को धोने का प्रयत्न करने लगा।

श्री स्वामी जी का प्रवचन क्या होता—शान्ति एवं अमृत की धारा फूट पड़ती, अखण्ड आनन्द का साम्राज्य परिव्याप्त हो जाते हैं। उतने काल तो सभी श्रोता निर्मल चित्त हो जाते हैं।

इन्हीं दिनों श्री स्वामी जी की अन्तर्प्रेरणा से ग्राम घारवारा के श्रद्धालु भक्तों ने नवाह्न अखण्ड हरिकीर्तन—

> "हरेराम हरेराम रामराम हरे हरे।
> हरेकृष्ण हरेकृष्ण कृष्णकृष्ण हरे हरे॥" [कलि० उ० १]

महामन्त्र से प्रारम्भ किया, जो निर्बाध-गति से चलकर पूर्ण सफल रहा। उस समय यह स्थल सर्वत्र 'राम-कृष्ण' की पवित्र ध्वनि से गुञ्जरित हो उठा था। चिड़ियों की चुहचुहाहट, पेड़ों की मरमराहट और वायु की सनसनाहट आदि में भी 'हरे राम...; हरे कृष्ण ...' की मधुर ध्वनि सुनाई देती थी। कितने ही भक्त तो हरिकीर्तन में नाचते, गाते, तथा अश्रुपात करते हुये आत्मविभोर हो जाते। धन्य है, इसी ग्राम के जन्मान्ध श्री रामकिसुन साहु को, जिनके श्री मुख से संकीर्तन-मण्डप में भगवान् की अनुपम बाँकी-झाँकी के सामने 'हरे राम...; हरे कृष्ण... ।' महामन्त्र का उच्चारण जो निकला तो वह एक मास बाद उनके इस नश्वर शरीर के त्याग के पश्चात् ही बन्द हुआ। यह तो श्री स्वामीजी के सत्संग का ही विमल प्रभाव था कि श्री रामकिसुन साहु ने हरिनामोच्चारण करते हुए सद्गति प्राप्त की।

अखण्ड हरिकीर्तन समाप्त होने के ही दिन मेरी प्रार्थना पर श्री स्वामीजी महाराज ने केवल एक दिन के लिये मेरे ग्राम 'सेवठा' में भी पदार्पण कर अपनी पावन चरण-रज, से इस स्थल को पवित्र किया—यह उनकी मुझ पर और मेरे ग्रामवासियों पर महान् अनुकम्पा थी।

गत वर्ष नवम्बर सन् १६५६ ई० में श्री स्वामीजी का शुभागमन पुनः ग्राम घरवारा में एक महान् कार्य के साथ हुआ। भक्तों की विशेष प्रार्थना पर श्री स्वामीजी महाराज ने श्री मद्भगवद्गीता की 'तत्त्वदर्शिनी' नामक टीका जो लिखी थी उसी का अवशिष्ट संशोधन कार्य यहाँ होने लगा। यदा-कदा इस टीका के कतिपय स्थलों के पढ़ने और सुनने का सौभाग्य इस पामर को भी मिला। टीका के बारे में मैं क्या लिखूँ? सूर्य के सामने दीपक के प्रकाश का मूल्य ही क्या? विद्वान् पाठक तो स्वयं उसकी उपयोगिता का मूल्याङ्कन करेंगे। मेरी सीमा तो मौन रह जाने में ही है।

एक दिन अनायास हम अध्यापकों की गोष्ठी में चर्चा चल पड़ी कि श्री *गीता माता की टीका के साथ श्री स्वामीजी का संक्षिप्त जीवन-परिचय भी* होना चाहिये, क्योंकि टीकाकार का परिचय पाने पर टीका के प्रति पाठकों की श्रद्धा और भी उमड़ जाती है। इस चर्चा के बाद ही श्री श्रीकान्त *पाण्डेय तथा श्री दिलचन्द सिंह मेरे साथ श्री स्वामीजी* के एकमात्र शिष्य श्री स्वामी आत्मानन्द जी के पास गये और उनसे अपनी अभिलाषा प्रकट की। उन्होंने मुस्कराकर कहा—यह बात तो श्री स्वामीजी की इच्छा के विरुद्ध है, *बिना उनके आदेश के कुछ कहा नहीं जा सकता और मैं तो उनसे* आदेश प्राप्त कर सकने में असमर्थ हूँ, क्योंकि सेवक का अपने सेव्य के अनुकूल चलना ही धर्म है।

यह तो मालूम ही था कि संत महात्मा किसी पर रुष्ट नहीं होते। यदि होते भी हैं तो उससे हित ही होता है। महात्मा] और उनसे किसी का अहित !—यह कल्पनाशून्य बात है। अधर्म करने में ही बड़ों से भयभीत होना चाहिये। जिसको अपना माता-पिता, गुरु, स्वामी और सर्वस्व समझ लिया, *उसके सामने पुत्र, शिष्य और सेवक अपनी सदिच्छा प्रकट करने में भय ही* क्यों करे?—यही आधार लेकर हम लोगों ने पूज्यपाद श्री स्वामीजी महाराज के चरणों में नत हो, उनसे अपनी अभिलाषा प्रकट ही तो कर दी। *भगवान् की दया थी—श्री स्वामीजी मुस्कराकर रह गये।*

"मौनं स्वीकार लक्षणम्"

फिर क्या, हृदय गद्गद हो उठा। ऐसा क्यों न हो? भगवान् भी तो अपने भक्तों के लिये अपने नियमों का उल्लंघन कर जाया करते हैं। भक्त जैसा चाहते हैं भगवान् को वैसा करना ही पड़ता है, यही उनकी टेक है।

तो फिर श्री स्वामीजी कैसे हम लोगों की अभिलाषाओं को कुण्ठित कर देते ? अन्त में उन्होंने कह ही दिया कि आप लोग स्वामी आत्मानन्द से पूछिये।

अब तो श्री स्वामी आत्मानन्द जी का पल्ला पकड़ा गया और उनके श्री मुख से जो कुछ भी श्रवणरन्ध्र में घुस पाया, उसे लिपिबद्ध करने का भार मेरे साथियों ने मुझ पर लाद दिया। इस भार को ढोने में ही कल्याण समझकर ननु-नच किये बिना ही उनके सामने मैंने मस्तक झुका लिया।

यहाँ पर श्री स्वामी आत्मानन्द जी के विषय में कुछ संकेत कर देने का लोभ-संवरण कर सकने में मैं असमर्थ हूँ। श्री स्वामी आत्मानन्द जी का पूर्वनाम 'श्री रामबचन' था। इनका जन्म देवरिया जिले के 'जफराबाद' नामक ग्राम में एक धन धान्य सम्पन्न प्रतिष्ठित परिवार में हुआ है। ये सेन्ट ऐण्ड्रयूज कालेज गोरखपुर से बी० एस० सी० उत्तीर्ण कर कालेज से अलग हुये ही थे कि उसी समय श्री स्वामीजी का पदार्पण 'अकटहा' [देवरिया] ग्राम में हुआ। श्री स्वामीजी का भक्ति-ज्ञान-वैराग्य समन्वित दिव्योन्मादी एवं ओजस्वी शास्त्रीय प्रथम प्रवचन सुनते ही श्री रामबचन जी अत्यन्त प्रभावित हो उठे। उनका पूर्व प्रबल संस्कार जाग्रत हो उठा। संस्कार जाग्रत हो जाने पर रोक ही कौन सकता था ? इन्होंने श्री स्वामीजी महाराज की अनन्य शरण लेकर उनसे दीक्षा ग्रहण कर ली। उस समय इनकी अवस्था केवल २३ वर्ष की थी। अब इनका नाम 'रामबचन' से 'स्वामी आत्मानन्द' हो गया। अब तक यही 'स्वामी-आत्मानन्द' श्री स्वामीजी के एक मात्र शिष्य हैं। इस युग में शिष्यत्व का निर्वाह श्री स्वामी आत्मानन्द जी को देखकर ही समझ में आता है।

ओह ! यह युवक संन्यासी कितना बड़ा त्यागी और विवेकी है ? न जाने कितने दिनों से इसने विवेक-वैराग्यादि का अभ्यास प्रारंभ किया था। यह तो गीताकार के—

"शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते" [गी० ६।४१]

शब्दों में कोई योगभ्रष्ट योगी है, जो श्रीमान् के घर में उत्पन्न होकर पूर्व-संस्कारानुसार पुनः योग में प्रवृत्त हुआ है। नहीं तो क्या, माता-पिता, बन्धु-बान्धव नव-विवाहिता पत्नी तथा सम्पूर्ण धनराशि का विषवत् परित्याग कर देना सरल काम है ? घरवालों ने इन्हें माया-जाल में फाँसने का कम

प्रयत्न नहीं किया। उन्होंने इन्हें पुनः गृहस्थाश्रम में ले जाने की कोई भी युक्ति उठा न रक्खी; किन्तु दृढ़भक्ति, विवेक और प्रबल वैराग्य के सम्मुख माया कर ही क्या सकती थी ? गोस्वामी जी ने लिखा भी तो है:—

"राम भगति निरुपम निरुपाधी।
बसइ जासु उर सदा अबाधी॥
तेहि बिलोकि माया सकुचाई।
करि न सकइ कछु निज प्रभुताई॥"

इन्होंने संन्यास लिया तो पूरे वीतराग हो गये। आज दिन तो आप श्री स्वामीजी के प्रतिरूप ही हैं। श्री गीता जी की टीका में आपका योगदान अत्यन्त ही सराहनीय है।

पूज्य श्री स्वामीजी महाराज का संक्षिप्त परिचय लिखने की सामग्री केवल श्री स्वामी आत्मानन्द जी के प्रसाद से ही प्राप्त हो सकी है। अतः उनके प्रति कृतज्ञता-प्रकाश करने के लिये मेरे पास शब्दों का नितान्त अभाव है। ऊबड़-खाबड़ भाषा में श्री स्वामीजी का जो कुछ परिचय दे दिया गया है, वह आप प्रेमी पाठकों के सम्मुख है। आप से मेरी विनम्र प्रार्थना है कि भाषा-भूल पर ध्यान न देते हुए श्री स्वामी जी के परिचय पर ही विशेष ध्यान देकर उससे लाभ उठाने की कृपा करें; क्योंकि सन्त-महात्माओं के जीवन का आदर्श ही मानव जीवन सफल करने का सुगम साधन है।

श्री स्वामीजी के श्री चरणों में साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम्।

सेवटा, आजमगढ़
२५।५।६०

विनीतः—
देवनारायण पाण्डेय

॥ टीकाकार का संक्षिप्त परिचय ॥

श्री मद्भगवद्गीता की **'तत्त्वदर्शिनी'** नामक टीका के टीकाकार पूज्यपाद श्री श्री १००८ श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज का जन्म गोरखपुर जिलान्तर्गत बाँसगाँव तहसील के **'गजहड़ा'** ग्राम में कौशिक वंशावतंस त्रैलोक्य प्रसिद्ध महर्षि विश्वामित्र के पावन-कुल में भाद्रपद कृष्णाष्टमी सम्वत् १६७५ वि० को हुआ। इनके पिता का नाम **'श्री मुसनशाही'** उपनाम **'श्री हरि मंगलशाही'** और माता का नाम **'श्रीमती फूलमती देवी'** है। इनके माता-पिता बड़े सच्चरित्र, सरल एवं आस्तिक हैं। ये अपने पाँच भाइयों में सबसे श्रेष्ठ हैं। इनका पूर्व नाम **'श्री सुखारीशाही'** उपनाम **'श्री सीताराम शाही'** है। इनकी सौभाग्यवती धर्मपत्नी **'श्रीमती योगमायादेवी'** बड़ी पतिव्रता, सती-साध्वी स्त्री-रत्न हैं। इनकी दो सन्तानें हैं—एक पुत्री एवं एक पुत्र-है।

श्री स्वामीजी बचपन से ही बड़े कार्यकुशल, निर्भीक, क्षमाशील, निर्लोभी, सत्यवादी तथा परोपकारी-वृत्ति के रहे हैं। जिस भी कार्य में इन्होंने हाथ लगाया उसे बड़ी सच्चाई, दक्षता एवं उत्साह से पूरा किया। ये अपने नियम के बड़े पक्के रहे हैं। विशुद्ध-आचरण-युक्त रहने के कारण निकट-सम्पर्क में रहनेवालों ने प्रभावित होकर इनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

सन् १६४० ई० में श्री स्वामीजी बस्ती जिले की खलीलाबाद तहसील में **'मीरगंज'** नामक स्थान पर एक मंदिर में रहते थे। यहीं से इनमें भगवदुपासना का श्रीगणेश हुआ। मंदिर में भगवान् का दर्शन करने और श्रद्धा-भक्तिपूर्वक भगवत्-प्रसाद ग्रहण करने में इन्हें विशेष आनन्द मिलने लगा।

दीपावली का दिन था। लोग अपनी धुन में मस्त थे ~~और इधर~~ परन्तु श्री स्वामीजी के मस्तिष्क में सहसा यह प्रश्न उठा कि 'इस विशेष अवसर पर मुझे क्या करना चाहिये ?

'क्या बलवान् बनना चाहिये ? उत्तर मिला—नहीं।'

'तो फिर क्या लोक-ख्याति तथा स्त्री-पुत्रादि से युक्त होना चाहिये ?'

'उत्तर मिला—नहीं। क्योंकि ये सभी विनाशशील एवं क्षणभंगुर हैं। अतः उपेक्षणीय हैं।

अन्त में बुद्धि इस निष्कर्ष पर पहुँची कि भगवद्भजन ही सार है। यही मानव-जीवन का अन्तिम-लक्ष्य है।

तो फिर उपासना किसकी करनी चाहिये ? प्रश्न हुआ—भगवान् राम की ? शिव की ? अथवा भगवान् कृष्णचन्द्र की ? अन्तरात्मा से उत्तर मिला—'साक्षात् परिपूर्णतम ब्रह्म भगवान् श्री कृष्णचन्द्र की।'

बस, इस निश्चय के पश्चात् पुजारी तथा सेवक को मंदिर से अलग कर स्वयं एकान्त में घी का एक बड़ा दीपक जलाकर भगवान् की मूर्ति के सामने अत्यन्त विह्वलतापूर्वक भावमय अटपटे शब्दों में भगवान् से प्रार्थना करने लगे कि 'भगवन्! मुझे भी अपनी अनपायिनी-भक्ति प्रदान करो।' प्रार्थना के पश्चात् भगवान् की मनोहारिणी मंजुल-मूर्ति को लेकर सो गये और पुजारी जी के आने के पूर्व ही भगवान् की मूर्ति को पुनः पूर्ववत् सिंहासन पर पधरा दिया। दूसरे ही दिन गीता-प्रेस से भगवान् का एक मनोरमचित्र और श्री गीताजी की एक पुस्तक मंगाई। उसी काल से भगवन् की महती कृपा एवं पूर्व-प्रबल-संस्कारानुसार सहसा इनमें प्रगल्भ प्रेमाभक्ति प्रारम्भ हुई और प्रतिदिन आठ-आठ घण्टे की उपासना होने लगी। अब अधिकारी समझ कर इष्टदेव भगवान् श्री कृष्णचन्द्र स्वप्न में बार-बार हठात् दर्शन देने और जगा जगाकर अपनी उपासना में प्रवृत्त करने लगे। अपनी अत्यन्त मनोहर रूप-माधुरी का दर्शन देकर बार-बार आकृष्ट करते रहे। फलस्वरूप प्रगाढ़ प्रेमोन्माद में हा कृष्ण! हा कृष्ण!! उच्चारण करते हुए श्री स्वामीजी करुण-क्रन्दन करते तथा चीत्कार मचाते। इस प्रकार रुदन करने में ही इनका अधिक समय व्यतीत होने लगा। इनकी यह अवस्था निरन्तर दस वर्ष तक चलती रही।

इस उपासना के साथ ही साथ शास्त्रीय लक्षणों से सम्पन्न महात्माओं की खोज भी होती रही; किन्तु यत्र-तत्र छानबीन करने पर भी किसी ऐसे महापुरुष का समागम नहीं हो पाया, जो कामिनी-काञ्चन तथा कोलाहल पूर्ण वातावरण से सर्वथा मुक्त हो और इन पर अपना प्रभाव डाल सके।

मीरगंज के मंदिर में ही श्री स्वामीजी ने विशेष प्रकार के दो स्वप्न देखे थे। प्रथम स्वप्न में भगवान् का आदेश हुआ कि 'श्री वृन्दावन जाओ, वहाँ तुम्हें महात्मा का दर्शन मिलेगा।' भगवदादेशानुसार श्री स्वामीजी वृन्दावन गये। वहाँ पहुँचकर महात्माओं की खोज कर ही रहे थे कि सहसा एक विलक्षण महात्मा का दर्शन ग्वाल-वेष में हुआ। जिन्होंने स्वयमेव अष्टसात्विक भावों से युक्त, प्रेम-विभोर होकर दो-तीन भक्तिपूर्ण भजन सुनाये, जिन्हें सुनते ही इन्हें अत्यन्त तृप्ति और भगवत्कृपा की अनुभूति हुई।

दूसरे स्वप्न में मगहर की एक भक्ता माता का दर्शन हुआ और भगवान् का आदेश मिला कि 'मगहर जाओ, वहाँ तुम्हारा कल्याण होगा।' श्री स्वामीजी के मगहर जाने पर जब उस माता का साक्षात् दर्शन मिला तो उसका वही रूप देखने में आया जैसा कि स्वप्नावस्था में दिखलाई पड़ा था। उस माता के दर्शन से भी बुद्धि में शान्ति आई।

उन दिनों महात्मा गान्धी की ख्याति सम्पूर्ण देश में फैली हुई थी। उनकी लोक-प्रख्याति को सुनकर श्री स्वामीजी आत्म-शान्ति की प्रबल जिज्ञासा लेकर सत्सङ्गार्थ सन् १९४७ ई० में उनके पास दिल्ली गये और बिड़लाभवन में रुककर उनसे आत्म-कल्याण की उत्कट अभिलाषा प्रकट की। महात्मा जी ने इन्हें निष्काम कर्मयोग में प्रवृत्त करना चाहा; किन्तु अनेक प्रश्नोत्तर के बाद भी समुचित समाधान प्राप्त न हो सका।

इसी समय घर से पत्र द्वारा पुत्रोत्पत्ति का शुभ समाचार प्राप्त हुआ। जिस पुत्र की प्राप्ति के लिये बड़े बड़े यज्ञों और तपों का अनुष्ठान किया जाता है, जो पुत्र लोक परलोक के सुख का उत्तम साधन समझा जाता है, जिसके अभाव में पृथ्वी का राज्य, भोगैश्वर्य एवं अतुल सम्पत्ति सम्पन्न जीवन भी सूना सा प्रतीत होता है, जिसके बिना माता-पिता का हृदय नित्य-निरन्तर शोकाग्नि से सन्तप्त रहता है, उसी दुर्लभ सन्तानोत्पत्ति के शुभ समाचार से जहाँ श्री स्वामीजी को आह्लादित होना चाहिये था, वहीं यह समाचार इनके वैराग्य का प्रधान कारण बनकर उपस्थित हुआ। पूर्व प्रबल संस्कारानुसार इन्हें विवेक दृष्टि मिली और अन्तःकरण में वैराग्याग्नि प्रज्वलित हो उठी। उस समय इन्होंने विचार किया कि 'अब तक तो केवल स्त्री ही प्रबल बेड़ी के रूप में थी, पर अब माया ने मोह का एक दृढ़ फन्दा और भी उपस्थित कर दिया। मोक्ष-मार्ग के प्रतिबन्धक माया-ममता के इन प्रबल फन्दों से अपनी अवश्यमेव रक्षा करनी चाहिये।

जिनसे अजितेन्द्रिय, घर गृहस्थी में आसक्त, माया-ममता की फाँसी में फँसे हुये प्रवृत्ति मार्गावलम्बी पुरुष अपने को छुड़ाने का साहस भी नहीं कर पाते, उन्हीं दुस्त्यज्य स्त्री-पुत्रादि को क्षणभर में प्रज्वलित वैराग्याग्नि में भस्म कर शोक-मोहात्मक दुःखस्वरूप संसार से उपरत हो निवृत्तिमार्ग के पथिक बन गये। इन्होंने स्त्री-पुत्र, घर-गृहस्थी तथा सरकारी इन्सपेक्टरी-पदादि सर्वस्व का परित्याग कर हृदयेश्वर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र को ही गुरु, आत्मा एवं ईश्वर समझकर उनसे उपदिष्ट—

सर्वं धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज [गी० १८।६६]
के अनुसार उनके अनन्य शरणागत होकर विद्वत्-संन्यास ग्रहण कर लिया और लोक संग्रहार्थ आश्रमीय मर्यादा की रक्षा करते हुये स्वच्छन्द विचरण करने लगे। चूँकि इन्होंने किसी सांसारिक 'गुरु' का वरण न कर भगवान् श्री कृष्णचन्द्र को ही अपना 'गुरु' मानकर स्वतन्त्र रूप से संन्यास लिया था, अतएव इन्होंने स्वयं ही अपना नाम 'स्वतन्त्रानन्द' व्यक्त किया।

अब ये श्री गङ्गा जी के किनारे भाऊ के जङ्गलों में एकान्त सेवन करने और आत्मचिन्तन में रत रहने लगे। इस प्रकार इन्होंने तीन वर्ष तक निरन्तर शीतोष्ण एवं वर्षा की बड़ी कठोर ज्ञानयुक्त तितिक्षा की। लोग इस असह्य तितिक्षा को देखकर दंग रह जाते और दाँतो तले अँगुली दबा लेते। श्री स्वामीजी तो यदृच्छा लाभ में ही परम सन्तुष्ट रहते। समाज के चाहने पर भी कुटी मठादि के लिये किञ्चिन्मात्र भी प्रवृत्त नहीं हुए। केवल आत्मानन्द में ही रमण करते हुये स्वच्छन्द असंग होकर पृथ्वी पर विचरते तथा यत्र तत्र जिज्ञासुओं के मिल जाने पर अधिकारानुसार विशुद्ध ज्ञान-भक्ति का उपदेश कर देते।

वे माता-पिता धन्य हैं जिनके कुल में ऐसे भगवत्प्रेमी पुत्र उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसे भगवत्प्रेमी त्रैलोक्य पावन महात्माओं का दर्शन अत्यन्त ही दुर्लभ है, क्योंकि इस प्रकार के महात्मा को देख कर पितर, देवता हर्षित होकर नृत्य करते हैं और पृथ्वी भी सनाथा हो जाती है।

जैसा श्री नारदजी ने कहा है—

मोदन्ते पितरो नृत्यन्ति देवता सनाथा चेयं भूर्भवति
[ना० भ० सू० ७१]

तीर्थी कुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मी कुर्वन्ति कर्माणि सच्छास्त्री कुर्वन्ति शास्त्राणि [ना० भ० सू० ६६]

ऐसे भक्त तीर्थों को सुतीर्थ, कर्मों को सुकर्म और शास्त्रों को सच्छास्त्र कर देते हैं।

संन्यास के तीन वर्ष पश्चात् भ्रमणकाल में पता पाने पर परिवार के लोगों ने श्री स्वामीजी को अयोध्या के सन्निकट पकड़ा और घर लाकर गार्हस्थ्य-जीवन में फाँसने का विशेष प्रयास किया। अपनी शक्ति भर माया-ममता

की बेड़ी में बाँधना चाहा, किन्तु वे असमर्थ रहे। अन्त में विवश होकर लोगों ने निकटवर्ती ग्राम गड़री के सुप्रतिष्ठित सात्त्विक ब्राह्मण श्री रामचन्द्र द्विवेदी को श्री स्वामीजी को समझाने के लिये बुलाया। जिस समय द्विवेदी जी श्री स्वामीजी के पास पहुँचे, उस समय वे ध्यानस्थ थे। ध्यान से उतरते होने पर द्विवेदी जी ने श्री स्वामीजी से पूछा कि क्या आप मुझे पहचानते हैं?

श्री स्वामीजी ने उत्तर दिया—हाँ! पहचानता हूँ, आप 'राम' हैं।

यह कहकर इन्होंने उनका चरण स्पर्श कर लिया। बस! चरण स्पर्श करते ही द्विवेदी जी की अवस्था तत्क्षण बदल गई। वे रोने-गाने और हँसने लगे तथा गृह-त्याग करने पर उतारू हो गये। घरवाले भयभीत होकर उन पर पहरा देते कि कहीं वे घर न छोड़ दें, किन्तु वे रात-रात में छिपकर श्री स्वामीजी के पास आते और दर्शन करते। द्विवेदी जी कहते कि जो कोई श्री स्वामीजी जैसे महापुरुष को गृहस्थी में रहने के लिये कहेगा उसकी वाणी गिर जायेगी और वह नरक का भागी होगा। जब श्री स्वामीजी गबहड़ा से अन्यत्र जाने लगे थे तब द्विवेदी जी ने इनसे कहा था कि 'यदि पुनः शीघ्र आप का दर्शन नहीं मिलेगा तो मेरा प्राणान्त हो जायेगा।' इस पर श्री स्वामीजी ने आश्वासन दिया कि 'घबराइये नहीं, दर्शन की विशेष बेचैनी होने पर दर्शन अवश्य मिलेगा'।

अपने जन्म-स्थान में रहने पर भी श्री स्वामीजी ने शास्त्रीय नियमानुसार एकान्तसेवन करने, कामिनी काञ्चन से सर्वथा दूर रहने और भोजनार्थ भिक्षा-चर्या करने का कार्य चालू रक्खा। गबहड़ा ग्राम के ही प्रतिष्ठित व्यक्ति श्री झिमिदार शाही के परिवार और श्री स्वामीजी के पैत्रिक परिवार में बहुत दिनों से ही प्रबल शत्रुता चली आ रही थी। अतः परिवार के लोग नहीं चाहते थे कि ये शत्रु के घर भिक्षा ग्रहण करने जायें, परन्तु एक सर्वात्मदर्शी महात्मा किसे अपने शत्रु के रूप में और किसे मित्र के रूप में देखे? वह तो सबको अपना ही रूप समझता है। श्री झिमिदारशाही ने स्वप्न में भी यह कल्पना नहीं की थी कि शत्रु-परिवार का 'सुखारी' संन्यासी रूप में आकर भी मेरे यहाँ भिक्षा याचना करने आयेगा। किन्तु उनके सहित उनका सारा परिवार तब अवाक् रह गया, जब देखा कि अकल्पित संन्यासी उनके द्वार पर 'क्या मुझे भिक्षा दे सकते हैं?'—की अप्रत्याशित आवाज लगा रहा है। उस समय अत्यन्त कारुणिक दृश्य उपस्थित हो गया था। श्री शाहीजी, श्री स्वामीजी के पैरों पर गिर कर फूट फूट कर रोने लगे थे और कहने लगे

कि 'आज मेरे हृदय का सारा कल्मष धुल गया। मैं सपरिवार तर गया और जन्म जन्म के पापों से उद्धार पा गया।' उन्होंने प्रेम से इन्हें भिक्षा कराई और सदा के लिये अपने भ्रातृज 'श्री विजयबहादुर शाही' के साथ अपने को श्री स्वामीजी की सेवा में लगा दिया।

एकान्त में रहते हुये वैशाख-ज्येष्ठ की तीव्र गर्मी की तितिक्षा और शत्रु-मित्र में समदृष्टि को देखकर गाँववाले इनमें देवत्व की परिकल्पना करने लगे थे।

श्री स्वामीजी के प्रवचन से प्रभावित होकर कुछ व्यक्ति गृह से उपरत होने लगे और एक सज्जन 'श्री सूर्यबली शाही' ने तो श्री स्वामीजी से सन्यास दीक्षा देने तक का आग्रह किया; किन्तु इनके द्वारा अस्वीकृत कर दिये जाने पर उन्होंने काशी में जा कर संन्यास ले लिया। इस घटना से बड़ा तहलका मचा। लोगों ने इस भय से कि इनसे प्रभावित होकर गाँव के अन्य लोग भी संन्यासी हो जायेंगे, इनका वहाँ से अन्यत्र चला जाना ही उचित समझा।

अपने जन्म-स्थान से हटने पर एक वर्ष तक इधर-उधर भ्रमण करने के बाद श्री स्वामीजी पुनः गड़री ग्राम में पहुँचे। उस समय वहाँ पूर्वकथित श्री रामचन्द्र द्विवेदी इनके दर्शनार्थ बड़े बेचैन थे। श्री स्वामीजी ने उन्हें दर्शन देकर अपना वचन पूरा किया।

जब श्री स्वामीजी के गड़री ग्राम में आने का समाचार गजहड़ा ग्राम-वासियों को मिला तो वहाँ से बीसों भावुकभक्त दर्शनार्थ पहुँचे और प्रार्थना करने लगे कि आप हम लोगों के कल्याणार्थ गजहड़ा ग्राम में पधारने की कृपा करें, लेकिन इन्होंने प्रार्थना अस्वीकार कर दी और कहा कि 'मैं तो द्विवेदी जी के यहाँ आया हूँ और इन्हीं का हूँ' तत्पश्चात् गाँववालों ने श्री द्विवेदी जी का पैर पकड़ा। अन्त में श्री द्विवेदी जी के विशेष अनुरोध पर श्री स्वामीजी ने गजहड़ा ग्राम में पदार्पण किया और श्रावण-भादों चातुर्मास्य का दो महीना वहाँ रह कर बिताया।

गजहड़ा ग्रामवासियों की प्रवृत्ति बड़ी आसुरी थी। उनकी बुद्धि इतनी पापग्रस्त थी कि उनके मुख से 'राम' नाम का निकलना भी कठिन था। पचासों वर्षों से इस ग्राम के लोग पारस्परिक कलह में इस प्रकार उलझ गये थे कि बलवा कतल उनके लिये आसान काम था। बात-बात में लोग मेंड़-

बकरे की तरह बलि चढ़ जाया करते थे; किन्तु श्री स्वामीजी के पदार्पण पर लोगों ने इनसे बार-बार गिड़गिड़ाकर प्रार्थना की कि 'आप हम लोगों के कल्याण का मार्ग बतलाने की कृपा करें।' आर्तवाणी तो हृदय को दहला ही देती है। श्री स्वामीजी का हृदय करुणा से द्रवीभूत हो गया। अन्तःप्रेरणा हुई—'भगवन्नाम-संकीर्तन ही इस युग के लिये सर्वोपरि साधन है। इसी से जीवों का कल्याण होगा।' फिर क्या? इन्होंने आदेश दिया—'कल्याण के लिये संकीर्तन करो।' शीघ्र ही संकीर्तन का आयोजन हुआ। श्री स्वामीजी के हृदय में प्रेम का स्रोत तो था ही, भगवत्कृपा से—

"हरेराम हरेराम रामराम हरेहरे।
हरेकृष्ण हरेकृष्ण कृष्णकृष्ण हरेहरे॥" [कलि० उ० १]

इस महामन्त्र का कीर्तन अलौकिकतापूर्ण परिक्रमा के साथ प्रारंभ हो गया। इस संकीर्तन महायज्ञ में सहस्रों मनुष्यों ने बड़े उत्साह से भाग लिया। कीर्तन में श्री स्वामीजी की दशा बड़ी ही विचित्र रहती थी जैसा कि श्री मद्भागवत में भगवत्प्रेमियों की अवस्थाओं का निरूपण किया गया है—

क्वचिद् रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचि-
द्धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं
भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः॥¹

[श्री भा० ११।३।३२]

---

१. उनके हृदय की बड़ी विलक्षण स्थिति होती है। कभी कभी वे इस प्रकार चिन्ता करने लगते हैं कि अब तक भगवान् नहीं मिले, क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, किससे पूछूँ, कौन मुझे उनकी प्राप्ति करावे? इस तरह सोचते-सोचते वे रोने लगते हैं तो कभी भगवान् की लीला की स्फूर्ति हो जाने से ऐसा देखकर कि परमैश्वर्यशाली भगवान् गोपियों के डर से छिपे हुये हैं, खिलखिलाकर हँसने लगते हैं। कभी-कभी उनके प्रेम और दर्शन की अनुभूति से आनन्दमग्न हो जाते हैं तो कभी लोकातीत भाव में स्थित होकर भगवान् के साथ बातचीत करने लगते हैं। कभी मानों उन्हें सुना रहे हों, इस प्रकार उनके गुणों का गान छेड़ देते और कभी नाच-नाचकर उन्हें रिझाने लगते हैं। कभी कभी उन्हें अपने पास न पाकर इधर-उधर ढूँढ़ने लगते हैं तो कभी उनसे एक होकर, उनकी सन्निधि में स्थित होकर परम शान्ति का अनुभव करते और चुप हो जाते हैं।

"वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च ।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति ॥"[१]
[श्री० भा० ११।१४।२४]

संकीर्तन में भगवन्नामोच्चारण करते ही प्रेमातिरेक के कारण श्री स्वामीजी कभी रोते, कभी हँसते, कभी ऊँचे स्वर में गान करते, कभी उन्मत्तवत् लोक-लज्जा छोड़कर नृत्य करते-करते मूर्छित हो जाते और हाथ पैर ठंडे पड़ जाते। 'जलोपचार के बाद एक - डेढ़ घंटे में प्रकृतिस्थ होते और फिर रोने-हँसने लगते। इस प्रकार तीन-तीन, चार-चार घंटे हँसते-रोते रहते। कभी स्तब्धावस्था को प्राप्तकर स्थाणुवत् शान्त हो जाते, जिससे महान् शान्ति और भगवत्प्राप्तिरूप तृप्ति की अनुभूति करते और इसी अवस्था में पुनः संकीर्तन में प्रवृत्त होते। इस समय इतनी अधिक तन्मयता बढ़ जाती कि भोजन जलपान आदि शारीरिक आवश्यक वस्तुओं की भी सुधि-बुधि इन्हें नहीं रहती।

एक दिन श्री स्वामीजी महाराज तन्मयता विशेष की अन्तर्मुखी वृत्ति से कुछ-कुछ बहिर्मुख हो ही रहे थे कि 'तिलसर' ग्राम के एक प्रतिष्ठित ब्राह्मण श्री प० द्वारिका प्रसाद द्विवेदी सामने आकर खड़े हो आर्तस्वर में कहने लगे कि महाराज ! हम बड़े पातकी हैं, हमारा कल्याण किस प्रकार होगा ? श्री स्वामीजी भावावेश में तो थे ही, यह कहकर कि 'राम कहो, राम कहनेवाला पातकी कैसे रह सकता है ?' उनका आलिंगन कर लिये। बस, आलिंगन करते ही तत्क्षण द्विवेदी जी की अवस्था बदल गई। वे पैरों पर गिरकर फूट-फूटकर रोने लगे। उनकी इस अवस्था को देखकर सैकड़ों प्रेमियों ने महान् आश्चर्य प्रकट किया।

कीर्तनकाल की इन विचित्र अवस्थाओं को देखकर सहस्रों नर-नारी अपने को पावन बनाने के लिये आते और भगवन्नामोच्चारण कर पावन

१. प्रेम प्रकट हो जाने से जिसकी वाणी गद्गद और चित्त द्रवीभूत हो जाता है, जो प्रेमावेश में बार-बार रोता, कभी हँसता, कभी लज्जा छोड़कर ऊँचे स्वर से गाने और नाचने लगता है, वह मेरा परमभक्त त्रिलोकी को पवित्र कर देता है।

बनते। इस समय की विचित्र अवस्थाओं का वर्णन लेखनी की शक्ति के बाहर की बात है। इसका अनुभव तो उन्हीं को कुछ है, जिन्होंने संकीर्तन में भाग लेकर प्रत्यक्ष दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त किया है।

गजहड़ा ग्राम के 'श्री सीताराम शाही' और 'श्री राघव शाही' बड़े कट्टर नास्तिक थे, किन्तु श्री स्वामी जी की कृपादृष्टि पड़ते ही इनमें महान् आस्तिकता आ गई।

प्रायः देखने में आता है कि—

'घर का जोगी जोगड़ा आन गाँव का सिद्ध'

इस कहावत के अनुसार किसी महात्मा की प्रतिष्ठा अपनी जन्मभूमि पर नहीं होती, परन्तु हमारे श्री स्वामीजी महाराज इसके पूरे अपवाद हैं। आश्चर्य है! अपनी जन्मभूमि पर इनकी जो प्रतिष्ठा हुई, अन्यत्र उसके होने की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

इसी स्थान पर श्री स्वामीजी के सानिध्य से भगवन्नाम-संकीर्तन का प्रत्यक्ष फल देखा गया कि एक दीर्घकालीन महुआ का सूखता हुआ वृक्ष इतना अधिक पल्लवित हो उठा कि उसके सामने नये हरे-भरे वृक्ष भी मात हो जाते हैं।

गजहड़ा ग्राम के इसी निवासकाल की एक रात्रि में एक प्रेत पर्वताकार भयंकर रूप में श्री स्वामीजी के संमुख आया और उसने प्रश्न किया कि मैं कौन हूँ? क्या आप मुझे पहचानते हैं? श्री स्वामीजी ने उत्तर दिया—'हाँ! मैं पहचानता हूँ, तुम तो साक्षात् वासुदेव हो!' यह सुनते ही उसका रूप सौम्य हो गया। और उसने कहा—'मैं तो प्रेत हूँ, आप मुझे वासुदेव कैसे कहते हैं?' उसे पुनः उत्तर मिला कि 'जब वासुदेव से भिन्न कुछ है ही नहीं, तो तुम प्रेत कहाँ से आये? यह तुम्हारी भ्रान्त धारणा है, जो तुम अपने को प्रेत मानकर स्वयं दुःखी होते और औरों को भी दुःखी करते हो।'

प्रेत ने पूछा—'किस आधार पर आप मुझे वासुदेव कहते हैं? क्या इसके लिये कोई प्रमाण है?' श्री स्वामीजी ने बतलाया कि शास्त्रों में कहा गया है—

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' [छा० उ० ३।१४।१]
'वासुदेवः सर्वमिति' [गी० ७।१९]

और महात्माओं की अनुभूति भी यही है। अतः तुम प्रेत-भाव को छोड़कर अपने को वासुदेव समझो।

दूसरी रात में वह प्रेत एक दिव्य, कान्तियुक्त ब्रह्मचारी के रूप में पुनः आया और ज्योंही श्री स्वामीजी ने उसको स्पर्श किया त्योंही वह सर्वदा के लिये अन्तर्धान हो गया।

इस प्रकार श्री स्वामीजी महाराज के दर्शन और संस्पर्श स्थान से ऐसी-ऐसी घटनायें घटीं, जिनसे अनेक महानुभावों में भगवद्भक्ति की धारा फूट पड़ी। उन घटनाओं का उल्लेख ही श्री स्वामीजी के परिचय की मुख्य सामग्री है।

ग्राम सिहाइजगार निवासी 'श्री चन्द्रभान शाही' महान् विषयी और कट्टर नास्तिक थे। वे शास्त्रार्थ-बुद्धि से श्री स्वामीजी के सामने आये, परन्तु सामने आते ही उनकी शास्त्रार्थ बुद्धि समाप्त हो गई। वे पैरों पर गिर पड़े और सर्वदा के लिये इनके चेरे बन गए। वे कहने लगे कि 'स्वामीजी तो साक्षात् ईश्वर हैं, क्योंकि मनुष्य में वह शक्ति कहाँ? जो इस प्रकार सहसा किसीके भाव को परिणत कर दे।

कालान्तर में इन्हीं 'चन्द्रभान शाही' का देहान्त चेचक की बीमारी से हुआ। जब वे रुग्ण थे, उन्होंने अपने पिता से कहा कि 'आप मुझे इस समय श्री स्वामीजी का दर्शन अवश्य करा दें।' उनके पिता ने श्री स्वामीजी से प्रार्थना की कि 'आप मेरे घर पर चलकर चन्द्रभान को दर्शन देने की कृपा करें। वे इस समय मरण-शय्या पर स्थित आपके दर्शनार्थ बहुत व्यग्र हैं।' यह सुनकर श्री स्वामीजी ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और श्री चन्द्रभान शाही को दर्शन देने के लिए चल दिये। उनके घर पहुँचकर श्री स्वामीजी ने मरणोन्मुख शाही जी से पूछा—क्या तुम बीमार हो? उन्होंने कहा—'हाँ'। तब श्री स्वामीजी ने कहा—'नहीं, तुम बीमार नहीं हो, तुम तो नित्य निर्विकार हो। तुम्हें रोग कैसा? तुम अपनी निर्विकारावस्था का ध्यान करते हुए निर्विकार-बुद्धि से परमात्मा के नाम रूप का स्मरण कर अपने शरीर का त्याग करो। तुम्हारी दुर्गति नहीं होगी।'

ऐसे ही एक समय भ्रमण करते हुए श्री स्वामीजी 'गीता गार्डेन' गोरखपुर में पहुँचे। उस समय वहाँ पर श्रीमद्भागवत के कपिलोपाख्यान की

कथा हो रही थी। उस कथामृत को पान करते ही इनकी बुद्धि दिव्योन्माद सम्पन्न हो गई और यह अवस्था लगभग छः घण्टे तक लगातार बनी रही। इसी आवेश में संपूर्ण जगत् को कृष्णस्वरूप समझते हुए भावापन्न हो, निरतिशयानन्द के कारण वहाँ से भाग चले और कुछ दूर जाने पर एक वृक्ष का आलिंगन किये हुए मिले। इधर 'गीतागार्डेन' से एक जीप पीछे-पीछे इन्हें लेने के लिये चल रही थी। जब शरीर शैथिल्यावस्था को प्राप्तकर वृक्ष से अलग होकर गिरने लगा, तब प्रेमीजन इन्हें उठाकर 'जीप' में रखकर 'गीता-गार्डेन' में ले आये।

उसी समय हनुमानप्रसाद पोद्दार आदि इनके दर्शन के लिये आये तो उनमें से जब किसी एक ने श्री स्वामीजी द्वारा कुछ उपदेश किये जाने की इच्छा व्यक्त की, तब श्री पोद्दार जी ने उत्तर दिया कि 'श्री स्वामीजी' तो उपदेश की मूर्ति ही हैं। इनसे निरन्तर उपदेश ही हो रहा है। अब इससे बढ़कर उपदेश और क्या होगा? श्री पोद्दार जी ने यह भी कहा था कि 'श्री मद्भागवत' में ऐसे महात्मा का लक्षण बतलाया गया है; किन्तु अभी तक दर्शन का सौभाग्य नहीं मिल पाया था। आज प्रत्यक्ष दर्शन पाकर मैं कृतकृत्य हो गया। यहीं पर श्री राधेस्वामी नामक एक महात्मा मौनव्रती थे, परन्तु श्री स्वामीजी का दर्शन पाते ही वे मौनव्रत भंगकर कीर्तन करने लगे। श्री स्वामीजी के साथ श्री अर्जुन स्वरूप ब्रह्मचारी के सिवाय देवरिया जिले के अकटहा और पिपरा ग्राम के "श्री शुकदेव सिंह" तथा 'श्री झिनकू तिवारी' ये दो प्रेमी और थे। पोद्दार जी चाहते थे कि श्री स्वामीजी चार छः दिन यहाँ रुकें, किन्तु कोलाहलपूर्ण वातावरण के कारण ये वहाँ से प्रस्थान कर दिये।

एक बार भ्रमण करते हुए श्री स्वामीजी बस्ती जिले के अंतर्गत कौवाटार ग्राम के कुछ प्रेमियों के आग्रह पर एक तालाब पर रुके हुए थे। ये वहाँ श्री गीताजी का पाठ करने ही जा रहे थे कि ठीक उसी समय पशुओं का एक समूह उस तालाब के निकट आया और उस समूह से दो-ढाई मास का एक बछड़ा निकलकर सीधे श्री स्वामीजी के पास पहुँचा और सामने खड़ा हो गया। श्री स्वामीजी ने कहा—'कहिये भगवन्! आपका पदार्पण कैसे हुआ? क्या आप गीता सुनना चाहते हैं? सुनिये, आपके गोपाल ने तो आपको ही सुनाया है। आप ही इसके पात्र हैं।' श्री स्वामीजी के इतना कहते ही वह बछड़ा चरणों पर सिर रखकर शान्त हो बैठ गया और

ध्यानस्थ होकर दोनों कानों को खड़ा कर गीता का पाठ सुनने लगा। पाठ करते ही श्री स्वामीजी की अवस्था बदल गई। साथ ही वह बछड़ा भी उसी अवस्था में आ गया। उसमें भी प्रकंपन, रोमांच, अश्रुपातादि भक्ति के लक्षण स्पष्ट देखने में आये। इस अद्भुत घटना को देखकर वहीं के निवासी श्री पं० शिवमूर्ति चौबे ने कहा कि 'भगवान श्री कृष्ण की वंशी की मधुर ध्वनि सुनकर तथा उनकी रूपमाधुरी का दर्शन कर किस प्रकार पशु तक स्तब्ध और व्यापारशून्य हो जाया करते थे?—इसका समाधान मुझे आज इस बछड़े की घटना से मिला है। धन्य है, जिसके अंग-संग से पशु भी ऐसी महान् अवस्था प्राप्त कर लेते हैं, तो फिर मनुष्यों के विषय में कहना ही क्या? इस घटना के फलस्वरूप उसी ग्राम के श्री राममूर्ति चौबे घर छोड़कर श्री स्वामीजी के साथ जाने के लिए बिल्कुल कटिबद्ध हो गये थे, किन्तु श्री स्वामीजी के रात्रि में ही चुपके से चले जाने के कारण उनकी इच्छा अपूर्ण ही रह गई।

एक बार बस्ती जिलान्तर्गत 'अतरौरा' ग्राम में नवाह्न अखंड हरिकीर्तन वहाँ के प्रेमियों द्वारा प्रारंभ हुआ, जिसमें श्री रामसुभग ओझा, श्री वंश-गोपाल सिंह, श्री हजारी लाल, श्री दारोगासिंह मुख्तार, श्री गोपाल तिवारी तथा श्री रामदेव जी आदि का विशेष परिवर्तन हुआ, किन्तु 'श्री अर्जुन स्वरूप ब्रह्मचारी' अपने में कोई परिवर्तन न देखकर अत्यन्त क्षुब्ध हो, श्री स्वामीजी के पास जाकर रोने लगे। जब श्री स्वामीजी ने उन्हें करुणा-भरी दयामयी दृष्टि से देखा तो फिर तत्क्षण ही उनकी दृष्टि सर्वत्र वासुदेव-मयी हो गई। वे हँसने-रोने लगे और भगवान् को पकड़ने के लिये पागलों जैसे इधर-उधर दौड़ने लगे। एक सप्ताह तक निरंतर उनकी यही अवस्था बनी रही। उनका कहना था कि साधन-भजन से कुछ भी नहीं होता है, केवल श्री स्वामीजी की दया-दृष्टि ही जीवों के कल्याण के लिये पर्याप्त है।

इस अलौकिक संकीर्तन और श्री स्वामीजी के भक्ति-ज्ञान-वैराग्य से परिपूर्ण ओजस्वी एवं तन्मयतायुक्त दिव्योन्मादी प्रवचन से अधिक लोगों ने लाभ उठाया। यहाँ एक विशेष बात यह रही कि विद्वान् से विद्वान् व्यक्ति भी जो श्री स्वामीजी के सामने आता, वह विशेषरूप से प्रभावित हो जाता और संकीर्तन में भगवन्नामोच्चारण करते ही करुण-क्रन्दन करता हुआ आत्मविभोर हो जाता।

एक बार एक बुद्धिष्ठ महात्मा 'अतरौरा' ग्राम में श्री स्वामीजी के सामने शास्त्रार्थ बुद्धि से आये, किन्तु प्रवचन सुनते ही उनकी सारी शास्त्रार्थ बुद्धि समाप्त हो गई। इसके पश्चात् जब श्री स्वामीजी ने 'अतरौरा' ग्राम से श्री भिनकू तिवारी के साथ 'पिपरा' होते हुए 'कसया' के लिये प्रस्थान किया तब वे भी साथ हो लिये। गोरखपुर 'बस स्टेशन' पर पहुँचने पर जब यह पता चला कि 'कसया' जानेवाली बस में अभी दो घंटे की देर है, तब श्री स्वामीजी उसकी प्रतीक्षा में 'जजी कचहरी' के मैदान में एकान्त स्थान में बैठ गये। इसी समय अपने फलयाणार्थ उन महात्मा ने श्री स्वामीजी से कुछ जिज्ञासापूर्ण प्रश्न किये, जिनका श्री स्वामीजी ने युक्ति-युक्त वाक्यों में समुचित समाधान किया। फिर तो चलती हुई बस में उनकी स्थाणुवत् समाधि लग गई। बस रुकने पर श्री भिनकू तिवारी ने उतरने के लिये आवाज दी, तो वे नहीं सुन सके। फिर हाथ पकड़कर उठाने का प्रयास किया, तब भी नहीं उठे। इसके अनन्तर सिर पकड़कर जोर से हिलाने पर भी वे उठाने में असमर्थ रहे। तब श्री स्वामीजी ने कहा कि ये महात्मा समाधिस्थ हो गये हैं, अतः अपनी पूरी शक्ति लगाकर इनके कान में ओंकारोच्चारण करो। क्योंकि यदि इस प्रथम बार की आवाज से नहीं उठ सके तो दुबारा शीघ्र उठने की संभावना नहीं। श्री स्वामीजी के आदेशानुसार जब श्री तिवारी जी ने जोर से उनके कान में ओंकारोच्चारण किया तब सहसा समाधि भंग होने के कारण वे मणि छिने सर्प की भाँति व्यग्रावस्था में उठे। ऐसी अवस्था में चोट लग जाने के भय से बचाने के लिए उन्हें सीट पर ही दबा दिया गया। कुछ देर पश्चात् जब वे कुछ बहिर्मुख से हुए, तब दो तीन व्यक्तियों ने उन्हें किसी प्रकार बस से नीचे उतारा। नीचे उतरने पर सामने ही श्री स्वामीजी का दर्शन पाने पर वे इनके पैरों पर गिर पड़े और पुनः समाधिस्थ हो गये। इस विचित्र अवस्था को देखकर सभी आश्चर्यचकित थे। उनके स्वस्थ होने पर सब लोग 'पिपरा' नामक स्थान पर किसी प्रकार पहुँचे। वहाँ पहुँचने पर वे बुद्धिष्ठ महात्मा बार-बार हँसते रोते और श्री स्वामीजी के पैरों पड़ते। बाद में उन्होंने बतलाया कि 'मैंने भगवान् बुद्ध के एकान्त शान्त मन्दिर में ब्रह्मचारी होकर समाधिस्थ होने का बड़ा प्रयत्न किया था, परन्तु सफल नहीं हुआ। आश्चर्य है कि श्री स्वामीजी महाराज के दर्शन और प्रवचन ने मुझमें सहसा ऐसा महान् परिवर्तन ला दिया कि अनायास ही चलती हुई बस में समाधि लग गई, जहाँ पर कि इसकी कभी संभावना भी नहीं की जा सकती

थी।' वे यह कह कर कि 'श्री स्वामीजी तो साक्षात् ईश्वर हैं' इनके शरणापन्न हो गये। और आज दिन वे महात्मा शांति और अहिंसा के परमव्रती होकर श्री स्वामी योगानन्द जी के नाम से परिभ्रमण कर रहे हैं।

एक बार भ्रमण करते हुए श्री स्वामीजी महाराज आजमगढ़ जिलान्तर्गत मधुबन थाना के 'उफरौली' ग्राम में पहुँचे। वहाँ ग्राम के दक्षिण एक सतिबढ़ पर स्थित पीपल के विशाल वृक्ष के नीचे आसन लगाया। गाँव के लोगों ने इनसे वहाँ न रहने का निवेदन किया, क्योंकि उसी सतिबढ़ में एक विषधर काला नाग रहा करता था। श्री स्वामीजी ने यह कहकर कि 'मैं भी एक काला नाग ही हूँ, मुझमें और उस नाग में कोई अंतर नहीं है, भय किस बात का?' वहीं पड़े रहे। श्री स्वामीजी के सामने ही वह नाग अपनी बिल से नित्य निकलकर निर्भय हो बाहर जाता और आता, परंतु उसने कभी श्री स्वामीजी को हानि पहुँचाने की चेष्टा नहीं की। गाँव के लोग दंग थे। पर सच तो यह है कि जो महात्मा—

'आत्मवत्सर्वभूतानि पश्यन्' [ना० प० उ० ४।२२]
'अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्वा चरति यो मुनिः।
न तस्य सर्वभूतेभ्यो भयमुत्पद्यते क्वचित्। [ना० प० उ० ५।१६]

इस सिद्धांत के अनुसार सर्वभूतप्राणियों को स्वात्मा समझकर निर्भयता प्रदान करता हुआ स्वच्छन्द विचरता है, उसे भी किसी प्राणी से भय नहीं होता। क्योंकि यह नियम ही है कि अपने को अपने से कभी भय नहीं होता।

ऐसे ही एक बार भ्रमण करते हुए श्री स्वामीजी बदायूँ जिला के अफगना नामक ग्राम में रुके हुए थे। उस समय इनके पास श्री रामसुमिरन, श्री पं० व्रजलालजी शास्त्री आदि कई प्रेमी बैठे हुए थे। सन्निकट से ही एक व्यक्ति भारी बोझ लिये जा रहा था और उस भार से वह अत्यन्त पीड़ित था। ज्योंही सर्वात्मदर्शी श्री स्वामीजी की दृष्टि उस पर पड़ी त्योंही—

'आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यतियोऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥' [गी० ६।३२]

इस सिद्धान्तानुसार उसके दुःख को अपना दुःख समझते हुए दौड़कर

उसके भारी बोझ को झट से अपने सिर पर ले लिया और उसके गन्तव्य स्थान पर पहुँचा दिया। यह घटना देखकर भक्तमंडली दंग रह गई थी।

ऐसे ही सर्वात्मदर्शी महात्मा प्राणीमात्र में स्वात्मदृष्टि से कहीं-कहीं लोक-कल्याणार्थ 'व्यावहारिक वेदान्त' को भी चरितार्थ करते हैं।

एक बार श्री सरयू जी के पावन तट पर गोपालपुर के राजा ने माघ मास में श्री गीता जी के प्रवचन का आयोजन किया था। इसी प्रवचन में 'गजहड़ा' ग्राम निवासी एक अध्यापक श्री राजनाथ शाही ने श्री स्वामीजी का दर्शन भगवान् श्री कृष्णचन्द्र के रूप में किया। जिसके फलस्वरूप एक सप्ताह तक निरन्तर उनकी प्रगाढ़ वासुदेवावस्था बनी रही। तत्पश्चात् वे श्री स्वामीजी के दर्शनार्थ उसी स्थान पर पहुँचे और आते ही विह्वलावस्था में साष्टांग दण्डवत् प्रणाम किया तथा रोते हुए निकट आये। तब श्री स्वामीजी ने उनसे पूछा कि 'क्या बात है? क्यों रो रहे हो?' आज अध्यापन करने नहीं गये क्या? शाही जी ने कुछ क्षण के बाद उत्तर दिया—आप मुझे पढ़ाने देते ही नहीं, मैं पढ़ाऊँ कैसे? आप ने तो श्री गीता जी के नवें अध्याय के—

'राजविद्या राजगुह्यम्.......।'

आदि श्लोकों के प्रवचन में बतलाया कि 'सब निष्क्रिय वासुदेव ही है।' तो फिर उस अवस्था में कौन किसको पढ़ावे?

श्री स्वामीजी ने उत्तर दिया कि 'सब कुछ वासुदेव होने पर भी क्रिया तो चलती ही रहेगी, अतः तुम जाकर पढ़ाओ।' इस पर उन्होंने कहा कि 'जब एक बार आपने मुझको तथा समस्त जगत् को निष्क्रिय वासुदेवस्वरूप बतलाया तो मैं कैसे अध्यापन कार्य करूँ?' तब श्री स्वामीजी ने समझाया कि 'अभी तुम इस ब्राह्मी अवस्था के अधिकारी नहीं हो, अतः मुझ वासुदेव की आज्ञा है कि तुम जाकर अध्यापन कार्य करो।' तत्पश्चात् श्री राजनाथ जी ने श्री स्वामीजी के श्री चरणों को लेकर अपने सिर पर खूब रगड़ा और प्रकृतिस्थ होने पर कहा कि 'महाराज! सचमुच में अभी इस ब्राह्मी अवस्था का अधिकारी नहीं हूँ। यद्यपि आपने अपनी कृपामयी दृष्टि से मुझे सर्वत्र वासुदेवमयी दृष्टि का अनुभव करा दिया है, तथापि मैं इस अवस्था को धारण करने में असमर्थ हूँ—मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है।

इसी प्रकार एक बार श्री स्वामीजी का पदार्पण बाराबंकी जिला में हुआ। वहाँ जिस दिन से प्रवचन प्रारंभ हुआ उसी दिन से एक कायस्थ महिला उसमें सम्मिलित होने लगी। मना करने पर भी वह नहीं मानती थी। प्रवचन के ठीक आठवें दिन जब उसे श्री० पं० रामसागर के द्वारा पुनः मना करवाया गया, तो उसने एक आवेश विशेष में यह उत्तर दिया कि यदि 'कोई मेरा प्राण भी ले, तब भी मैं यहाँ से नहीं जा सकती। क्योंकि मुझे तो श्री स्वामीजी ने भगवान् श्री कृष्ण के रूप में दर्शन दिया है। अब तो ये ही मेरे जीवन-सर्वस्व हैं। मैं इन्हें छोड़कर कहाँ जाऊँ?' उसके इस उत्तर और अवस्था विशेष से सभी आश्चर्यचकित थे।

श्री स्वामीजी महाराज के प्रवचन से मुग्ध होकर कई व्यक्तियों ने गृह-त्याग कर दिया। इससे जनसाधारण में एक बड़ा कुहराम मचा। श्रीस्वामी जी के पीछे-पीछे पंचायत घूमने लगी कि इनके प्रवचन के कारण ही अमुक-अमुक युवकों ने गृह त्याग कर दिया। इसके फलस्वरूप प्रवचन में नवयुवकों का जाना रोका जाने लगा। कुछ ने तो श्री स्वामीजी का तिरस्कार एवं उनके लिये कटु-शब्दों का प्रयोग भी किया। अतः श्री स्वामीजी ने जन-भावना को देखकर प्रवचन का रूप ही परिवर्तित कर दिया। परन्तु उस प्रवचन में भी श्रोताओं को इतने सुख-शान्ति की अनुभूति होती थी कि वे प्रवचन के लिये दीवाने रहते थे। अतएव श्री पं० श्यामदेव जी चतुर्वेदी एडवोकेट तथा श्री भागवतसिंह कोतवाल, देवरिया ने जनता-जनार्दन की प्रेरणा से श्री स्वामीजी से गीता प्रवचन के लिये विशेष आग्रह किया। फलस्वरूप गीता पर प्रवचन होने लगा। प्रवचन में श्री स्वामीजी के साथ-साथ श्रोताओं में भी इतनी तन्मयता बढ़ जाती कि उसे नोट करना असंभव था। तत्पश्चात् प्रेमी भक्तों ने श्री स्वामीजी से श्री गीता जी की टीका करने की अभ्यर्थना की; जिसके फलस्वरूप 'तत्त्वदर्शिनी' नामक टीका श्री राम-भजनसिंह के शान्त कुटीर में श्री शुकदेव सिंह, श्री यदुनन्दनसिंह तथा श्री सूर्यनारायणसिंह के आयोजन में देवरिया जिले के अंतर्गत रुद्रपुर के सन्निकट ग्राम 'अकटहा' में लिखी गई और संशोधन का कार्य ग्राम 'अठनारू' [आज़मगढ़] में प्रारंभ हुआ; किन्तु प्रारब्ध बड़ा प्रबल होता है। उसका भोग सभी को भोगना पड़ता है। साधारण जन की क्या ही बात? अवतारों को भी प्रारब्ध भोग भोगकर ही शरीर-त्याग करना पड़ता है। श्री स्वामीजी द्वारा भी यह भोग भोगना ही था। शीतोष्ण की कठोर तितिक्षा एवं भगवत्प्रेम की

दिव्योन्मादावस्था तथा गीता-प्रवचन की अधिकता के कारण ये वायुविकार से पीड़ित हो गये। फलतः इन्हें नाभिस्थान के ऊपर हार्नियाँ—आँत जैसा भयंकर रोग उत्पन्न हो गया जिसकी इन्होंने रंचमात्र भी न तो परवाह की और न कोई औषधि ही की। बाद में भक्तों के विशेष आग्रह पर अनेकानेक आयुर्वेदिक औषधोपचार किया गया, परन्तु कुछ भी लाभ न हो सका। कष्ट बढ़ते हुए देखकर भक्तों और डाक्टरों के अनुरोध पर आँत के आपरेशन का निश्चय हुआ। अतः 'पलिया' ग्राम [आजमगढ़] के श्री वासुदेवसिंह, 'अठनारू' के श्री बचुलासिंह, श्री जगदीशसिंह एवं श्री चन्द्रबदनसिंह, 'नरहन' ग्राम के श्री बलदेवसिंह तथा 'आजमगढ़ अस्पताल' के डाक्टर 'श्री ज्योतिस्वरूप लखेरा' आदि प्रेमियों के विशेष आयोजन में आपरेशन के लिये श्री स्वामीजी को सानुरोध आजमगढ़ लाया गया और सदर अस्पताल आजमगढ़ के योग्य सिविल सर्जन 'श्री विश्वम्भरनाथ लांगड़ी' ने स्वयं बड़ी दक्षता एवं लगन के साथ आपरेशन किया।

आपरेशन के पूर्व श्री स्वामीजी ने डाक्टर से कहा कि 'क्लोरोफार्म' या 'इंजेक्शन' का प्रयोग किये बिना ही आपरेशन करना अच्छा रहेगा, किन्तु डाक्टर ने यह उचित न समझकर क्लोरोफार्म दिया। पाँच मिनट तक उसका कोई प्रभाव न पड़ने पर सिविल सर्जन और श्री स्वामीजी के बीच जो प्रश्नोत्तर हुए, वे निम्न प्रकार हैं।

प्रश्न—स्वामीजी! आपने संन्यास क्यों लिया?

उत्तर—[हँसते हुए] यह भी कोई प्रश्न है? संन्यास तो परमात्मा के लिये ही लिया जाता है।

प्रश्न—आपकी आयु क्या है?
उत्तर—अनन्त आयु है।
प्रश्न—आपका स्थान कहाँ है?
उत्तर—सर्वत्र।
प्रश्न—आपका नाम क्या है?
उत्तर—अनाम, 'स्वतन्त्र' नाम।
प्रश्न—बेहोशी नहीं हो रही है?
उत्तर—क्लोरोफार्म देते जाओ।

दस मिनट तक और क्लोरोफार्म दिया गया। इस प्रकार लगभग पंद्रह

मिनट तक क्लोरोफार्म देने पर भी बेहोशी नहीं आ सकी। तब सिविल सर्जन ने पुनः पूछा—'स्वामीजी! अब क्या करें?

उत्तर—'अपना काम करो।'

श्री स्वामीजी 'राम-राम' कह रहे थे। अतः रामाकार ब्रह्माकार बुद्धि से ही *तन्मयतापूर्वक प्रवचन प्रारंभ हो गया। सिविल सर्जन ने चैतन्यावस्था में* ही पेट तथा आँत का साढ़े तीन-तीन इञ्च का असह्य-वेदनायुक्त आपरेशन कर ही तो दिया। प्राणघातक घाव होने पर भी श्री स्वामीजी की बुद्धि ब्राह्मी अवस्था से तनिक भी विचलित नहीं हुई। चीरा का कोई भी प्रभाव इन पर नहीं पड़ पाया। तन्मयतापूर्वक प्रवचन चलता रहा। बाहर खड़े सैकड़ों प्रेमियों ने ध्यानपूर्वक इस आश्चर्यजनक घटना को देखा और सुना। सिविल सर्जन और डाक्टर भी हैरान थे, परन्तु श्री स्वामीजी के मुख से तो—

'यस्मिन्सर्वाणि भूतानि' [ई० उ० ७]
'सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्तिकिंचन' [नि० उ०]
'वासुदेवः सर्वमिति' [गी० ७।१६]

(आदि मंत्रों के अनुसार) 'डाक्टर ब्रह्म' 'चाकू ब्रह्म' 'रोग ब्रह्म' 'रोगी ब्रह्म' 'औषधि ब्रह्म' 'सर्वब्रह्म'—इस प्रकार अद्वैतपरक ब्रह्मात्मैक्य-दर्शन-युक्त प्रवचन लगातार डेढ़ घंटे तक चलता रहा। सभी आश्चर्यचकित एवं स्तब्ध थे।

यहाँ सबसे बड़ी आश्चर्यजनक बात यह रही कि आपरेशन के पूर्व नाड़ी की जो गति थी वही आपरेशन के समय और बाद में भी एक सप्ताह तक निराहार रहते हुए भी बनी रही। आपरेशन के बाद सिविल सर्जन की प्रेरणा से श्री स्वामीजी के अनन्यभक्त 'श्री जगदीशसिंह' ने श्री स्वामीजी का मुख मूँदकर प्रवचन बन्द किया।

श्री स्वामीजी पर क्लोरोफार्म का कुछ भी प्रभाव पड़ते न देखकर डाक्टर ने इन्हें प्रगाढ़ निद्रा में लाने के लिये मात्रा से अधिक [तीनगुनी] दवा एक ही बार में दी; किन्तु आश्चर्य कि उसका भी कोई प्रभाव इन पर न पड़ सका। इन्हें एक क्षण भी नींद नहीं आई, जब कि दवा की एक ही मात्रा के प्रयोग से पाँच छः घंटे की नींद में साधारणतया मनुष्य सो सकता

भी धिक्कार है। गीता शास्त्र में जिसकी बुद्धि नहीं लगती उसका उपर्युक्त सब कुछ निष्फल बताया गया है; गीता के विरुद्ध ज्ञान देनेवाले गुरू को तथा उसके व्रत, निष्ठा, तप और यश को भी धिक्कार है। जिसके यहाँ गीता के अर्थ का पठन पाठन नहीं होता उससे बढ़कर अधम मनुष्य अन्य कोई नहीं है। जिस ज्ञान का गीता अनुमोदन नहीं करती वह आसुरी प्रकृति के लोगों के मस्तिष्क की उपज है—ऐसा समझना चाहिये। वह [गीता विरुद्ध] ज्ञान वेदवेदान्तों द्वारा निन्दित, धर्म से रहित एवं व्यर्थ है, इसीलिए सम्पूर्ण ज्ञान का उपदेश करनेवाली समस्त शास्त्रों की सारभूता धर्ममयी एवं परम विशुद्ध होने के कारण यह गीता ही सर्वश्रेष्ठ है ॥ १५-१६ ॥

योऽधीते विष्णुपर्वाहे गीतां श्री हरिवासरे।
स्वपञ्जाग्रच्चलंस्तिष्ठञ्छत्रुभिर्न स हीयते ॥ २० ॥
शालग्रामशिलायां वा देवागारे शिवालये।
तीर्थे नद्यां पठन् गीतां सौभाग्यं लभते ध्रुवम् ॥ २१ ॥
देवकीनन्दनः कृष्णो गीतापाठेन तुष्यति।
यथा न वेदैर्दानेन यज्ञतीर्थव्रतादिभिः ॥ २२ ॥
गीताधीता च येनापि भक्तिभावेन चोत्तमा।
वेदशास्त्रपुराणानि तेनाधीतानि सर्वशः ॥ २३ ॥

जो वैष्णव पर्वों के दिन अथवा एकादशी आदि में गीता का पाठ करता है तथा जो सोते-जागते, चलते, खड़े होते, सब काल में गीता का स्वाध्याय करता रहता है, वह लौकिक शत्रुओं तथा काम-क्रोधादि मानसिक वैरियों से भी पराभव को नहीं प्राप्त होता। शालग्रामशिला के निकट, देवालय, शिवमंदिर और तीर्थ में अथवा नदी के तट पर गीता का पाठ करनेवाला मनुष्य अवश्य ही सौभाग्य प्राप्त करता है। देवकीनन्दन भगवान् श्री कृष्ण गीता-पाठ से जैसे प्रसन्न होते हैं वैसे वेदों के स्वाध्याय, यज्ञ, तीर्थ, दान एवं व्रत आदि से भी नहीं होते। जिसने उत्तम गीता शास्त्र का भक्तिभाव से अध्ययन किया है, उसने मानों सभी वेद, शास्त्र एवं पुराणों का अध्ययन कर लिया ॥२०-२३॥

योगिस्थाने सिद्धपीठे शिलाग्रे सत्सभासु च।
यज्ञे च विष्णुभक्ताग्रे पठन् सिद्धिं परां लभेत् ॥ २४ ॥
गीतापाठं च श्रवणं यः करोति दिने दिने।
क्रतवो वाजिमेधाद्याः कृतास्तेन सदक्षिणाः ॥ २५ ॥

य शृणोति च गीतार्थं कीर्तयत्येव यः परम्।
श्रावयेच्च परार्थं वै स प्रयाति परं पदम् ॥ २६ ॥
गीतायाः पुस्तकं शुद्धं योऽर्पयत्येव सादरात्।
विधिना भक्तिभावेन तस्य भार्या प्रिया भवेत् ॥ २७ ॥
यशः सौभाग्यमारोग्यं लभते नात्र संशयः।
दयितानां प्रियो भूत्वा परमं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥
अभिचारोद्भवं दुःखं वरशापागतं च यत्।
नोपसर्पन्ति तत्रैव यत्र गीतार्चनं गृहे ॥ २६ ॥
तापत्रयोद्भवा पीडा नैव व्याधिर्भवेत्क्वचित्।
न शापो नैव पापं च दुर्गतिर्नरकं न च ॥ ३० ॥

योगियों के स्थान में, सिद्ध पीठ में, शालग्राम शिला के सम्मुख, संतों की गोष्ठी में, यज्ञ में तथा किसी विष्णुभक्त पुरुष के आगे गीता का पाठ करने वाला मनुष्य शीघ्र ही परम सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। जो प्रति दिन गीता का पाठ एवं श्रवण करता है, उसने मानो अश्वमेधादि सभी यज्ञ दक्षिणा सहित संपन्न कर लिये। जो गीता के अर्थ का श्रवण करता है एवं जो दूसरों के समक्ष उसका वर्णन करता है तथा जो दूसरों के लिए गीता सुनाया करता है, वह परम पद को प्राप्त होता है। जो विधिपूर्वक बड़े आदर-सत्कार एवं भक्ति-भाव से गीता की शुद्ध पुस्तक किसी विद्वान् को केवल अर्पण मात्र करता है उसकी पत्नी सदा उसके अनुकूल रहती है, वह यश, सौभाग्य एवं आरोग्य लाभ करता है तथा प्यारी पत्नी आदि का प्रेम भाजन होकर उत्तम सुख भोगता है—इसमें तनिक भी संशय नहीं है। जिस घर में प्रतिदिन गीता की पूजा होती है [शत्रु द्वारा किये हुए मारण, उच्चाटन आदि] अभिचार-यज्ञों से प्राप्त हुये दुःख तथा किसी श्रेष्ठ पुरुष के शाप से होने वाले कष्ट उस घर के समीप ही नहीं जाते। इतना ही नहीं, वहाँ आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इन त्रिविध तापों से होने वाली पीड़ा तथा रोग किसी को नहीं होते। शाप, पाप, दुर्गति और नरक का कष्ट भी किसी को नहीं भोगना पड़ता ॥ २४-३० ॥

विस्फोटकादयो देहे न बाधन्ते कदाचन।
लभेत् कृष्णपदे दास्यं भक्तिं चाव्यभिचारिणीम् ॥ ३१ ॥

जायते सततं सख्यं सर्वं जीव गणैः सह।
प्रारब्धं भुञ्जतो वापि गीताभ्यासरतस्य च ॥ ३२ ॥
स मुक्तः स सुखी लोके कर्मणा नोपलिप्यते।
महापापादिपापानि गीताध्यायी करोति चेत्।
न किञ्चित् स्पृश्यते तस्य नलिनीदलमम्भसा ॥ ३३ ॥
अनाचारोद्भवं पापमवाच्यादिकृतं च यत्।
अभक्ष्यभक्षजं दोषमस्पृश्यस्पर्शजं तथा ॥ ३४ ॥
ज्ञानाज्ञानकृतं नित्यमिन्द्रियैर्जनितं च यत्।
तत्सर्वं नाशमायाति गीता पाठेन तत्क्षणात् ॥ ३५ ॥
सर्वत्र प्रतिभोक्ता च प्रतिगृह्य च सर्वशः।
गीतापाठं प्रकुर्वाणो न लिप्येत कदाचन ॥ ३६ ॥
रत्नपूर्णां महीं सर्वां प्रतिगृह्याविधानतः।
गीता पाठेन चैकेन शुद्धस्फटिकवत्सदा ॥ ३७ ॥

जो गीता के अभ्यास में लगा रहता है उसके शरीर में चेचक के फोड़े आदि कभी बाधा नहीं पहुँचाते, वह भगवान् श्री कृष्ण के चरणों में दास भाव तथा अनन्य भक्ति प्राप्त कर लेता है। प्रारब्ध भोग करते हुए भी उसका सभी जीवों के साथ सदा सख्य भाव बना रहता है। गीता का स्वाध्याय करने वाला मनुष्य यदि कभी महापातकादि पाप भी कर बैठता है तो उन पापों से उसका कुछ भी स्पर्श नहीं होता। अनाचार, दुर्वचन, अभक्ष्य भक्षण तथा नहीं छूने योग्य वस्तु के स्पर्श से होनेवाले, ज्ञान अथवा अज्ञान में किये हुए एवं प्रतिदिन इन्द्रियजन्य जितने भी पाप हैं, वे सब के सब गीता का पाठ करने से तत्क्षण नष्ट हो जाते हैं। जो सर्वत्र भोजन करता है एवं सबसे दान लेता है, वह भी यदि गीता का पाठ करता है तो उन पापों से कभी भी लिप्त नहीं होता। रत्नों से युक्त सम्पूर्ण पृथ्वी का अविधिपूर्वक दान स्वीकार करके भी गीता का एक ही बार पाठ करने से मनुष्य सदा शुद्ध स्फटिक के समान निर्मल बना रहता है ॥ ३१–३७ ॥

यस्यान्तःकरणं नित्यं गीतायां रमते सदा।
स साग्निकः सदा जापी क्रियावान् स च पण्डितः ॥३८॥
दर्शनीयः स धनवान् स योगी ज्ञानवानपि।
स एव याज्ञिको याजी सर्ववेदार्थदर्शकः ॥ ३९ ॥

गीतायाः पुस्तकं यत्र नित्यपाठश्च वर्तते ।
तत्र सर्वाणि तीर्थानि प्रयागादीनि भूतले ॥ ४० ॥

निवसन्ति सदा देहे देहशेषेऽपि सर्वदा ।
सर्वे देवाश्च ऋषयो योगिनो देहरक्षकाः ॥ ४१ ॥

गोपालो बालकृष्णोऽपि नारदध्रुवपार्षदैः ।
सहायो जायते शीघ्रं यत्र गीता प्रवर्तते ॥ ४२ ॥

यत्र गीताविचारश्च पठनं पाठनं तथा ।
मोदते तत्र भगवान् कृष्णो राधिकया सह ॥ ४३ ॥

जिसका चित्त सदा ही गीता में रमा रहता है, वही अग्निहोत्री है, वही सदा मन्त्रजापी है और वही कर्मनिष्ठ एवं पंडित है, वही दर्शनीय है, वही धनवान् है, वही योगी और ज्ञानवान् है तथा वही यज्ञ कराने वाला यजमान एवं संपूर्ण वेदों के अर्थ का ज्ञाता है। जहाँ गीता की पुस्तक रहती है तथा जहाँ गीता का नित्य पाठ होता रहता है, उस स्थान पर और पाठ करनेवाले के शरीर में प्रयागादि सभी तीर्थ निवास करते हैं तथा जीवनकाल में सभी देवता, ऋषि और योगीजन उसके शरीर की रक्षा करते रहते हैं। जहाँ गीता पाठ होता रहता है, वहाँ गो पालक भगवान् बालकृष्ण भी नारद, ध्रुव आदि अपने पार्षदों के साथ शीघ्र ही सहायता के लिये उपस्थित हो जाते हैं। जहाँ गीता संबन्धी विचार और उसका पठन पाठन होता रहता है वहाँ भगवान् श्री कृष्ण श्री राधिका जी के साथ विराजमान हो अत्यन्त प्रसन्न होते हैं ॥ ३८-४३ ॥

श्री भगवानुवाच

गीता मे हृदयं पार्थ गीता मे सारमुत्तमम् ।
गीता मे ज्ञानमत्युग्रं गीता मे ज्ञानमव्ययम् ॥ ४४ ॥

गीता मे चोत्तमं स्थानं गीता मे परमं पदम् ।
गीता मे परमं गुह्यं गीता मे परमो गुरुः ॥ ४५ ॥

गीताश्रयेऽहं तिष्ठामि गीता मे परमं गृहम् ।
गीताज्ञानं समाश्रित्य त्रिलोकीं पालयाम्यहम् ॥ ४६ ॥

गीता मे परमा विद्या ब्रह्मरूपा न संशयः ।
अर्द्धमात्रा परा नित्यमनिर्वाच्यपदात्मिका ॥ ४७ ॥

गीता नामानि वक्ष्यामि गुह्यानि शृणु पाण्डव ।
कीर्तनात्सर्वपापानि विलयं यान्ति तत्क्षणात् ॥ ४८ ॥

गङ्गा गीता च गायत्री सीता सत्या सरस्वती ।
ब्रह्मवल्ली ब्रह्मविद्या त्रिसन्ध्या मुक्तिगेहिनी ॥ ४९ ॥

अर्द्धमात्रा चिदानन्दा भवघ्नी भ्रान्तिनाशिनी ।
वेदत्रयी परानन्दा तत्त्वार्थज्ञान मञ्जरी ॥ ५० ॥

इत्येतानि जपेन्नित्यं नरो निश्चलमानसः ।
ज्ञानसिद्धिं लभेन्नित्यं तथान्ते परमं पदम् ॥ ५१ ॥

आनन्दकन्द सच्चिदानन्दघन भगवान् बोले—हे पार्थ ! गीता मेरा हृदय है, गीता मेरा उत्तम सार-तत्त्व है, गीता मेरा अत्यन्त तेजस्वी और अविनाशी ज्ञान है, गीता मेरा उत्तम स्थान है, गीता मेरा परम पद है, गीता मेरा परम गुह्य रहस्य है एवं मेरी यह गीता मुमुक्षुओं के लिये परम गुरु है । मैं गीता के ही आश्रय में रहता हूँ, गीता मेरा उत्तम गृह है गीता ज्ञान का आश्रय लेकर मैं तीनों लोकों का पालन करता हूँ । इसमें लेशमात्र भी संदेह नहीं कि मेरी यह गीता पराविद्या और ब्रह्मस्वरूपिणी है; यह अर्धमात्रा, सर्वोत्कृष्ट एवं अनिर्वचनीय स्वरूपा है । हे पाण्डव ! अब मैं तुमसे गीता के गुह्यनामों को कहूँगा, तुम ध्यान से सुनो । इन नामों के कीर्तन से संपूर्ण पाप तत्क्षण नष्ट हो जाते हैं । गङ्गा, गीता, गायत्री, सीता, सत्या, सरस्वती, ब्रह्मवल्ली, ब्रह्मविद्या, त्रिसन्ध्या, मुक्तिगेहिनी, अर्धमात्रा, चिदानन्दा, भवघ्नी, भ्रांतिनाशिनी, वेदत्रयी, परानन्दा और तत्त्वार्थ-ज्ञानमञ्जरी—ये सत्रह नाम हैं । जो मनुष्य निश्चलचित्त होकर इन नामों का नित्य जप करता है, वह सनातन ज्ञान-सिद्धि को प्राप्तकर प्राणान्त के पश्चात् परम पद को पाता है ॥ ४८–५१ ॥

पाठेऽसमर्थः सम्पूर्णे तदर्धं पाठमाचरेत् ।
तदा गोदानजं पुण्यं लभते नात्र संशयः ॥ ५२ ॥

त्रिभागं पाठमानस्तु सोमयागफलं लभेत् ।
षडंशं जपमानस्तु गङ्गास्नानफलं लभेत् ॥ ५३ ॥

तथाध्यायद्वयं नित्यं पठमानो निरन्तरम् ।
इन्द्रलोकमवाप्नोति कल्पमेकं वसेद् ध्रुवम् ॥ ५४ ॥

एकमध्यायकं नित्यं पठते भक्तिसंयुतः।
रुद्रलोकमवाप्नोति गणो भूत्वा वसेच्चिरम् ॥ ५५ ॥
अध्यायार्धं च पादं वा नित्यं यः पठते जनः।
प्राप्नोति रविलोकं स मन्वन्तर समाः शतम् ॥ ५६ ॥

गीतायाः श्लोकदशकं सप्तपञ्चचतुष्टयम्।
त्रिद्वयेकमेकमर्धं वा श्लोकानां यः पठेन्नरः।
चन्द्रलोकमवाप्नोति वर्षाणामयुतमं तथा ॥ ५७ ॥
गीतार्थमेकपादं च श्लोकमध्यायमेव च।
स्मरंस्त्यक्त्वा जनो देहं प्रयाति परमं पदम् ॥ ५८ ॥
गीतार्थमपि पाठं वा शृणुयादन्त कालतः।
महापातक युक्तोऽपि मुक्तिभागी भवेज्जनः ॥ ५६ ॥

यदि कोई गीता का संपूर्ण पाठ करने में असमर्थ हो तो उसे आधी गीता का पाठ प्रतिदिन अवश्य कर लेना चाहिये, ऐसा करने से उसे नित्य गोदान करने का फल प्राप्त होता है—इसमें लेशमात्र भी संशय नहीं है। प्रति दिन तृतीय भाग का पाठ करनेवाला मनुष्य सोमयाग का फल प्राप्त करता है। छठे अंश का नित्य पाठ करनेवाला मनुष्य गङ्गास्नान का फल प्राप्त करता है। दो अध्याय का नित्य निरन्तर पाठ करनेवाला मनुष्य इन्द्रलोक को प्राप्त करता है और वहाँ निश्चित रूप से एक कल्पपर्यन्त निवास करता है। जो प्रतिदिन भक्तियुक्त होकर एक अध्याय का भी पाठ करता है उसे रुद्रलोक प्राप्त होता है और वहाँ वह रुद्र का गण होकर चिरकाल तक निवास करता है। जो मनुष्य आधे या चौथाई अध्याय का भी नित्य पाठ करता है वह सौ मन्वन्तर के वर्षों तक सूर्यलोक में निवास प्राप्त करता है। जो मनुष्य गीता के दश, सात, पाँच, चार, तीन, दो, एक अथवा आधे श्लोक का भी नित्य पाठ करता है वह दश हजार वर्षों तक चन्द्रलोक में निवास प्राप्त करता है। गीता के एक अध्याय, एक श्लोक अथवा एक पाद के अर्थ को स्मरण करते हुए देह त्याग करनेवाला मनुष्य परमपद को प्राप्त कर लेता है। जो मनुष्य प्राणान्तकाल में गीता के अर्थ या मूल पाठ का भी श्रवण कर लेता है वह महापातक से युक्त होने पर भी मुक्ति का भागी हो जाता है ॥ ५२-५६ ॥

गीतापुस्तकसंयुक्तः प्राणांस्त्यक्त्वा प्रयाति यः।
स वैकुण्ठमवाप्नोति विष्णुना सह मोदते ॥ ६० ॥

गीताध्यायसमायुक्तो मृतो मानुषतां व्रजेत् ।
गीताभ्यासं पुनः कृत्वा लभते मुक्तिमुत्तमाम् ॥ ६१ ॥
गीतेत्युच्चार संयुक्तो म्रियमाणो गतिं लभेत् ।
यद्यत्कर्म च सर्वत्र गीतापाठ प्रकीर्तितम् ।
तत्तत्कर्म च निर्दोषं भूत्वा पूर्णत्वमाप्नुयात् ॥ ६२ ॥

जो चिदानन्द स्वरूपिणी श्री गीता की पुस्तक से संयुक्त हो प्राणों को त्याग कर जाता है, वह वैकुंठधाम को प्राप्त होता और भगवान् विष्णु के साथ आनन्द भोगता है। गीता का पाठ होते समय मरा हुआ जीव मरकर पुनः मनुष्य योनि में जन्म लेता है और उसमें गीता का पुनः अभ्यास करके उत्तम मोक्ष को प्राप्त होता है। 'गीता' इस शब्द का उच्चारण मात्र करने से मरनेवाला मनुष्य भी सद्गति को प्राप्त हो जाता है। सर्वत्र जो जो कर्म गीता का पाठ और कीर्तन करते हुए सम्पन्न किया जाता है, वह सारा कर्म निर्दोष होकर पूर्णता को प्राप्त हो जाता है ॥ ६०-६२ ॥

पितॄनुद्दिश्य यः श्राद्धे गीता पाठं करोति हि ।
सन्तुष्टाः पितरस्तस्य निरयाद्यान्ति स्वर्गतिम् ॥ ६३ ॥
गीतापाठेन सन्तुष्टाः पितरः श्राद्धतर्पिताः ।
पितृलोकं प्रयान्त्येव पुत्राशीर्वादतत्पराः ॥ ६४ ॥
गीता पुस्तकदानं च धेनुपुच्छसमन्वितम् ।
कृत्वा च तद्दिने सम्यक कृतार्थो जायते जनः ॥ ६५ ॥
पुस्तकं हेमसंयुक्तं गीतायाः प्रकरोति यः ।
दत्त्वा विप्राय विदुषे जायतेन पुनर्भवम् ॥ ६६ ॥
शतपुस्तकदानं च गीतायाः प्रकरोति यः ।
स याति ब्रह्मसदनं पुनरावृत्ति दुर्लभम् ॥ ६७ ॥
गीतादानप्रभावेण सप्तकल्पमिताः समाः ।
विष्णुलोकमवाप्यान्ते विष्णुना सह मोदते ॥ ६८ ॥
सम्यक्छ्रुत्वा च गीतार्थं पुस्तकं यः प्रदापयेत् ।
तस्मै प्रीतः श्री भगवान् ददाति मानसेप्सितम् ॥ ६९ ॥

जो श्राद्ध में पितरों के उद्देश्य से गीता का पाठ करता है, उसके पितर सन्तुष्ट होकर नरक से स्वर्ग को चले जाते हैं। श्राद्ध में तृप्त किये हुए

पितृगण गीता पाठ से सन्तुष्ट होकर अपने पुत्रों को आशीर्वाद देते हुये ही पितृलोक को जाते हैं। गाय की पूँछ सहित गीता की पुस्तक हाथ में ले संकल्पपूर्वक उसका सम्यक् प्रकार से दान करके मनुष्य उसी दिन कृतार्थ हो जाता है। जो गीता की पुस्तक को सुवर्ण से मढ़कर उसे विद्वान् ब्राह्मण को दान देता है उसका संसार में पुनर्जन्म नहीं होता। जो गीता की सौ पुस्तकें दान कर देता है वह पुनरावृत्ति से रहित ब्रह्मधाम को प्राप्त होता है। गीतादान के प्रभाव से अन्त में मनुष्य विष्णुलोक को प्राप्त कर वहाँ सात कल्प के बराबर वर्षों तक भगवान् विष्णु के साथ आनन्दपूर्वक रहता है। जो गीता के अर्थ को भली प्रकार सुनकर पुस्तक दान करता है उस पर प्रसन्न होकर श्री भगवान् उसे मनोवाञ्छित वस्तु प्रदान करते हैं ॥ ६३–६६ ॥

देहं मानुषमाश्रित्य चातुर्वर्ण्येषु भारत।
न शृणोति न पठति गीताममृतरूपिणीम्।
हस्तात्त्यक्त्वामृतं प्राप्तं स नरो विषमश्नुते ॥ ७० ॥
जनः संसार दुःखार्तो गीताज्ञानं समालभेत्।
पीत्वा गीतामृतं लोके लब्ध्वा भक्तिं सुखीभवेत् ॥ ७१ ॥
गीतामाश्रित्य बहवो भूभुजो जनकादयः।
निर्धूतकल्मषा लोके गतास्ते परमं पदम् ॥ ७२ ॥
गीतासु न विशेषोऽस्ति जनेषूच्चावचेषु च।
ज्ञानेष्वेव समग्रेषु समा ब्रह्मस्वरूपिणी ॥ ७३ ॥

हे अर्जुन! जो ब्राह्मणादि चार वर्णों के अन्दर मानव शरीर धारण कर इस अमृतरूपिणी गीता का श्रवण और पाठ नहीं करता, वह मनुष्य मानो मिले हुये अमृत को अपने हाथ से फेंककर विष भक्षण करता है। संसार के दुःख से संतप्त हुए मनुष्य को चाहिये कि वह गीता का ज्ञान प्राप्त करे और इस जगत् में गीतामयी सुधा का पान करके भगवान् की भक्ति पाकर सुखी हो जाय। जनकादि बहुत से राजा लोग इस जगत् में गीता का आश्रय लेकर पाप रहित परम पद को प्राप्त हो गये हैं। गीता का अध्ययन करने के विषय में ऊँच नीच मनुष्यों का कोई भेद नहीं है [इसके सभी समानाधिकारी हैं] गीता संपूर्ण ज्ञानों में समान तथा ब्रह्मस्वरूपिणी है ॥ ७०–७३ ॥

योऽभिमानेन गर्वेण गीतानिन्दां करोति च।
स याति नरकं घोरं यावदाभूतसंप्लवम् ॥ ७४ ॥

अहंकारेण मूढात्मा गीतार्थं नैव मन्यते।
कुम्भीपाकेषु पच्येत यावत्कल्पक्षयो भवेत् ॥ ७५ ॥
गीतार्थं वाच्यमानं यो न शृणोति समीपतः।
स शूकरभवां योनिमनेकामधिगच्छति ॥ ७६ ॥
चौर्यं कृत्वा च गीतायाः पुस्तकं यः समानयेत्।
न तस्य सफलं किञ्चित् पठनं च वृथा भवेत् ॥ ७७ ॥
यः श्रुत्वा नैव गीतार्थं मोदते परमार्थतः।
नैव तस्य फलं लोके प्रमत्तस्य यथा श्रमः ॥ ७८ ॥

जो अहंकार और गर्व से गीता की निन्दा करता है, वह जब तक समस्त भूतों का प्रलय नहीं हो जाता तब तक घोर नरक में पड़ा रहता है। जो मूर्ख अहंकारवश गीता के अर्थ का आदर नहीं करता, वह जब तक कल्प का अंत न हो जाय तब तक कुम्भीपाक में पकाया जाता है। निकट ही कहे जानेवाले गीता के अर्थ को जो नहीं सुनता, वह अनेकों बार सूअर की योनि में जन्म लेता है। जो गीता की पुस्तक कहीं से चोरी करके लाता है, उसका कुछ भी सफल नहीं होता, उसका गीता-पाठ व्यर्थ हो जाता है। जो गीता का अर्थ सुनकर वस्तुतः प्रसन्न नहीं होता, उसके अध्ययन का इस जगत में कोई फल नहीं है, पागल की भाँति उसे खाली परिश्रम ही होता है ॥ ७४–७८ ॥

गीतां श्रुत्वा हिरण्यं च भोज्यं पट्टाम्बरं तथा।
निवेदयेत् प्रदानार्थं प्रीतये परमात्मनः ॥ ७९ ॥
वाचकं पूजयेद्भक्त्या द्रव्यवस्त्राद्युपस्करैः।
अनेकैर्बहुधा प्रीत्या तुष्यतां भगवान् हरिः ॥ ८० ॥

गीता सुनकर परमात्मा की प्रसन्नता के लिये दान करने के उद्देश्य से वाचक को सोना; उत्तम भोजन और रेशमीवस्त्र अर्पण करने चाहिये। 'भगवान् श्री हरि प्रसन्न हों' इस उद्देश्य से द्रव्य और वस्त्रादि भाँति-भाँति के अनेकों उपकरणों द्वारा प्रसन्नतापूर्वक भक्तिभाव से वाचक की पूजा करनी चाहिये ॥ ७९–८० ॥

सूत उवाच

माहात्म्यमेतद्गीतायाः कृष्णप्रोक्तं पुरातनम्।
गीतान्ते पठते यस्तु यथोक्तफलभाग्भवेत् ॥ ८१ ॥

गीतायाः पठनं कृत्वा माहात्म्यं नैव यः पठेत्।
वृथा पाठफलं तस्य श्रम एव ह्युदाहृतः ॥ ८२ ॥
एतन्माहात्म्यसंयुक्तं गीतापाठं करोति यः।
श्रद्धया यः शृणोत्येव परमां गतिमाप्नुयात् ॥ ८३ ॥
श्रुत्वा गीतामर्थयुक्तां माहात्म्यं यः शृणोति च।
तस्य पुण्यफलं लोके भवेत्सर्वसुखावहम् ॥ ८४ ॥

सूत जी बोले—भगवान् श्री कृष्ण के द्वारा कहे हुए इस प्राचीन गीता माहात्म्य को जो गीता के अन्त में पढ़ता है, वह उपर्युक्त समस्त फलों का भागी होता है। जो गीता पढ़कर माहात्म्य का पाठ नहीं करता, उसके गीता-पाठ का फल व्यर्थ एवं परिश्रम मात्र बताया गया है।

जो इस माहात्म्य के सहित गीता का पाठ करता है अथवा जो श्रद्धापूर्वक *श्रवण ही करता है, वह परम गति को प्राप्त होता है।* जो अर्थ सहित गीता का श्रवण करके फिर इस माहात्म्य को सुनता है, उसके पुण्य का फल इस जगत् में सबको सुख देनेवाला होता है ॥ ८१—८४ ॥

इति श्री वैष्णवीयतन्त्रसारे श्रीमद्भगवद्गीता माहात्म्यं सम्पूर्णम्।

॥ श्री कृष्णार्पणमस्तु ॥

॥ ॐ ॥

प्रस्तावना

ॐ नमो विश्वरूपाय विश्वस्थित्यन्तहेतवे।
विश्वेश्वराय विश्वाय गोविन्दाय नमो नमः॥
मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम्।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम्॥
वसुदेवसुतं देवं कंस चाणूरमर्दनम्।
देवकी परमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्॥

ब्रह्मस्वरूपिणी एवं अनिर्वचनीयस्वरूपा श्री गीता की महिमा विश्वविदित एवं निर्विवाद ही है। जैसा कि भगवान् ने स्वयं ही कहा है:—

"गीता मे हृदयं पार्थ"

जो सच्चिदानन्दघन श्रीकृष्ण चन्द्र का हृदय, उत्तमस्थान, परमपद, आश्रय एवं श्रेष्ठ गृह है, उसकी महिमा के विषय में कहना ही क्या?

ऐसे ही श्री वेदव्यास जी एवं भगवान् विष्णु ने भी इसके माहात्म्य में कहा है कि :—

"या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता"
"चिदानन्देन कृष्णेन प्रोक्ता स्वमुखतोऽर्जुन।
वेदत्रयी परानन्दा तत्त्वार्थज्ञानसंयुता॥" [वा० पु०]

बस, इस वेदत्रयी एवं तत्त्वार्थज्ञानसंयुक्ता परमानन्दस्वरूपिणी श्री गीता की महिमा की पराकाष्ठा तो स्वयं पद्मनाभ चिदानन्द स्वरूप भगवान् श्री कृष्णचन्द्र के मुखारविन्द से निःसृत होने में ही है। जैसे वेदों में कर्म, उपासना एवं ज्ञानकाण्ड का विवेचन मल, विक्षेप तथा आवरण के निवारण के द्वारा कैवल्य-प्राप्त्यर्थ किया गया है, वैसे ही इस शास्त्र में भी बड़े ही अलौकिक ढंग से भगवान् वासुदेव के द्वारा 'जो मानवी-बुद्धि के परे हैं' तीनों काण्डों का विवेचन किया गया है; जैसा कि अन्यत्र अनुपलब्ध है।

चूँकि यह वेदों के सार उपनिषदों का भी सार-सार तत्त्व है, इसलिये इसको समझना सामान्य बुद्धि के लिये असम्भव सा है। परन्तु जिस पर गीताशास्त्रकार पद्मनाभ आनन्दकन्द श्री कृष्णचंद्र का लेशमात्र भी कृपा-कटाक्ष हो जाता है, वही इसकी दुर्बोध ब्रह्मविद्या को 'जो द्वैताद्वैत रूप से इसमें निहित है' समझ सकता है; फिर उसको अन्य शास्त्र की अपेक्षा नहीं रह जाती। जैसा कि कहा है कि :—

"किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः"

ब्रह्मप्राप्ति के परम साधन प्रस्थानत्रय-ग्रन्थों में इसका सर्वोत्कृष्ट स्थान है। यद्यपि इसकी सृष्टि उपनिषदों से है, परन्तु यह उपनिषदों से भी अधिक सरल, सुग्राह्य, आनन्ददायक तथा मधुर है। यह मुमुक्षुओं को ब्रह्मानन्द सागर में शीघ्राति शीघ्र गोता लगवाकर, ब्राह्मीस्थिति में लाकर प्रेमाभक्ति और ज्ञान में उन्मत्त बनाकर कृतकृत्य कर देती है। उस काल में उस महात्मा की

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥"

[मु० उ० २।२।८]

"ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा"

[गी० ४।३७]

समस्त हृदयग्रन्थियाँ, सारे संशय और सम्पूर्ण कर्म पूर्णतया भस्मसात् हो जाते हैं। वह सर्वत्र आत्मदर्शन करता हुआ समता के साम्राज्य पर आरूढ़ हो जाता है; उसकी दृष्टि से जड़-चैतन्य का भेद मिट जाता है, यही योग का परम रहस्य है। जैसा कि योगेश्वरेश्वर भगवान श्री कृष्णचन्द्र स्वयं कहते हैं:—

"यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥"

[गी० ६।३०]

यही ब्रह्म-साक्षात्कार की अवस्था है, यहीं जीव-शिव का मिलन होता है और यहीं पर परमात्मा, आत्मा तथा प्रकृति की एकता हो जाती है। जैसा कि स्वयं श्रुति कहती है:—

"भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा
सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ॥" [श्वे० उ० १।१२]

ऐसी अवस्था में वह महात्मा अक्षयानन्द का अनुभव करता हुआ, *आनन्दातिरेक से उन्मत्त हो वृक्षादि का आलिंगन करता हुआ*, अपने अनन्तर रूपों को देखता हुआ, सबसे प्रेमालाप और क्रीड़ा करता हुआ, सगुण-निर्गुण, द्वैत-अद्वैत तथा नाना मत-मतान्तरों, साम्प्रदायिक झगड़ों एवं द्वन्द्वों से आत्मदर्शन के कारण मुक्त हो जाता है। इसी अवस्था में—

"तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति" [गी० ६।३०]

भगवत्-स्ववचनानुसार वह कृष्ण का आलिंगन करता और कृष्ण उसका आलिंगन करते; ऐसे *कृष्णानन्द को प्राप्तकर*, प्रेमाभक्ति से युक्त होकर, प्रेम की मूर्ति बनकर कभी हँसता, कभी रोता, कभी नाम-गुणों का कीर्तन करता, कभी अपने प्रभु को रिझाने के लिए नृत्य करता हुआ तन्मयता को प्राप्त होकर प्रगाढ़ावेश के कारण

"कृष्णोऽहम्"

'मैं कृष्ण हूँ' ऐसा कहने लगता है, कभी उसकी लीलाओं का अनुकरण करता और *कभी प्रभु की सन्निधि का अनुभव करता हुआ आनन्दातिरेक के* कारण अपनी सुधि बुधि खो बैठता है, मूर्च्छित हो जाता है और

"यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ॥"
[क० उ० २।३।१०]

का साक्षात् रूप बन जाता है; फिर प्रकृतिस्थ होनेपर कण-कण को प्रभु का रूप समझता हुआ उसको अपने सिर पर चढ़ाता, पलकों से आलिंगन करता तथा समाधिभाषा में प्रेमालाप करता हुआ, एकता को प्राप्तकर,

'रसो वै सः' [तै० उ० २।७]

इस श्रुति प्रसिद्ध रसस्वरूप ब्रह्म से रास करता हुआ, रोम-रोम को ब्रह्मानन्द का अनुभव कराता हुआ,

'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा'
[छा० उ० ७।२४।१]

उस अनन्त रसस्वरूप सच्चिदानन्दघन श्री कृष्णचन्द्र को सर्वत्र सब रूपों में देखता, सुनता, समझता एवं स्पर्श करता हुआ श्रीमद्भागवत के रासलीला के चिन्मयत्व का अनुभव कर दिव्यत्व को प्राप्त हो, अपने को भी रस ही समझ-कर सर्वत्र अपने को देखता हुआ, निरतिशयानन्द, अद्वयानन्द भूमानन्द को प्राप्त करता है। इसी अवस्था में उसे यह अनुभव होता है कि रासलीला नित्य-निरन्तर हो रही है; क्योंकि प्रेमी, प्रेमास्पद और प्रेम—ये तीनों नित्य हैं। यह वाणी का विषय नहीं है, इसका अनुभव तो केवल इस कोटि का कोई विरला महात्मा ही कर सकता है। इसीलिये ऊपर यह कहा गया है कि गीता उपनिषदों से भी अधिक सरस और मधुर है, वैसे ही जैसे आम का फल आम के वृक्ष से अतिशय मधुर और प्रिय होता है। इसके संबन्ध में स्वयं भगवान् ने अनुगीता में कहा है :—

'स हि धर्मो सुपर्याप्तो ब्रह्मणः पदवेदने'

ब्रह्म-पद की प्राप्ति के लिए यह गीतोक्त ज्ञान ही सुसमर्थ है। इसलिये गीताशास्त्र का ही एकमेव आश्रय प्रयत्नपूर्वक करना चाहिये, क्योंकि :—

'सर्वशास्त्रमयीगीता' [वा० पु०]
'सर्ववेदमयीगीता' [वा० पु०]

गीता सर्ववेदशास्त्रमयी है। जिसने गीता को जाना, उसने सारे वेद-शास्त्रों को जान लिया, वह सर्ववित् हो गया। यह राजविद्या, राजगुह्य एवं परमपावन शास्त्र है, इसको जानकर मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है।

मुझे आज

'मूकं करोति वाचालम्'

का थोड़ा सा आभास हृदयेश्वर श्री कृष्णचन्द्र की दया से मिला, क्योंकि मैं मूक था अब बोलने लगा।

मैं विद्याशून्य दीन-हीन एवं महान् पतित हूँ। महात्मा सूरदास आदि ने जो यह कहा कि—

'प्रभु मैं सब पतितन को राजा'

यह उनकी अतिशयोक्ति ही है, ऐसे पतित तो वे नहीं थे; परन्तु मैं तो दावे के साथ कहता हूँ कि मुझ जैसा पतित—

'न भूतो न भविष्यति'

न तो कोई भूत में हुआ और न तो भविष्य में होगा ही। यद्यपि यह शरीर

समाज के बीच में रहा और समाज ने सदाचारी समझा, परन्तु अपने गुप्त दोषों को तो मैं ही जानता हूँ कि मैं कितना बड़ा पातकी था, फिर भी मैंने ऐसी अवस्था में भगवान् की पतितपावनता का अनुभव किया। कौन ऐसा विषयी पुरुष है जो संसार अर्थात् स्त्री-पुत्रादि को छोड़ना चाहता है? परन्तु इस अहैतुक दयालु ने मुझ विषयासक्त पर, जिसको कि कल्याण के किसी भी साधन का बोध नहीं था, दया की। सुषुप्ति-मोहनिद्रा से हठात् जगाया। मैं चाहता नहीं था कि छलिया के फन्दे में पड़ूँ; क्योंकि मैं अत्यधिक विषयी तथा शिश्नोदरपरायण था। केवल एक मन्दिर में तीन वर्ष ठहरने का अवसर प्राप्त था; बस इसी निमित्त को पाकर उसने स्वप्न में बारम्बार दर्शन देकर अपनी रूपमाधुरी के द्वारा मुझे हठात् आकृष्ट किया; क्योंकि वह कृष्ण ही ठहरा। भला, किसकी शक्ति है कि जो उसकी रूप माधुरी को स्वप्न में भी देखकर उसके पीछे दीवाना न हो जाय; लोक, कुल, कानि, धर्म एवं मर्यादा का परित्याग न कर दे। कहाँ तक कहूँ, उस दयालु की मुझ पर इतनी बड़ी दया थी कि वह स्वप्नावस्था में बार-बार आता, मुझे हठात् अपनी रूपमाधुरी का दर्शन कराता और भजन तथा कीर्तन के लिये आदेश देता। इस प्रकार स्वप्नावस्था की रूपमाधुरी के दर्शन के संस्कारों से जाग्रदवस्था में भी हा कृष्ण! हा कृष्ण!! कहता हुआ सात-सात, आठ-आठ घंटे तक प्रेम विशेष के कारण करुण-क्रन्दन करता, चीत्कार मचाता तथा अपने को भूल जाता। जिसके फलस्वरूप मुझे वैराग्य, समता, शान्ति भगवत्प्रीति तथा उसकी अनुभूति की झाँकी मिली; जिससे सांसारिक मोह-माया नष्ट हो गई। बस, मैं बाध्य हो गया उसकी शरण के लिये यह कहता हुआ—

'कं वा दयालुं शरणं व्रजेम' [श्री० भा० ३।२।२३]

मैं दौड़ पड़ा। दौड़ते ही उसकी भक्त-वत्सलता फूट पड़ी। उस पतित-पावन करुणा-वरुणालय ने, 'जो मेरा गुरु, आत्मा, ईश्वर और जीवनसर्वस्व है' आवाज दी—

'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' [गी० १८।६६]

आवाज सुनते ही मैं पागल हो गया, अपने को निछावर कर दिया। वह आवाज क्या थी? अमृत से भी अधिक मधुर वह चैतन्य कृष्ण ही तो

॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥

कृष्णाय वासुदेवाय देवकीनन्दनाय च । नन्दगोपकुमाराय गोविन्दाय नमो नमः ॥

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देव देव ॥

ऐ मेरे प्रेमपूर्ण हृदय के स्वामिन् ! ऐ मेरी अहैतुक दयामयी माँ ! ऐ मेरे समदर्शी पिता ! ऐ मेरे नित्य सखा ! ऐ मेरी सर्वज्ञस्वरूपा अध्यात्म-विद्या ! ऐ मुझ कंगाल के चैतन्य-चिन्तामणी ! ऐ मेरे जीवनसर्वस्व ! देवदेवेश्वर ! आप को सहस्रशः आगे से, पीछे से, दायें से, बायें से तथा सर्व ओर से नमस्कार है । गुरुवर्य ! अब मुझे वह विशुद्ध बुद्धि प्रदान कीजिये जिससे श्री गीता का मुक्त कण्ठ से गान करता-करता पागल बन जाऊँ, संसार को भूल जाऊँ, संसार मुझे भूल जाय, आपही को देखता रहूँ, केवल आपसे ही रति हो, प्रीति हो, आप ही मेरे जीवनसर्वस्व हों । मैं सदैव आप के ही प्रेम में मस्त रहूँ, आप से ही हँसूँ, बोलूँ और क्रीड़ा करूँ और आप सच्चिदानन्दघन वासुदेव के आनन्द से ही सदा आनन्दित—परिपूर्ण रहूँ । नाथ ! मेरी कर्तृत्व-भोक्तृत्व बुद्धि सदा के लिये शान्त हो जाय । प्यारे ! मैं तो मोक्ष भी नहीं चाहता, केवल विशुद्ध प्रेम—अहैतुक प्रेम ही चाहता हूँ; क्योंकि मोक्ष की कामना से युक्त होने पर वह प्रेमाद्वैत लुप्त हो जाता है जो अमृत से भी अधिक मधुर है । वस्तुतः कामनाशून्यता ही प्रेम की श्री गणेशावस्था है । इसी प्रेम की शुक सनकादि एवं नारदादिकों ने समाधिस्थ होने के पश्चात् भी याचना की थी । जैसा कि श्री सद्भागवत में कहा गया है—

"आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूत गुणो हरिः ॥" [श्री. भा. १।७।१०]

वस्तुतः आत्माराम होने पर ही भगवान् का रहस्य समझ में आता है । इसीलिये महात्मा भगवान् के चरित्रों में विशेषासक्ति को प्राप्त करते हैं ।

बस, परमात्मन् ! मेरी इतनी ही प्रार्थना है । यह आप का कोर-कृपा-कटाक्ष [मनोरंजन] होगा और मैं कृतकृत्य हो जाऊँगा ॥ इति ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

आपका अबोध बालक
स्वतन्त्रानन्द

॥ ॐ ॥

सांकेतिक चिह्नों का स्पष्टीकरण

संख्या	संकेत	स्पष्ट
१	ई० उ०	ईशावास्योपनिषद्
२	के० उ०	केनोपनिषद्
३	क० उ०	कठोपनिषद्
४	मु० उ०	मुण्डकोपनिषद्
५	मा० उ०	माण्डूक्योपनिषद्
६	तै० उ०	तैत्तिरीयोपनिषद्
७	छा० उ०	छान्दोग्योपनिषद्
८	बृ० उ०	बृहदारण्यकोपनिषद्
९	श्वे० उ०	श्वेताश्वतरोपनिषद्
१०	ब्र० बिन्दु उ०	ब्रह्मबिन्दूपनिषद्
११	कै० उ०	कैवल्योपनिषद्
१२	जा० उ०	जाबालोपनिषद्
१३	म० ना० उ०	महानारायणोपनिषद्
१४	प० उ०	परमहंसोपनिषद्
१५	अ० ना० उ०	अमृतनादोपनिषद्
१६	अ० शि० उ०	अथर्वशिरउपनिषद्
१७	मैत्रा० उ०	मैत्रायण्युपनिषद्
१८	नृ० पू० उ०	नृसिंहपूर्वतापनीयोपनिषद्
१९	नृ० उ० उ०	नृसिंहोत्तरतापनीयोपनिषद्
२०	मैत्रे० उ०	मैत्रेय्युपनिषद्
२१	सु० उ०	सुबालोपनिषद्
२२	क्षु० उ०	क्षुरिकोपनिषद्
२३	नि० उ०	निरालम्बोपनिषद्
२४	शु० र० उ०	शुकरहस्योपनिषद्
२५	ते० बि० उ०	तेजोबिन्दूपनिषद्

संख्या	संकेत	स्पष्ट
२६	ना० वि० उ०	नादविन्दूपनिषद्
२७	ब्र० वि० उ०	ब्रह्मविद्योपनिषद्
२८	यो० त० उ०	योगतत्त्वोपनिषद्
२६	आ० प्र० उ०	आत्मप्रबोधोपनिषद्
३०	ना० प० उ०	नारदपरिव्राजकोपनिषद्
३१	त्रि० ब्रा० उ०	त्रिशिखब्राह्मणोपनिषद्
३२	म० ब्रा० उ०	मण्डलब्राह्मणोपनिषद्
३३	श० उ०	शरभोपनिषद्
३४	स्क० उ०	स्कन्दोपनिषद्
३५	त्रि० म० उ०	त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषद्
३६	वा० उ०	वासुदेवोपनिषद्
३७	मुद्ग० उ०	मुद्गलोपनिषद्
३८	शा० उ०	शाण्डिल्योपनिषद्
३६	पै० उ०	पैङ्गलोपनिषद्
४०	भि० उ०	भिक्षुकोपनिषद्
४१	म० उ०	महोपनिषद्
४२	शारी० उ०	शारीरकोपनिषद्
४३	यो० शि० उ०	योगशिखोपनिषद्
४४	सं० उ०	संन्यासोपनिषद्
४५	अन्न० उ०	अन्नपूर्णोपनिषद्
४६	अक्षि उ०	अक्ष्युपनिषद्
४७	अ० उ०	अध्यात्मोपनिषद्
४८	कु० उ०	कुण्डिकोपनिषद्
४६	आ० उ०	आत्मोपनिषद्
५०	पा० ब्र० उ०	पाशुपतब्रह्मोपनिषद्
५१	अव० उ०	अवधूतोपनिषद्
५२	त्रि० ता० उ०	त्रिपुरातापिन्युपनिषद्
५३	क० रु० उ०,	कठरुद्रोपनिषद्
५४	रु० हृ० उ०	रुद्रहृदयोपनिषद्
५५	भीजा० उ०	भीजाबालदर्शनोपनिषद्

संख्या	संकेत	स्पष्ट
५६	प० ब्र० उ०	पञ्चब्रह्मोपनिषद्
५७	गो० पू० उ०	गोपालपूर्वतापिन्युपनिषद्
५८	गो० उ० उ०	गोपालोत्तरतापिन्युपनिषद्
५६	कृ० उ०	कृष्णोपनिषद्
६०	या० उ०	याज्ञवल्क्योपनिषद्
६१	व० उ०	वराहोपनिषद्
६२	शाट्य० उ०	शाट्यायनीयोपनिषद्
६३	कलि० उ०	कलिसंतरणोपनिषद्
६४	स० र० उ०	सरस्वतीरहस्योपनिषद्
६५	ग० उ० उ०	गणेशोत्तरतापिन्युपनिषद्
६६	ना० उ०	नारायणोपनिषद्
६७	मुक्ति० उ०	मुक्तिकोपनिषद्
६८	ऋ० सं०	ऋग्वेद संहिता
६६	तै० सं०	तैत्तिरीय संहिता
७०	ब्र० सं०	ब्रह्म संहिता
७१	तै० आर०	तैत्तिरीय आरण्यक
७२	माण्डू० का०	माण्डूक्य कारिका
७३	ब्र० सू०	ब्रह्मसूत्र
७४	यो० सू०	योग सूत्र
७५	महा० शा०	महाभारत शान्तिपर्व
७६	महा० स्त्री०	महाभारत स्त्रीपर्व
७७	अ० स्मृ०	अत्रि स्मृति
७८	वि० स्मृ०	विष्णु स्मृति
७६	हा० स्मृ०	हारीतस्मृति
८०	पा० स्मृ०	पाराशर स्मृति
८१	शं० स्मृ०	शंख स्मृति
८२	द० स्मृ०	दक्ष स्मृति
८३	व० स्मृ०	वशिष्ठ स्मृति
८४	या० स्मृ०	याज्ञवल्क्य स्मृति
८५	म० स्मृ०	मनुस्मृति

संख्या	संकेत	स्पष्ट
८६	गौ० स्मृ०	गौतम स्मृति
८७	श्री० भा०	श्रीमद्भागवत महापुराण
८८	श्री० भा० मा०	श्रीमद्भागवत महापुराण माहात्म्य
८६	वि० पु०	विष्णु पुराण
६०	ब्र० वै० पु०	ब्रह्मवैवर्त पुराण
६१	ग० पु०	गरुड़ पुराण
६२	वा० पु०	वाराह पुराण
६३	लि० पु०	लिंग पुराण
६४	ब्र० पु०	ब्रह्म पुराण
६५	स्क० पु०	स्कन्द पुराण
६६	वृ० नारद०	वृहन्नारदीय पुराण
६७	ना० भ० सू०	नारद भक्ति सूत्र
६८	शा० भ० सू०	शाण्डिल्य भक्ति सूत्र

नोट

१—प्रमाण में आये हुए जिन पदों का अर्थ टिप्पणी में एक बार कर दिया गया है, उनका पुनः अर्थ नहीं किया गया है।

२—जिन श्रुति आदि के मन्त्र बहुत सरल एवं सुस्पष्ट है, उनकी टिप्पणी नहीं दी गई है।

३—जिन पदों का भावार्थ या शब्दार्थ लेख में आ गया है, उनकी भी टिप्पणी नहीं दी गई है।

पहला अध्याय

अर्जुन विषाद योग

॥ ॐ ॥

॥ श्री गणेशाय नमः ॥

पहला अध्याय

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय॥ १ ॥

महर्षि वेदव्यास से दिव्यचक्षु तथा श्रोत्र को प्राप्त संजय से युद्ध के समाचार को पाने के लिये धृतराष्ट्र बोले—हे संजय!

'इदं वै कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं
सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम्' [जा० उ० १।१]

जो कुरुक्षेत्र सब देवताओं का देवयजन और संपूर्ण प्राणियों का ब्रह्मधाम है, उस धर्मक्षेत्र—कुरुक्षेत्र में युद्ध की इच्छा से इकट्ठे हुए मेरे और पाडु के पुत्रों ने क्या किया? कहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि पुण्यभूमि—तीर्थ के प्रभाव से अर्जुन की बुद्धि युद्ध से उपरत हो गई? अथवा कहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि दुर्योधन सन्धि के लिये उद्यत हो गया? इसलिये हे संजय! मुझे शीघ्र बतलाओ कि उस पुण्य भूमि कुरुक्षेत्र में मेरे और पाण्डु के पुत्रों की सेनाओं ने क्या किया? इस प्रकार अपने पुत्रों की विजय चाहने वाले धृतराष्ट्र ने युद्ध का समाचार राग-द्वेषादि दोषों को संयम में रखने वाले संजय से पूछा ॥ १ ॥

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत्॥ २ ॥

इस पर संजय बोला—हे राजन्! उस समय राजा दुर्योधन व्यूह-रचनायुक्त पांडवों की सेना को देखकर धनुर्विद्या-विशारद गुरु द्रोणाचार्य के पास जाकर कहने लगा ॥ २ ॥

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥

हे आचार्य! आप अपने बुद्धिमान शिष्य द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न के द्वारा व्यूहाकार खड़ी की गई पाण्डवों की इस सात अक्षौहिणी महती सेना को देखिये ॥ ३ ॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥ ५ ॥

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

इस सेना में बड़े-बड़े धनुर्धर युद्ध में भीम और अर्जुन के समान बहुत से शूरवीर युयुधान-सात्यकि, विराट तथा—

"एको दशसहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम्।
शस्त्रास्त्रप्रवीणश्च महारथ इति स्मृतः ॥"

अकेले ही दस हजार धनुर्धरों से युद्ध करने में समर्थ और शस्त्रास्त्र में प्रवीण महारथी द्रुपद, धृष्टकेतु, चेकितान तथा बलवान् काशिराज, पुरजित, कुन्तिभोज और मनुष्यों में श्रेष्ठ शैब्य, महापराक्रमी युधामन्यु, बलवान् उत्तमौजा, सुभद्रापुत्र अभिमन्यु और द्रौपदी के पाँचों पुत्र—ये सभी महारथी है ॥ ४, ५, ६ ॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥

हे ब्राह्मण श्रेष्ठ! हमारे पक्ष के भी जो जो प्रधान हैं; उनको आप समझ लीजिये। आपकी जानकारी के लिये मैं उनके नाम बतलाता हूँ, जो कि मेरी सेना के सेनापति हैं ॥ ७ ॥

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥

आप स्वयं भीष्मपितामह, कर्ण, संग्रामविजयी कृपाचार्य तथा वैसे ही अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्त का पुत्र भूरिश्रवा ॥ ८ ॥

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥

इसके अतिरिक्त शल्य; कृतवर्मा आदि और भी बहुत से शूरवीर मेरे लिये युद्ध में प्राण देने के लिये तैयार हैं; जो कि नाना प्रकार के शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित सबके सब युद्धकला में कुशल हैं ॥ ९ ॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ १० ॥

महापुरुष भीष्मपितामह के द्वारा सुरक्षित हमारी यह ग्यारह अक्षौहिणी की अपार सेना सब प्रकार से अजेय है और दुर्बल भीम द्वारा सुरक्षित इन पांडवों की यह सात अक्षौहिणी की न्यून सेना जेय—जीतने में सुगम है। अथवा हमारे सेनानायक भीष्मपितामह दोनों सेनाओं से समान सहानुभूति रखते हैं, इसलिये हम लोगों की सेना पांडवों की सेना को जीतने में अपर्याप्त—अपूर्ण है अर्थात् समर्थ नहीं है। तथा भीम केवल अपनी ही सेना से सहानुभूति रखनेवाले है, इसलिये इनकी सेना हम लोगों की सेना को जीतने में पर्याप्त—पूर्ण समर्थ है ॥ १० ॥

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥ ११ ॥

इसलिये आप लोग सबके सब सभी प्रवेशमार्गों—मोर्चों पर अपने स्थानों पर स्थित हुये केवल भीष्मपितामह की सब ओर से रक्षा करें ॥११॥

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥ १२ ॥

इस प्रकार दुर्योधन के वचनों को सुनकर कौरवों में वृद्ध महाप्रतापी भीष्मपितामह ने दुर्योधन के हृदय में हर्ष उत्पन्न करते हुए, उच्च स्वर से सिंह के समान गर्जकर अपना शंख बजाया ॥ १२ ॥

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानक गोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ १३ ॥

तत्पश्चात् सहसा साथ ही शंख, नगारे, ढोल, मृदंग और रणसिंगा आदि बाजे बजे, उनका वह शब्द बड़ा भयंकर हुआ ॥ १३ ॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यंदने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥

तदन्तर श्वेत घोड़ों से युक्त महान् रथ पर विराजमान पीताम्बरधारी भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन ने भी अपने अपने अलौकिक शंख बजाये ॥१४॥

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥ १५ ॥

हृषीकेश भगवान् श्री कृष्ण ने पाञ्चजन्य नामक और अर्जुन ने देवदत्त नामक शंख बजाया तथा भयानक कर्म करनेवाले भीमसेन ने पौण्ड्र नामक अपना महाशंख बजाया ॥ १५ ॥

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणि पुष्पकौ ॥ १६ ॥
काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥ १७ ॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक् पृथक् ॥ १८ ॥

कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्तविजय नामक शंख बजाया, नकुल ने सुघोष और सहदेव ने मणिपुष्पक नामक शंख बजाया।

हे पृथ्वीपते ! इसके अतिरिक्त महाधनुर्धर काशिराज, महारथी शिखंडी, धृष्टद्युम्न, विराट, अजेय सात्यकि, द्रुपद और द्रौपदी के पाँचों पुत्र तथा महाबाहु सुभद्रापुत्र अभिमन्यु—इन सबने भी सब ओर से अलग अलग शंख बजाये ॥ १६, १७, १८ ॥

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥ १९ ॥

वह प्रलय काल के समान महान् भयंकर शब्द आकाश और पृथ्वी को गुंजायमान करता हुआ आपके दुर्योधनादि सभी पुत्रों के हृदय को विदीर्ण करने लगा ॥ १९ ॥

अथव्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥ २० ॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ २१ ॥
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥ २२ ॥

हे पृथ्वीपते ! इसके अनन्तर ठीक शस्त्र चलने की तैयारी के समय युद्ध के लिये सुसज्जित धृतराष्ट्र पुत्रों को देखकर कपिध्वज अर्जुन ने धनुष उठाकर हृषीकेश भगवान् श्री कृष्ण से यह वचन कहा कि हे अच्युत ! सर्वदा एक रस रहनेवाले निर्विकार परमात्मन् ! आप मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा कीजिये, जहाँ से मैं युद्ध की इच्छा से सावधान कर खड़े हुये इन योद्धाओं को अच्छी प्रकार देख सकूँ कि इस रणक्षेत्र में मुझे किन किन के साथ युद्ध करना योग्य है ॥ २०, २१, २२ ॥

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥

दुर्बुद्धि अधर्मी दुर्योधन का युद्ध में कल्याण चाहनेवाले जो जो ये भीष्म द्रोणाचार्य तथा अन्य राजा लोग इस सेना में आये हैं; उन युद्ध करनेवालों को मैं भली प्रकार देखूँ ॥ २३ ॥

संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ २४ ॥
भीष्मद्रोण प्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥ २५ ॥

संजय बोला—हे भारत ! निद्राविजयी अर्जुन के इस प्रकार कहने पर सर्वशक्तिमान् संपूर्ण ब्रह्माण्ड के शासक, विश्व की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय के एकमात्र कारण, अन्तर्यामी, भक्तवत्सल भगवान् श्री कृष्णचन्द्र जो कि अर्जुन के प्रेमाधीन होकर सारथि बने हुए हैं' उसके उस उत्तम रथ को

दोनों सेनाओं के बीच में भीष्म, द्रोणाचार्य तथा अन्य सब राजाओं के सामने खड़ा करके बोले—हे पार्थ ! इन इकट्ठे हुये कौरवों को देख ॥२४–२५॥

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥ २६ ॥
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥ २७ ॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

उसके उपरान्त पृथापुत्र अर्जुन ने उन दोनों सेनाओं में खड़े हुए अपने ताऊ-चाचों को, पितामहों को, आचार्यों को, मामों को, भाइयों को, पुत्रों को, पौत्रों को, मित्रों को, श्वसुरों को और सुहृदों को देखा। उन खड़े हुये संपूर्ण बन्धु-बान्धवों को देखकर वह अत्यन्त करुणा से युक्त हुआ कुन्तीपुत्र अर्जुन शोक करता हुआ इस प्रकार कहने लगा ॥ २६–२७ ॥

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥ २८ ॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ २९ ॥

अर्जुन बोला हे कृष्ण ! इस युद्ध की इच्छा से खड़े स्वजन समुदाय को देखकर मेरे हाथ पैर आदि सब अंग शिथिल हुये जा रहे हैं, मुख सूखा जा रहा है तथा मेरे शरीर में कम्प और रोमाञ्च हो रहा है ॥ २८–२९ ॥

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ ३० ॥

तथा हाथ से गाण्डीव धनुष गिरता जा रहा है और त्वचा बहुत जल रही है, साथ ही मेरा मन भ्रमित सा हो रहा है, इसलिये मैं खड़ा होने में भी असमर्थ हो रहा हूँ ॥ ३० ॥

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१ ॥

हे केशव ! इसके सिवा और भी सब लक्षणों को विपरीत ही देख रहा हूँ तथा युद्ध में अपने कुल को मारकर कल्याण भी नहीं देखता ॥ ३१ ॥

न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥ ३२ ॥
येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥ ३३ ॥
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबन्धिनस्तथा ॥ ३४ ॥

हे श्री कृष्ण ! मैं न विजय ही चाहता हूँ और न राज्य या विषय-सुखों को ही चाहता हूँ। हे गोविन्द ! धर्माधर्म के विवेक-विज्ञान से युक्त हमें राज्य, भोग अथवा जीवन से भी क्या प्रयोजन है ? हमारे लिये तो राज्य और भोग की अपेक्षा से रहित वन का जीवन ही श्रेष्ठ है, हमें इन सांसारिक तुच्छ भोगों से कोई प्रयोजन नहीं है, हमें जिनके लिये राज्य, भोग और सुखों की आवश्यकता है, वे ही ये गुरुजन, पितामह, पिता, पुत्र, पौत्र, मामा, श्वसुर, श्याले तथा अन्यान्य सम्बन्धीगण प्राण और धन का परित्याग करके युद्ध में खड़े हैं ॥ ३२, ३३, ३४ ॥

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराजस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥ ३५ ॥

हे मधुसूदन ! इनके द्वारा मारे जाने पर भी अथवा तीनों लोकों के राज्य के लिये भी मैं इन सब आचार्य आदि सम्बन्धियों को मारना नहीं चाहता; तो फिर पृथ्वी के लिये कहना ही क्या ? तात्पर्य यह है कि मुझे ये विनाशशील लोक-लोकान्तर नहीं चाहिये ॥ ३५ ॥

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६ ॥
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ ३७ ॥

हे जनार्दन ! अपने संबन्धी धृतराष्ट्रपुत्रों को मारने से हमें क्या प्रसन्नता होगी ? यद्यपि—

'अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ।
क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते आततायिनः ॥'
[व० स्मृ० ३।१५]

'आततायिनमायान्तं हन्यादेवाऽविचारयन्।
नाऽऽततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन॥'
[म० स्मृ० ८।३५०, ३५१]

अग्नि देनेवाला, विष देनेवाला, शस्त्रपाणि—हाथ में शस्त्र उठाया हुआ, धनहर्ता तथा क्षेत्र और स्त्री का अपहरण करनेवाला—ये छः आततायी हैं। आये हुए आततायी को बिना विचार के ही मार दे। आततायी के वध से मारनेवाले को दोष नहीं होता—इस नियमानुसार इन आततायियों को वध करने में कोई दोष नहीं है; फिर भी—

'न हिंस्यात्सर्वाभूतानि' [श्रुति]
'स एव पापिष्ठतमो यः कुर्यात्कुलनाशनम्'
'अर्थशास्त्रात्तु बलवद्धर्मशास्त्रमिति स्थितिः
[या० स्मृ० २।२।२१]

'सर्वभूत प्राणियों की हिंसा न करे' 'वह महान् पातकी है जो कुल का नाश करता है' 'अर्थशास्त्र से धर्मशास्त्र बलवान् है, ऐसा सिद्धान्त है'—इस न्याय से इस धर्मशास्त्रानुसार इन आततायियों के हनन से भी हमें केवल पाप ही लगेगा। इसलिये हे माधव! अपने कुटुम्बी धृतराष्ट्रपुत्रों को मारना हमें उचित नहीं है। भला, अपने कुटुम्ब को मार करके हम कैसे सुखी होंगे? क्योंकि स्वजनों के सुख के लिये ही मनुष्य सारा व्यापार करता है॥ ३६, ३७॥

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहत चेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्॥ ३८॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन॥ ३९॥

यद्यपि राज्य लोभ के कारण जिनका विवेक भ्रष्ट हो गया है, ऐसे ये दुरात्मा दुर्योधनादि लोग कुल नाशजनित दोष को और मित्र द्रोह-विश्वास-घात से उत्पन्न पाप को नहीं देख रहे हैं, क्योंकि—

'किमकार्यं दुरात्मनाम्'

दुरात्माओं के लिये कुछ भी अकरणीय नहीं है, परन्तु फिर भी हे जनार्दन! कुलनाशजन्यदोष को भलीभांति जाननेवाले हम धर्मज्ञों को इस पाप से बचने का उपाय क्यों नहीं विचार करना चाहिये॥ ३८, ३९॥

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४० ॥
अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥ ४१ ॥
संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥ ४२ ॥
दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥ ४३ ॥
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४४ ॥

क्योंकि कुल का नाश होने से अर्थात् सत्पुरुषों का अभाव होने से सनातन परम्परा से प्राप्त कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं और धर्म का नाश होने से संपूर्ण कुल को अधर्म—पापाचार स्वेच्छाचार के कारण दबा लेता है। हे कृष्ण! इस प्रकार अधर्माचार के अधिक बढ़ जाने पर कुल की स्त्रियाँ स्वच्छन्द होने के कारण पर पुरुषों के संग से दूषित हो जाती हैं, और हे वार्ष्णेय! स्त्रियों के दूषित हो जाने पर उस कुल में वर्णसंकर उत्पन्न होता है और वह वर्णसंकर उन कुलघातियों को तथा कुल को नरक में डालनेवाला होता है; क्योंकि उनके कुल में पिण्ड और जलदान की क्रिया नष्ट हो जाने के कारण उनके पितर स्वर्ग से पतित हो जाते हैं। इस प्रकार उन कुलघातियों के इन वर्णसंकरकारक दोषों के कारण स्वर्गापवर्ग प्रदान करने वाले वैदिक-सनातन कुलधर्म, जातिधर्म, वर्णधर्म और आश्रमधर्म सर्वथा नष्ट हो जाते हैं। हे जनार्दन! जिनके कुलधर्म, जातिधर्म, वर्णधर्म और आश्रमधर्म नष्ट हो चुके हैं, ऐसे मनुष्यों का अवश्य ही अनन्तकाल तक नरक में वास होता है, ऐसा हमने महर्षियों से सुना है। जैसा कि कहा भी गया है कि—

'प्रायश्चित्तमकुर्वाणाः पापेषु निरता नराः।
अपश्चात्तापिनः कष्टान्निरयान्यान्ति दारुणान् ॥'

प्रायश्चित अथवा पश्चात्ताप न करनेवाले पाप में निरत पुरुष कष्टप्रद, दारुण, महाभयंकर रौरवादि नरकों को प्राप्त होते हैं ॥ ४०—४४ ॥

अहोबत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४५ ॥

महान् आश्चर्य और बड़े खेद की बात है कि हम लोगों ने बुद्धिमान् होते हुए भी महान् पाप करने का निश्चय कर लिया है, जो कि इस राज्य सुख के लोभ से अपने कुटुम्ब का नाश करने के लिये उद्यत हुए हैं ॥ ४५ ॥

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४६ ॥

यदि मुझ शस्त्ररहित और प्रायश्चार्थ भी प्रतिकार न करनेवाले को ये शस्त्रधारी धृतराष्ट्र के पुत्र रण में मार डालें, तो वह भी मेरे लिये कुलनाश, दुर्योनि एवं दुष्कीर्ति आदि अनर्थ का हेतु न होने के कारण अति कल्याणकर ही होगा ॥ ४६ ॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ ४७ ॥

संजय बोला—शोक से संतप्त मनवाला अर्जुन रणभूमि में धर्माधर्म के विचार के कारण लोक-परलोक के सुख एवं जीवन की भी ममता से विरत हो बाण सहित धनुष का परित्याग करके 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' इस प्रकार *कहकर रथ के पिछले भाग में चुपचाप बैठ गया* ॥ ४७ ॥

॥ पहला अध्याय समाप्त ॥

दूसरा अध्याय

सांख्ययोग

॥ ॐ ॥

दूसरा अध्याय

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

संजय बोला—इस प्रकार करुणा-दया से युक्त आँसू भरे व्याकुल नेत्रों वाले तथा अत्यन्त विषादयुक्त शोक-मोहग्रस्त अर्जुन के प्रति जीवभाव का छेदन-भेदन करनेवाले भगवान् मधुसूदन ने यह वाक्य कहा ॥ १ ॥

श्री भगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

भगवान् शब्द की व्याख्या:—

'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः ।
वैराग्यस्याथ मोक्षस्य षण्णां भग इतीरणा ॥'
[वि० पु० ६।५।७४]

'उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम् ।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥'
[वि० पु० ६।५।७८]

ऐसे सर्वशक्तिमान् षडैश्वर्यसंपन्न आनन्दकन्द भगवान् बोले—हे अर्जुन ! तुझ विवेकबुद्धि सम्पन्न तथा सर्वश्रेष्ठ वीर को इस विषम स्थल—रणक्षेत्र में

---

१. संपूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश, लक्ष्मी, वैराग्य और मोक्ष—इन छः का नाम भग है, [यह ऐश्वर्यादि छहों गुण बिना प्रतिबन्ध के संपूर्णता से जिस वासुदेव में सदा रहते हैं] तथा उत्पत्ति और प्रलय का, भूतों के आने और जाने को जो जानता है, उसे भगवान् कहते हैं ।

यह मोह अर्थात् स्वधर्म के प्रति भ्रम किस कारण से उत्पन्न हो गया ? जो आर्य-पुरुषों से निन्दनीय, स्वर्ग तथा मोक्ष का विरोधी, नरक प्रदान करनेवाला तथा अपकीर्ति करनेवाला है ॥ २ ॥

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ ३ ॥

हे पार्थ ! तू नपुंसकता, कायरता को मत प्राप्त हो, यह तुम्हें शोभा नहीं देती, क्योंकि तू शंकर को भी युद्ध में तुष्ट करनेवाला, महान् वीर और धर्म के रहस्य को समझनेवाला है। इसलिये हे शत्रुओं को तपानेवाले अर्जुन ! तुम हृदय की क्षुद्र दुर्बलता—अधैर्य को त्यागकर अपनी तथा मेरी अनन्त शक्ति का स्मरण करके युद्ध के लिये उद्यत हो जाओ; क्योंकि यह धर्मयुद्ध स्वर्ग तथा मोक्ष का हेतु है ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥

अर्जुन ने कहा—हे मधुसूदन ! हे अरिसूदन ! आप ही बतलायें कि पूजा के योग्य—अत्यन्त पूजनीय इन भीष्मपितामह और गुरु द्रोणाचार्य से मैं किस प्रकार रणभूमि में बाणों से युद्ध करूँगा ? ॥ ४ ॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥

मैं इन महानुभाव—परम पूजनीय गुरुजनों को न मारकर अर्थात्

'अकृत्वा परसंतापमगत्वा खलमन्दिरम् ।
अक्लेशयित्वा चाऽऽत्मानं यदल्पमपि तद्बहु ॥'

दूसरों को पीड़ित न कर, दुष्टों के घर में न जाकर, अपने को क्लेश न देकर यदि थोड़ा भी हो तो वह भी बहुत है' इस शास्त्र वचनानुसार भिक्षान्न से जीवन व्यतीत करना श्रेष्ठ समझता हूँ; क्योंकि इन गुरुजनों को मारकर इस

संसार में केवल रुधिर से सने हुए अत्यन्त घृणित अर्थ और काम रूप भोगों को ही तो भोगूँगा ? ॥ ५ ॥

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम—
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥

तथा मैं यह भी नहीं जानता हूँ कि हमारे लिये क्या करना श्रेष्ठ है ? भिक्षान्न से जीवन व्यतीत करना अथवा युद्ध करना ? अथवा यह भी नहीं जानते कि इस युद्ध में हम जीतेंगे या वे हमको जीतेंगे। दूसरे, जिनको मारकर मैं जीना भी नहीं चाहता, वे ही ये हमारे बन्धु धृतराष्ट्र के पुत्र सामने खड़े हैं ॥ ६ ॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ ७ ॥

भगवन् ! मैं अनात्मबुद्धि के कारण कृपणता रूप दोष से युक्त भ्रान्त-बुद्धि हो गया हूँ, इसलिये मैं धर्म के विषय में मोहित चित्त हुआ आप सर्वज्ञ परमेश्वर से पूछता हूँ। अतः मेरे कल्याण का जो भी शास्त्रविहित साधन तथा शोक मोह का नाशक निश्चित मार्ग हो, उसे बतलाने की कृपा कीजिये, मैं आपका शिष्य हूँ—

'दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना'
[म० उ० ४।७७]

'आचार्यवान्पुरुषो वेद'[1] [छा० उ० ६।१४।२]

क्योंकि बिना सद्गुरु की कृपा के स्वरूपानन्द की प्राप्ति कठिन है, इसलिये मुझ शोक-मोहग्रस्त अनात्मवित् शरणागत शिष्य को शोक-मोह से मुक्त होने का उपदेश दीजिये ॥ ७ ॥

---

१. आचार्यवान् पुरुष ही [ब्रह्मतत्त्व] को जानता है।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्ध
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

क्योंकि पृथ्वी के निष्कंटक धन-धान्यसंपन्न राज्य को तथा देवताओं के स्वामित्व को प्राप्त करके भी मैं कोई ऐसा उपाय नहीं देखता हूँ कि जो मेरे इंद्रियों को सुखानेवाले शोक-मोह को दूर कर सके ॥ ८ ॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥ ९ ॥

संजय बोला—हे शत्रुतापन धृतराष्ट्र ! निद्राविजयी अर्जुन अन्तर्यामी भगवान् श्री कृष्ण से इस प्रकार कह चुकने के बाद पुनः गोविन्द भगवान् से स्पष्टरूप से यह कहकर कि हिंसा दुर्गति का ही हेतु है; इसलिये 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' चुप हो गया ॥ ९ ॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥ १० ॥

उसके उपरान्त हे भारत ! अन्तर्यामी सच्चिदानन्दघन आनन्दकन्द श्री कृष्णचन्द्र दोनों सेनाओं के बीच में शोक-मोहग्रस्त पंडिताभिमानी अर्जुन के पांडित्य का उपहास करते हुए करुणावश उस शरणागत शिष्य को—

'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः'[1] [ई० उ० ७]
शोक-मोह से मुक्त करने के लिये परमार्थ-निरूपिणी वाणी बोले ॥ १० ॥

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ ११ ॥

हे अर्जुन ! तू—

'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' [ई० उ० ७]
अशोच्य अद्वितीय जो परमार्थ सत्ता है, जिससे भिन्न अणुमात्र भी नहीं है—

---

१. उस आत्मतत्त्व में एकत्वदर्शी क्या शोक और क्या मोह ?

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन'[1] [नि० उ०]

जिसको तुम्हारे पूर्वज ऋषि-महर्षिगण—

'मत्वा धीरो न शोचति' [क० उ० १।२।२२]

जानकर शोक-मोह से मुक्त हो परमानन्द लाभ किये हैं; परन्तु आश्चर्य है कि तू उस अशोच्य अद्वितीय आत्मतत्व में ही द्वैत का आरोप करके—

'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेवपश्यति'[2]

[क० उ० २।१।१०]

'द्वितीयाद्वै भयं भवति'[3] [बृ० उ० १।४।२]

शोक-मोह को प्राप्त हो रहा है। भला, तू ही बता कि तेरा शोक-मोह अन्यत्र कहाँ दूर होगा? यदि सूर्य के सामने ही अन्धकार नष्ट नहीं हुआ तो फिर उसके नाश का अन्य उपाय ही क्या होगा?

देख! यह परमार्थतत्व प्रत्यक्ष है, क्योंकि नित्य सर्वगत है। जैसा श्रुति भी कहती है कि—

'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म'[4] [बृ० उ० ३।४।१]

'आकाशवत्सर्वगतश्च पूर्णः'[5] [श्रुति]

परन्तु तू अज्ञान के कारण असत् को सत् और सत् को असत् समझकर अकारण ही व्यथित हो रहा है, क्योंकि—

'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं[6]
विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं
मृत्तिकेत्येव सत्यम्' [छा० उ० ६।१।४]

---

१. यह सब कुछ ब्रह्म ही है, इसमें नानात्व किंचित् मात्र भी नहीं है।
२. वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है, जो इस अद्वितीय आत्मतत्व में नानात्व देखता है।
३. द्वैत दर्शन से निश्चित रूप से भय होता है।
४. जो साक्षात् अपरोक्ष है वह ब्रह्म है।
५. आत्मा आकाशवत् सर्वगत एवं पूर्ण है।
६. हे सोम्य! जिस प्रकार एक मृत्तिका के पिंड से संपूर्ण मृन्मय पदार्थों का ज्ञान हो जाता है कि विकार केवल वाचारम्भण नाममात्र है; सत्य केवल मृत्तिका ही है।

इस श्रुति वचनानुसार नाम-रूप वाचारम्भणमात्र है, सत्य परमात्मतत्त्व ही है।

'इदं प्रपञ्चं नास्त्येव नोत्पन्नं नोस्थितं क्वचित्'[1]
[तै० वि० उ० ५।३१]

'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'[2] [श्रुति]

तब ऐसी अवस्था में जब कि विश्व की त्रिकाल में सत्ता ही नहीं है, तो फिर यह कौरव-पांडव-दल कहाँ से आया ? और फिर तेरा यह प्रलाप कितना असंगत एवं उन्मत्तवत् है कि मैं इन संबन्धियों तथा पूज्यों को नहीं मारूँगा। अरे भाई, मरनेवाली कोई वस्तु ही नहीं है, जिसको तू मारेगा और न तो कोई मारनेवाला ही है। जैसा कि श्रुति भी कहती है:—

'हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम् ।[3]
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥'
[क० उ० १।२।१६]

केवल अधिष्ठानस्वरूप सत् एक अद्वैत सत्ता ही सर्वत्र स्थित है।

'उपादानं प्रपञ्चस्य ब्रह्मणोऽन्यन्न विद्यते।[4]
तस्मात्सर्वं प्रपञ्चोऽयं ब्रह्मैवास्तिन चेतरत् ॥'
[यो० शि० उ० ४।३]

तो भला उसका नाश कौन और कैसे कर सकता है ? यदि तू ऐसा ही कहे कि ये भूतवर्ग जन्मते और मरते दिखाई देते हैं तो फिर मैं इनके शोक मोह से कैसे मुक्त हो सकता हूँ ? तो सुन—

---

१. यह दृश्य प्रपञ्च त्रिकाल में भी नहीं है, यह न कभी उत्पन्न हुआ और न स्थित ही है।

२. ब्रह्म सत्य और जगत् मिथ्या है।

३. यदि हन्ता आत्मा को मारने का विचार करता है और मारा जाने वाला उसे मारा हुआ मानता है तो वे दोनों ही उस आत्मतत्त्व को नहीं जानते, क्योंकि आत्मा न तो मारता है और न मारा ही जाता है।

४. इस प्रपंच का उपादान कारण ब्रह्म से भिन्न नहीं है। अतः यह सब प्रपंच भी ब्रह्म ही है उससे भिन्न नहीं।

यदि घट तथा कुंडल से मिट्टी और स्वर्ण निकाल लिये जाँय तो क्या घट और कुंडल की सत्ता शेष रहेगी ? इससे सिद्ध हुआ कि जैसे मृत्तिका में घट तथा स्वर्ण में कुंडल प्रतीतिमात्र है, वस्तुतः है नहीं, वैसे ही परमात्मतत्त्व में जगत् की केवल प्रतीतिमात्र है, वस्तुतः है नहीं। अब रहा प्रश्न मरने और मारने का; सो सुन—यदि दो घट आपस में टकरा दिये जायँ तो जब घड़े की सत्ता ही नहीं है, तो क्या टूटा ? और तोड़नेवाला कौन हुआ ? निर्विकार सत् मिट्टी ही ज्यों की त्यों अपने स्वरूप में स्थित रही, वैसे ही परमात्मतत्त्वरूपी मृत्तिका में जगत्‌रूपी घट बना हुआ है, इसलिये इन मिथ्या भूत प्राणियों के मरने-मारने का कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता। जैसा श्रुति भी कहती है:—

'तते ब्रह्मघने नित्ये संभवन्ति न कल्पिताः'[1]
[म० उ० ६।१३]

'अजकुक्षौ जगन्नास्ति ह्यात्मकुक्षौ जगन्नहि'[2]
[ते० बि० उ० ६।६६]

'नासतो विद्यते भावः'- [गी० २।१६]

क्योंकि अधिष्ठानस्वरूप एक अद्वितीय सद्घन, चिद्घन, आनन्दघन आत्म-सत्ता में अध्यस्त—कल्पित जगत् की सत्ता ही नहीं हो सकती।

अभिप्राय यह है कि इसका त्रिकाल में भी भाव नहीं है; तो फिर तेरी स्वर्ग-नरक और पितृ लोकादि की उलाहना तथा इनके हेतुभूत पाप-पुण्य कहाँ रहे ? तात्पर्य यह है कि इनकी सत्ता ही नहीं है, केवल भ्रान्ति से इनकी प्रतीति हो रही है। वस्तुतः कामुक द्वैतदर्शी पुरुषों के लिये ही लोक-लोकान्तर, पाप-पुण्य तथा जन्म-मृत्यु आदि हैं, परन्तु जो मनोजयी अभेददर्शी हैं उनके लिये इनका नितान्त अभाव है। ये केवल—

'आत्मैवेदं सर्वम्' [छा० उ० ७।२५।२]
'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' [बृ० उ० २।५।१]

---

१. नित्य, व्यापक, सद्घन, चिद्घन, आनन्दघन, ब्रह्म सत्ता में कल्पित नाम रूपात्मक विश्वप्रपंच उत्पन्न नहीं होता।

२. अजन्मा ब्रह्म की कुक्षि में जगत् नहीं है और आत्मा की कुक्षि में जगत् नहीं है।

मैं ही विश्व का स्रष्टा और विश्वरूप से सृष्ट भी हूँ एवं मैं ही रक्षक और रक्षित भी हूँ तथा मैं सर्वात्मा ही विश्व का संहर्ता और संहृत वस्तु भी हूँ। ऐसे ही श्रुति भी कहती है—

'पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।'
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥'[1]

[बृ० उ० ५।१।१]

अभिप्राय यह है कि—

'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति' [गी० ७।७]

'मुझसे भिन्न अणुमात्र भी नहीं है'

'कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः'[2]

[शु० र० उ० ३।१२]

ईश्वर और जीव का अन्तर कारण और कार्य की उपाधि से ही है परमार्थतः नहीं।

'एकः सन्भिद्यते भ्रान्त्या मायया न स्वरूपतः'[3]

[अन्न० उ० ५।७६]

परमात्मा एक होने पर भी भ्रान्ति से ही अनेक प्रतीत होता है, स्वरूपतः नहीं।

'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्व भूतान्तरात्मा।'

[श्वे० उ० ६।११]

एक ही देव सर्वभूतप्राणियों में गूढ़ रूप से स्थित, सर्वव्यापक और सर्वभूतान्तरात्मा है।

---

१. यह ब्रह्म पूर्ण है और यह विश्व भी पूर्ण है; क्योंकि पूर्ण से पूर्ण ही उत्पन्न होता है तथा प्रलयकाल में पूर्ण विश्व का पूर्णत्व लेकर पूर्ण ब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है।

२. यह जीव कार्य उपाधिवाला है और ईश्वर कारण उपाधि वाला है।

३. यह एक होते हुए भी मायाजन्य भ्रम के कारण भिन्न प्रतीत होता है, परमार्थतः उसमें कोई भेद नहीं।

'कालत्रयाबाधितं ब्रह्म' [त्रि० म० उ० १।१]

'ईशानो भूतभव्यस्य' [क० उ० २।१।१२]

'देशतः कालतो वस्तुतः परिच्छेदरहितं ब्रह्म' [त्रि० म० उ० १।१]

'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' [श्रुति]

मैं त्रिकालातीत, भूत, भविष्य एवं वर्तमान का शासक, देश, काल और वस्तु के परिच्छेद से रहित, आकाशवत् सर्वगत् एवं नित्य हूँ। इसलिये मैं सर्वदा सर्वकाल में सर्वत्र विद्यमान हूँ। यदि मैं नहीं होता, तो—

'कारणाभावे कार्याभावः'[1]

इस नियमानुसार कार्य-सृष्टि का अभाव हो जाता, परन्तु ऐसा है नहीं। क्योंकि—

'जन्माद्यस्य यतः' [ब्र० सू० १।१।२]

यः कारणानि निखिलानि तानि
कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः॥' [श्वे० उ० १।३]

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते॥ येन जातानि जीवन्ति॥[2]
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति॥' [तै० उ० ३।१]

'जिस ब्रह्म से इस संसार के जन्मादि होते हैं' 'जो परमात्मा अकेले ही काल से लेकर आत्मा पर्यन्त समस्त कारणों का अधिष्ठान है' ऐसा शास्त्रादेश है। अतएव मैं परमात्मा ही संपूर्ण ब्रह्मांड के उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय का अभिन्न निमित्तोपादान कारण हूँ अर्थात्

'आत्मैव तदिदं विश्वं सृज्यते सृजति प्रभुः।
त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वरः॥' [श्री० भा० ११।२८।६]

---

१. कारण के अभाव में कार्य का अभाव होता है।
२. जिससे ये भूत उत्पन्न होते हैं, जिससे उत्पन्न होकर जीते हैं और अन्त में विनाशोन्मुख होकर जिसमें प्रवेश कर जाते हैं।

मैं ही विश्व का स्रष्टा और विश्वरूप से सृष्ट भी हूँ एवं मैं ही रक्षक और रक्षित भी हूँ तथा मैं सर्वात्मा ही विश्व का संहर्ता और संहृत वस्तु भी हूँ। ऐसे ही श्रुति भी कहती है—

'पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥'[1]

[बृ० उ० ५।१।१]

अभिप्राय यह है कि—

'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति' [गी० ७।७]

'मुझसे भिन्न अणुमात्र भी नहीं है'

'कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः'[2]

[शु० र० उ० ३।१२]

ईश्वर और जीव का अन्तर कारण और कार्य की उपाधि से ही है परमार्थतः नहीं।

'एकः सन्भिद्यते भ्रान्त्या मायया न स्वरूपतः'[3]

[अन्न० उ० ५।७६]

परमात्मा एक होने पर भी भ्रान्ति से ही अनेक प्रतीत होता है, स्वरूपतः नहीं।

'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्व भूतान्तरात्मा।'

[श्वे० उ० ६।११]

एक ही देव सर्वभूतप्राणियों में गूढ़ रूप से स्थित, सर्वव्यापक और सर्वभूतान्तरात्मा है।

---

१. वह ब्रह्म पूर्ण है और यह विश्व भी पूर्ण है; क्योंकि पूर्ण से पूर्ण ही उत्पन्न होता है तथा प्रलयकाल में पूर्ण विश्व का पूर्णत्व लेकर पूर्ण ब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है।

२. यह जीव कार्य उपाधिवाला है और ईश्वर कारण उपाधि वाला है।

३. यह एक होते हुए भी मायाजन्य भ्रम के कारण भिन्न प्रतीत होता है, परमार्थतः उसमें कोई भेद नहीं।

'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' [गी० १५।७]
जीव मेरा सनातन अंश, नित्य एवं निर्विकार है; शरीर के नाश से इसका नाश नहीं होता। इसलिये भी तुझे शोक नहीं करना चाहिये ॥ १२ ॥

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ १३ ॥

जैसे देही—शरीरधारी आत्मा की अज्ञान से इस शरीर में कौमार, युवा और जरावस्था की प्रतीति होती है, वैसे ही मृत्यु भी शरीर की एक अवस्था है, आत्मा की नहीं। शरीर की इन अवस्थाओं के नाश से आत्मा का नाश नहीं होता और सृष्टि से इसकी सृष्टि नहीं होती; निर्विकार एक ही आत्मा को इस शरीर की नाना अवस्थायें प्राप्त होती हैं। ऐसे ही देहान्तर प्राप्ति में भी आत्मा ज्यों का त्यों निर्विकार ही रहता है, केवल शरीर का ही परिवर्तन होता है। जैसा श्रुति भी कहती है:—

'जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियत'[1]
[छा० उ० ६।११।३]

जैसे एक ही निहाई पर लोहार किसी लोहे के टुकड़े को कभी खुर्पी, हँसिया तथा कभी कुल्हाड़ी फरसादि बनाता; परन्तु उनके एक रूप के नाश और दूसरे की सृष्टि रूप परिवर्तन से निहाई में कोई भी परिवर्तन नहीं होता, वैसे ही आत्मारूपी निहाई पर शरीर रूपी खुर्पी, हँसिया आदिक परिवर्तन को प्राप्त होते रहते हैं; परन्तु आत्मा ज्यों का त्यों निर्विकार ही रहता है। इस प्रकार—

'स्वस्वरूपतया सर्वं वेद स्वानुभवेन यः स धीरः'[2]
[व० उ० २।३०]

धीर पुरुष सर्वात्मदर्शन के कारण शोक-मोह को प्राप्त नहीं होता। इसलिये तू भी धीर—आत्मदर्शी बन ॥ १३ ॥

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ १४ ॥

---

१. जीव से रहित ही यह मर जाता है, जीव नहीं मरता।
२. जो स्वानुभव के द्वारा सबको आत्मरूप से जानता है, वह धीर है।

शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु और समाहित होकर सर्वात्मदर्शन के कारण इन शीतोष्ण तथा सुख दुःखादिक द्वन्द्वों से व्यथित नहीं होता,

'सुख दुःख दशा धीरं साम्यान्न प्रोद्धरन्ति यम्'[1]
[अन्न० उ० ४।१२]

'सूर्यो यथा सर्वलोकस्यचक्षु-[2]
न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
न लिप्यते लोक दुःखेन बाह्यः॥'
[क० उ० २।२।११]

अर्थात् जो सदैव सर्व अवस्थाओं में सर्वत्र सर्वात्मरूप से साम्यावस्था में ही स्थित रहता है। अथवा जो अपने को सूर्यवत् इन सुख-दुःख संज्ञक द्वन्द्वों का साक्षी निर्द्वन्द्व समझता है, वह—

'एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म'[3] [छा० उ० ४।१५।१]

अमृतत्व-ब्रह्मपद के योग्य होता है अर्थात् अमृतस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त करता है। जैसा श्रुति भी कहती है:—

'समः स्यात्सर्वेषु सोऽमृतत्वाय कल्पते'
[ना० प० उ० ५।११]

जो सबमें सम होता है, वह अमृतत्व के योग्य होता है॥ १५॥

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥ १६॥

---

१. जिस धीर पुरुष को सुख दुःख की दशायें साम्यावस्था से विचलित नहीं करतीं।

२. जिस भाँति सूर्य सब लोक का चक्षु होने पर भी चक्षुसंबंधी बाह्य दोषों से लिप्त नहीं होता उसी भाँति संपूर्ण भूतों का एक ही अन्तरात्मा लोक के दुःख से लिप्त नहीं होता, अपितु उनसे बाह्य असंग ही रहता है।

३. यह अमृत है, अभय है और ब्रह्म है।

स्थित है', 'एक ही देव सर्वभूतों में गूढ़ रूप से स्थित है', अभिप्राय यह है कि एक अद्वितीय आत्मा ही नाना शरीरों में स्थित है। इसलिये तुम एकत्वदर्शी को शोक नहीं करना चाहिये। दूसरे इन भीष्म, द्रोणाचार्यादि के अन्तवान्—अनित्य जिन शरीरों की प्रतीति हो रही है; वे भी वस्तुतः हैं नहीं, क्योंकि—

'नासतो विद्यते भावः' [गी० २।१६]

असत् का भाव ही नहीं है। जैसे रज्जु में सर्प और शुक्ति में रजत का अभाव है, वैसे ही अधिष्ठानस्वरूप अपरिच्छिन्न—नित्य आत्मा में अनित्य—परिच्छिन्न शरीरों का अभाव है; केवल सद्घन, चिद्घन एवं आनन्दघन सत्ता ही अपनी अद्वितीयत्व में स्थित है। इसलिये तुम शोक मोह से मुक्त होकर इस परमार्थ दृष्टि से लोक संग्रहार्थ युद्ध करो॥ १८॥

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥ १९॥

अर्जुन! उपर्युक्त परमार्थ दृष्टि से सत् एक अद्वितीय चिन्मात्र सत्ता में जो भेद की मिथ्या कल्पना करके ऐसा मानते हैं कि मैं किसी को मारनेवाला हूँ और जो यह समझते हैं कि मैं किसी से मारा जाता हूँ—वे दोनों ही त्रिपुटी रहित क्रियाशून्य आत्मतत्त्व को नहीं जानते।

'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' [श्वे० उ० ६।१९]
'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' [श्वे० उ० ६।११]
'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' [श्रुति]
'न तदश्नाति किंचन न तदश्नाति कश्चन' [बृ० उ० ३।८।८]
'न तु तद्द्वितीयमस्ति' [बृ० उ० ४।३।२३]
'एकात्मके परे तत्त्वे भेदकर्ता कथं वसेत्' [अ० उ० २५]

[आत्मा निष्कल, निष्क्रिय, शान्त, साक्षी, चेतन, केवल और निर्गुण है वह आकाश के समान सर्वगत और नित्य है, न वह कुछ खाता है और न उसे कोई खाता है; उसमें द्वितीयत्व का अभाव है, एकात्मक अद्वितीय परतत्त्व में भेदकर्ता कैसे निवास कर सकता है ?']

क्योंकि उसमें द्वैत का अभाव है। दूसरे आत्मा आकाशवत् व्यापक एवं निरवयव होने के कारण निष्क्रिय है। इसलिये निर्विकार आत्मा न तो किसी को *मारता* और न किसी से *मारा जाता* है। जैसा कि श्रुति भी कहती है:—

'हन्ताचेन्मन्यते हन्तुं ँ हतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायँ हन्ति न हन्यते ॥'
[क० उ० १।२।१६]

यदि *हन्ता* आत्मा को *मारनेवाला* मानता है और *मारा जानेवाला* उसे मारा हुआ मानता है, तो वे दोनों उस आत्मतत्व को नहीं जानते, क्योंकि आत्मा न तो मारता है और न मारा ही जाता है ॥ १६ ॥

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वाऽभविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥

यह आत्मा नित्य, निर्विकार है, इसलिये कभी किसी कारण से जन्मता-मरता नहीं। पुनः यह कभी होकर अभाव को प्राप्त नहीं होता और न अभाव को प्राप्त होकर भाव को ही प्राप्त होता है अर्थात् कभी जन्म लेकर मरता नहीं और न मरकर जन्म ही लेता है, क्योंकि अज है।

'न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः'[1] [श्वे० उ० ६।६]

इसलिये ही नित्य है और नित्य होने के कारण सनातन है और सनातन होने के कारण पुरातन है, इसलिए शरीर के नाश से इसका नाश नहीं होता, वैसे ही जैसे घट के नाश से घटाकाश का नाश नहीं होता।

अभिप्राय यह है कि आत्मा नित्य होने के कारण

'षडूर्मिवर्जितम्'[2] [मुद्गल० उ० ४।१]

---

१. इस आत्मतत्व का न कोई जन्मदाता है और न कोई अधिपति ही है।

२. 'अशनायापिपासा शोक मोह जरामरणानिति षडूर्मयः' [मुद्गल० उ० ४।७]
भूख, प्यास, शोक, मोह, वृद्धावस्था और मृत्यु ये छः ऊर्मियाँ हैं।

'य आकाशे तिष्ठन्'[1] [बृ० उ० ३।७।१२]

नाश करने में समर्थ नहीं है, तो फिर सूक्ष्मातिसूक्ष्म निर्विकार आत्मतत्व के बारे में कहना ही क्या ?

दूसरे,—

'आत्मैवेदं सर्वम्' [छा० उ० ७।२५।२]

की दृष्टि से आत्मा से भिन्न कुछ भी नहीं है; इसलिए शस्त्र; अग्नि, जल और वायु भी आत्मा ही हुये। तो फिर क्या आत्मा आत्मा को काटेगा ? आत्मा आत्मा को जलायेगा ? और आत्मा आत्मा का शोषण करेगा ? इसलिये तू आत्मा के निर्विकारत्व को जानकर निर्भय हो जा ॥ २३ ॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ २४ ॥

यह आत्मा काटा नहीं जा सकता; जलाया नहीं जा सकता, भिगोया नहीं जा सकता और इसका शोषण नहीं किया जा सकता। क्योंकि—

'यः पृथिव्यां तिष्ठन्पृथिव्या अन्तरः'[2] [बृ० उ० ३.७.३]

'योऽप्सुतिष्ठन्नद्भयोऽन्तरः'[3] [बृ० उ० ३।७।४]

'यस्तेजसितिष्ठंस्तेजसोऽन्तरः'[4] [बृ० उ० ३।७।१४]

'यो वायौ तिष्ठन्वायोरन्तरः'[5] [बृ० उ० ३।७।७]

अन्तर्यामी होने के कारण इनका विषय नहीं है, इसीलिये—

'नित्यः सर्वगतो ह्यात्मा कूटस्थो दोषवर्जितः'[6]
[अन्न० उ० ५.७५]

'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' [श्रुति]

---

१. जो आकाश में स्थित रहता हुआ।
२. जो पृथ्वी में स्थित पृथ्वी के भीतर है।
३. जो जल में स्थित जल के भीतर है।
४. जो अग्नि में स्थित अग्नि के भीतर है।
५. जो वायु में स्थित वायु के भीतर है।
६. यह आत्मा नित्य, सर्वगत्, कूटस्थ एवं दोषवर्जित—निर्विकार है।

यह नित्य सर्वगत् स्थाणुवत्, स्थिर, अचल और सनातन है। तथा यह आत्मतत्त्व नित्य होने के कारण ही सर्वगत् है और सर्वगत् होने से ही स्थाणु और स्थाणु होने के कारण अचल और अचल होने के कारण सनातन है। भगवान् को यहाँ पर नित्य, सर्वगत् से—

'अयमात्मा ब्रह्म' [बृ० उ० २।५।१६]

आत्मा परमात्मा की एकता अभीष्ट है, क्योंकि जो नित्य होगा, वही सर्वगत् भी होगा और वह सर्वगत् तत्त्व ब्रह्म ही है। जैसा श्रुति भी कहती है:—

'सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' [श्वे० उ० ६।११]

अर्जुन! इसलिये तू परिच्छिन्न जीवभाव को त्याग कर अपरिच्छिन्न ब्रह्मभाव को प्राप्तकर सर्वत्र अपने अखण्डत्व, सर्वगतत्व और निर्विकारत्व को देखता हुआ कृतकृत्य, निहाल हो जा।

देख, तू सबका आत्मा है और सब तेरे। इस प्रकार इस ऐक्यबुद्धि से युक्त होकर शोक-मोह से मुक्त हो जा ॥ २४ ॥

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ २५ ॥

यह आत्मा चक्षु आदि इन्द्रियों का विषय न होने के कारण अव्यक्त है और मन का अविषय होने से अचिन्त्य है तथा निरवयव होने के कारण निर्विकार है।

अर्जुन! अव्यक्त, अचिन्त्य एवं निर्विकार आत्मा ही सर्वगत एवं सर्व रूपों में है, वस्तुतः निराकार सत् तत्व में कभी सृष्टि हुई ही नहीं। जैसा श्रुति भी कहती है:—

'तते ब्रह्मघने नित्ये संभवन्ति न कल्पिताः।[1]
न शोकोऽस्ति न मोहोऽस्ति न जराऽस्ति न जन्म वा॥'
[म० उ० ६।१३]

तो फिर उसमें कौरव पांडव दल कहाँ से आया? देख! परमात्मा ही ज्यों का त्यों अपने रूप में स्थित है; परन्तु राग-द्वेष से युक्त होने के कारण

---

१. व्यापक, नित्य, सच्चिदानन्दघन ब्रह्म में कल्पित नाम रूप की संभावना नहीं है, इसमें न शोक है, न मोह है, न जरा है और न जन्म है।

सच्चिदानन्दघन वासुदेव में जो शत्रु-मित्र की तुम्हारी बुद्धि है, वह केवल भ्रान्तिमूलक एवं शोक-मोह का ही हेतु है। इस प्रकार तू आत्मा के निर्विकारत्व और अद्वितीयत्व को जानकर शोक करने के योग्य नहीं है—

'चिदेकत्वपरिज्ञाने न शोचति न मुह्यति'
[अध्य० उ० ४।३४].

'तरति शोकमात्मवित्'[1] [छा० उ० ७।१।३]

क्योंकि आत्मवेत्ता शोक-मोह को तर जाता है ॥ २५ ॥

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥ २६ ॥

अर्जुन! यह तो तुम्हें परमार्थिक दृष्टि बतलाया कि आत्मा नित्य एवं निर्विकार है, इसलिये शोक का कोई हेतु नहीं है। अब यदि लौकिक—अपरमार्थिक दृष्टि से भी देख, तो भी तुझे शोक नहीं करना चाहिये। क्योंकि यदि तू ऐसा ही माने कि आत्मा शरीर के जन्मने से जन्मता और मरने से मर जाता है, तो फिर स्वाभाविक नित्य जन्मने और मरनेवाले आत्मा के प्रति शोक क्यों? ॥ २६ ॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २७ ॥

जन्मनेवाला अवश्य मरेगा और मरनेवाला अवश्य जन्मेगा; क्योंकि—

"न भवत्यमृतं मर्त्यं न मर्त्यममृतं तथा।
प्रकृतेरन्यथाभावो न कथंचिद्भविष्यति ॥"
[माण्डू० का० ४।७]

मरणरहित वस्तु कभी मरणशील नहीं हो सकती और मरणशील मरणहीन नहीं हो सकती, इसलिये कि किसी के स्वभाव का विपर्यय किसी प्रकार होने वाला नहीं है, तो फिर ऐसे अपरिहार्य प्रतिकार शून्य विषय में 'जिसमें तेरा और अन्य किसी का कोई भी वश नहीं है, शोक करना उचित नहीं ॥२७॥

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ २८ ॥

---

१. आत्मवित् शोक को तर जाता है।

यदि तू कहे कि मैं भी प्राणियों को जन्मते-मरते देखता हूँ, परन्तु फिर भी ये वज्रसार की नाईं अटल और सत्य प्रतीत हो रहे हैं, इनके मिथ्यात्व की बुद्धि दृढ़ नहीं होती, तो सुनः—

सृष्टि के पूर्व यह नाम-रूपात्मक[1] जगत् अव्यक्त था अर्थात् इसका कोई रूप नहीं था और प्रलय के पश्चात् भी यह अव्यक्त ही रहेगा अर्थात् इसका कोई रूप नहीं रहेगा। ऐसा ही वेदव्यासजी ने भी कहा है—

'अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनं गतः' [महा० स्त्री० २।१३]

'यह भूत-संघात अदर्शन से आया और पुनः अदर्शन को प्राप्त हो गया। केवल बीच में ही इसकी प्रतीति हो रही है; इसलिये ही मिथ्या है। जैसा कि श्रुति एवं श्रीमद्भागवत में भी कहा गया है—

'असद्वा इदमग्र आसीत्' [तै० उ० २।७]

'न यत्पुरस्तादुत यन्न पश्चा-
न्मध्ये च तन्न व्यपदेशमात्रम्।'
[श्री० भा० ११।२८।२१]

जो उत्पत्ति से पूर्व नहीं था और प्रलय के पश्चात् भी नहीं रहेगा, वह वस्तुतः मध्य में भी है नहीं; केवल कल्पनामात्र—नाममात्र ही है। क्योंकि जो आदि अन्त में होता है, वही मध्य में भी होता है जो आदि अन्त में नहीं होता, वह मध्य में भी नहीं होता।

'आद्यन्तयोरस्य तदेव केवलं[2]
कालश्च हेतुश्च तदेव मध्ये॥'
[श्री० भा० ११।२८।१८]

'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा'[3]
[माण्डू० का० २।६]

---

१. यह नाम-रूपात्मक विश्वप्रपंच सृष्टि के पूर्व अव्यक्त था।
२. जो इस संसार के आदि में था और अन्त में रहेगा, वही इस विश्व का मूलकारण और प्रकाशक अद्वैत ब्रह्मसत्ता मध्य में भी है।
३. जो आदि और अन्त में नहीं है, वह वर्तमान में भी नहीं है।

ऐसा न्याय है। जैसे घट की सृष्टि के पूर्व मिट्टी थी और नाश के पश्चात् भी मिट्टी ही रहेगी। इसलिये मध्य में भी अर्थात् घट की प्रतीति काल में भी मिट्टी ही है, घट नाम की कोई वस्तु नहीं।

'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' [छा० उ० ६।१।४]
'नासतो विद्यते भावः' [गी० २।१६]

मिट्टी ही घटाकार हो रही है।

'घटनाम्ना यथा पृथ्वी पटनाम्ना हि तन्तवः।[1]
जगन्नाम्ना चिदाभाति सर्वं ब्रह्मैव केवलम्॥'
[यो० शि० उ० ४।१७,१८]

'जगद्रूपतयाप्येतद्ब्रह्मैव प्रतिभासते' [आ० उ० २]

वैसे ही परमात्मारूपी मिट्टी में जगत् रूपी घट का त्रिकाल में भी भाव नहीं है, केवल परमात्मसत्ता ही सर्वत्र सर्वरूपों में जगत् नाम से भास रही है। इसलिये इन मिथ्या भूतप्राणियों की चिन्ता से मुक्त होकर इस सर्वात्मदृष्टि का अवलंबन कर शोक-मोह से मुक्त हो जा॥ २८॥

'आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥ २९॥

अर्जुन। यह आत्मतत्व बड़ा ही दुर्विज्ञेय और आश्चर्य का विषय है। इसको कोई विरला—

'कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः' [गी० ७।३]
'आचार्यवान्पुरुषो वेद' [छा० उ० ६।१४।२]

आचार्यवान् पुरुष ही—

'ईश्वरानुग्रहादेव पुंसामद्वैतवासना'[2]
'शान्तोदान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो-'

---

१. घट नाम से जैसे पृथ्वी और पट नाम से तन्तुओं की प्रतीति होती है, वैसे ही जगत् नाम से सर्व केवल चैतन्य ब्रह्म ही भास रहा है।
२. ईश्वर के अनुग्रह से ही पुरुषों को अद्वैत वासना होती है

भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति
सर्वमात्मानं पश्यति' [बृ० उ० ४।४।२३]

ईश्वर के अनुग्रह से अद्वैतवासना का अधिकारी बन अमानित्वादि दैवी गुणों से युक्त हो, शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु और समाहित होकर आत्मा में ही आत्मा को देखता है कि—

'सर्वमिदमहं च वासुदेवः'

'यह सब और मैं वासुदेव ही हूँ।'

'हरिरेव जगत् जगदेव हरिः'

'हरि ही जगत् और जगत् ही हरि है' अर्थात् हरि ही द्रष्टा; दर्शन और दृश्य के रूप से हरि के द्वारा हरि को देखता है।

'अहं हरिः सर्वमिदं जनार्दनः' [वि० पु० १।२२।८७]

'मैं और यह समस्त जगत् जनार्दन हरि ही है।'

'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति' [गी० ७।७]
'अहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं
दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदं सर्वमिति'

[छा० उ० ७।२५।१]

'मुझसे भिन्न अणुमात्र भी नहीं है।' मैं ही नीचे हूँ, मैं ही ऊपर हूँ, मैं ही पीछे हूँ, मैं ही आगे हूँ, मैं ही दायीं ओर हूँ, मैं ही बायीं ओर हूँ, और मैं ही यह सब हूँ।'

'यन्मयापूरितं विश्वम्' [श्वे० उ० २।३६]

'यह संपूर्ण ब्रह्मांड मुझसे ही व्याप्त–परिपूर्ण है।' इस प्रकार जो ब्रह्मात्मैक्य दृष्टि को प्राप्त कर—

'अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा'[1]

[श्री० भा० २।९।३५]

---

१. अन्वय व्यतिरेक दृष्टि से सर्वातीत एवं सर्वस्वरूप परमात्मसत्ता ही सर्वदा सर्वत्र स्थित है।

आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा-
श्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥१
[क० उ० १।२।७]

LIBRARY

अभिप्राय यह है कि जो सर्वात्मदर्शी आत्मतत्त्व को ही सर्वत्र देखता, सुनता एवं समझता है, वह आश्चर्यस्वरूप ब्रह्म ही है। परन्तु जो—

'नाविरतो दुश्चरिताद्माशान्तो ना समाहितः ।२
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥'
[क० उ० १।२।२४]

विद्वान् दुष्कर्मों से विरत नहीं हुआ है जिसकी इन्द्रियाँ शान्त नहीं हैं और जिसका चित्त असमाहित तथा अशान्त है, वह—

'नेतरे माययावृताः' [अन्न० उ० ४।३६]

मायाछन्न पुरुष इस दुर्दर्श गूढ आत्मतत्त्व को कहता सुनता और समझता हुआ भी नहीं जानता अर्थात् उस आत्मा में राग-द्वेष-ग्रस्त बुद्धि के कारण आस्था नहीं कर पाता ॥ २९ ॥

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ ३० ॥

यह संपूर्ण शरीरों का निवासी आत्मा नित्य एवं अवध्य है। वही सर्वभूत प्राणियों का अधिष्ठान है अर्थात् उसी आत्मतत्त्व से यह नाम-रूपात्मक ब्रह्माण्ड सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय को प्राप्त होता रहता है, केवल नाम रूप का ही परिवर्तन होता है जो कि सर्वथा मिथ्या है। सर्वात्मदृष्टि से देखने पर तो कौरव-पांडव को कौन कहे, सर्वभूतप्राणियों के लिये भी तुझे शोक नहीं होगा अर्थात् तू निःशोक ही रहेगा; क्योंकि एकत्व [आत्मदृष्टि] के

१. आत्मतत्त्व का निरूपण करनेवाला आश्चर्यरूप है, इसका प्राप्त करनेवाला भी कुशल ही है तथा कुशल आचार्य द्वारा उपदिष्ट ज्ञाता भी आश्चर्यरूप ही है।

२. जो दुश्चरित्रता से विरत नहीं हुआ है, जिसकी इन्द्रियाँ शान्त नहीं हैं तथा जिसका चित्त असमाहित और अशान्त है, वह इसे अध्यात्मज्ञान द्वारा प्राप्त नहीं कर सकता है।

परित्याग और नानात्व [नाम-रूप] के ग्रहण के द्वारा ही मनुष्य शत्रु-मित्र एवं अहंममादि की सृष्टि करके सुखी-दुःखी होता है और नानात्व [नाम-रूप] के परित्याग और एकत्व [आत्मदृष्टि] के ग्रहण से शोक-मोह से मुक्त होता है। जैसा श्रुति भी कहती है—

'तरति शोकमात्मवित्' [छा० उ० ७।१।३]

'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' [ई० उ० ७]

इसलिये तू भी नानात्व-बुद्धि को त्यागकर और एकत्वदर्शन से युक्त होकर शोक-मोह से मुक्त हो जा ॥ ३० ॥

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ ३१ ॥

अर्जुन ! यदि तू स्वधर्म को ही देख, तो भी तुम्हें भयभीत नहीं होना चाहिये; क्योंकि धर्म तो निर्भयता अमृतत्व का हेतु है। आज तक जिन-जिन पुरुषों ने स्वधर्म को देखा, वे अविकम्प—अचल अमृतत्व को प्राप्त कर गये। बता यदि तुझे अमृत से ही भय है, तो निर्भयता किससे प्राप्त होगी ? क्या विष [स्वधर्म त्याग] से ? क्योंकि क्षत्रिय के लिये धर्म-युद्ध से बढ़कर अन्य कोई कल्याण का हेतु नहीं है। जैसा कि धर्मशास्त्र भी कहता है:—

'युद्धं स्वधर्मो नृपतेः प्रजानां परिपालनम्'

'युद्ध और प्रजापालन राजा का स्वधर्म है"

'श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्' [गी० ३।३५]

अभिप्राय यह है कि क्षत्रिय के लिये ही नहीं, किन्तु प्रत्येक वर्णाश्रम के लिये स्वधर्म ही कल्याण का हेतु है। इसलिये तू धर्म युद्ध ही कर; क्योंकि कोई भी प्राणी स्वभावतः दुःखी नहीं होना चाहता, सुख शान्ति की ही जिज्ञासा करता है। तो मानव जो बुद्धि-प्रधान सर्वोपरि प्राणी है, उसके जीवन की यही विशेषता है कि सुख-शान्ति का मार्ग जो स्वधर्म है, उसका परित्याग करके दुःख-अशान्ति के मार्ग पर धर्म का वरण करे ? कदापि नहीं। तू मेरे देखते हुए ही स्वधर्म का त्याग कैसे कर सकता है ? क्योंकि मैंने तो धर्म रक्षार्थ ही शरीर धारण किया है अर्थात् मैं धर्म का मूर्तिमान रूप ही हूँ। तो तू ही बता कि धर्म के सामने अधर्म कैसे रहेगा ? दूसरे तू मेरा शरणापन्न

हो चुका है, इसलिये भी मेरा धर्म है कि तुझे अधर्म–स्वधर्म त्याग से रोककर धर्म 'जो अमृतत्व है' उसे प्राप्त करा दूँ: क्योंकि स्वधर्म का परित्याग करने वाला पापात्मा, असुर और लोक का हनन करनेवाला होता है। वह केवल जन्म-मृत्यु तथा अशुभ रौरवादि नरकों का ही बार-बार शिकार बनता है। तेरी यह स्वधर्म की दया अर्थात् स्वधर्म से विरति क्या तेरे सुख-शान्ति का हेतु होगी? इसलिये तू आर्यों से अतिगर्हित, मूढ़ता एवं दुराग्रह को त्याग कर युद्ध कर। यदि तुझे भीष्म, द्रोणाचार्यादि की चिन्ता है कि ये मेरे पूज्य हैं, मैं इन्हें कैसे मारूँगा? जब कि—

'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि'[1] [श्रुति]
'ब्राह्मणं न हन्यात्'[2] [स्मृति]

यह शास्त्र का वाक्य है, तो सुनः—

स्वधर्म इनसे भी श्रेष्ठ है, इसलिये इसके रक्षार्थ मारना ही पड़ेगा अर्थात् इनमें मोह-ममता और अपनत्व बुद्धि का परित्याग करना ही पड़ेगा, तभी तो धर्म मनुष्य को संगदोषादि से मुक्त करके परमात्मा से युक्त कर देता है। दूसरे,

'अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः।
क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते आततायिनः॥'

[व० स्मृ० ३।१५]

'अग्नि देनेवाला, विष देनेवाला, शस्त्रपाणि—हाथ में शस्त्र लिया हुआ, धन अपहरण करनेवाला, क्षेत्र और स्त्री का अपहरण करनेवाला—ये छः आततायी हैं' इस दृष्टि से भीष्मादिक भी आततायी हैं, इसलिये भी इन्हें मार; क्योंकि स्मृति का आदेश है कि—

'गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्॥'

[म० स्मृ० ८।३५०]

---

१. सब प्राणियों की हिंसा न करे।

२. ब्राह्मण को न मारे।

'आततायिनमायान्तमपि वेदान्तपारगम् ।
जिघांसन्तं जिघांसीयान्न तेन ब्रह्महाभवेत् ॥'

[व० स्मृ० ३।१६]

'नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ।'

[म० स्मृ० ८।३५१]

'न निवर्तेत सङ्ग्रामात्क्षात्रंधर्ममनुस्मरन्'

[म० स्मृ० ७।८७]

'न दोषो हिंसायामाहवे' [गौ० स्मृ० १०]

'यदि गुरु, बालक, वृद्ध, ब्राह्मण एवं बहुश्रुत भी आततायी के रूप में प्राप्त हों, तो उनका भी विना सोचे-विचारे हनन करना चाहिए ।' यदि वेदान्त का पारगामी विद्वान् भी मारने के योग्य आततायी हो, तो उसका भी हनन करे, उसके हनन से ब्रह्म हत्यारा नहीं होता ।' 'कोई भी हन्ता आततायी के वध करने पर दोषी नहीं होता ।' 'क्षात्र धर्म का स्मरण करते हुए संग्राम से विमुख नहीं होना चाहिये' 'युद्ध में हिंसा दोष नहीं है' इस प्रकार शास्त्रीय आदेशानुसार भी तुझे युद्ध ही करना चाहिये ॥ ३१ ॥

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥ ३२ ॥

दूसरे, इसलिये भी युद्ध कर कि इस अनायास प्राप्त धर्मयुद्ध ने तेरे लिए स्वर्ग का द्वार खोल दिया है, अर्थात् स्वर्ग स्वयं ही कीर्ति, ऐश्वर्य आदि के साथ इस धर्मयुद्ध का वरण करने के लिये सामने खड़ा है। ऐसे ही कहा भी गया है—

'ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरा सः' [श्रुति]

'जो शूर रण में युद्ध करते हैं वे स्वर्ग को प्राप्त होते हैं' इसलिए तू इस निरुपम सुख का यथेच्छ भोग स्वधर्मपालन के द्वारा कर; क्योंकि कोई सौभाग्यवान् विशेष पुण्योपार्जित क्षत्रिय ही ऐसे युद्ध को प्राप्त करते हैं ॥ ३२ ॥

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥

इस दृष्टि से भी यदि तू इस धर्मयुद्ध को नहीं करेगा, तो स्वधर्म और कीर्ति का हनन करने के कारण पाप को ही प्राप्त करेगा; क्योंकि स्वधर्म से ही कीर्ति और पुण्य होता है। स्वधर्म-त्याग से तो केवल अपकीर्ति और पाप ही होता है। स्वधर्म त्यागी पुरुष पाप का ग्रास बनता है, पाप ही उसे खाता है अर्थात् अशुभ अन्धतामिस्रादि कष्टतर नरकों के द्वारा उसे पीड़ित करता है, ऐसे पापी का दर्शन करना महान् पाप है। इसलिये भी तू पाप से मुक्त होने के लिये स्वधर्मरूप युद्ध ही कर ॥ ३३ ॥

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ ३४ ॥

और भी सुन; तेरी इस अपकीर्ति को लोग अनन्त युगों तक कहते रहेंगे अर्थात् जब तक यह सृष्टि रहेगी तब तक। भला तू ही बता कि कोई भी संभावित—कीर्तिमान् पुरुष, जिसकी कीर्ति से लोक लोकान्तर व्याप्त है' वह मृत्यु से भी अत्यधिक भयंकर अपनी इस अपकीर्ति को सुनकर कैसे जीवित रहेगा ? ॥ ३४ ॥

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ ३५ ॥

और वे ही शूरवीर जिनकी दृष्टि में तू श्रेष्ठता को प्राप्त है अर्थात् जो महारथी तेरे दुर्द्धर्ष पराक्रम और गाण्डीव से डरते हैं, वे ही तुम्हें कायर और नपुंसक समझकर भय से उपरत हुआ समझेंगे, दया से नहीं। इस प्रकार तू विशेष लघुता—तिरस्कार को प्राप्त होगा, इसलिये भी युद्ध कर ॥ ३५ ॥

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ३६ ॥

फिर तेरे विपक्षी न कहने योग्य भी बहुत सी निन्दायुक्त बातें तेरे मुँह पर ही कहेंगे; कि अरे! यह तो केवल बातों का ही वीर है; वस्तुतः नपुंसक और कायर ही है। यदि ऐसा नहीं होता तो युद्ध से उपरत क्यों हो जाता ? फिर तू ही बता कि सामर्थ्य रहते हुए निन्दा को सुनना कितनी बड़ी

मूर्खता है ? अरे ! यह निन्दा तो मृत्यु से भी अधिक दुःखदायी है। इसीलिये बुद्धिमान् पुरुष प्राणों की भी बाजी लगाकर अपनी कीर्ति की रक्षा करते हैं ॥ ३६ ॥

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥

अर्जुन !

'ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरा सः' [श्रुति]

यदि तू युद्ध में मारा गया, तो स्वर्ग को प्राप्त करेगा और जीत गया तो निष्कंटक-धनधान्य संपन्न भूमि का भोग करेगा। इस प्रकार तेरे दोनों हाथों में मोदक है; चाहे जीते अथवा हारे। इसलिये तू युद्ध करने के लिये उठ खड़ा हो अर्थात् युद्धकर। वह युद्ध किस प्रकार करेगा ? सो सुन—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

अर्जुन ! यदि तू कहे कि युद्ध-हिंसा तो पाप ही है, तो फिर आप इस पाप कर्म में मुझे क्यों जोड़ते हैं ? तो सुन—मैं युद्ध करने का एक ऐसा अलौकिक ढंग बता रहा हूँ कि जिसमें हिंसा भी अहिंसा का रूप धारण करके अमृतत्व की प्राप्ति करा देगी। यह तेरा मोह और अभिमानपूर्ण अहिंसा—युद्ध त्याग हिंसा ही है। वस्तुतः अहिंसा तो तलवार ले करके भी की जा सकती है और अहिंसा बिना तलवार के भी की जा सकती है।

'यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते'

[गी० १८।१७]

बुद्धिमानों और मूढ़ों की क्रियाओं में अन्तर नहीं, बल्कि विचारों में ही केवल अन्तर हुआ करता है। तू सुख-दुःख लाभ-अलाभ, जय-पराजय में सम होकर युद्ध कर। इस दृष्टि से तू पाप को नहीं प्राप्त होगा अर्थात् पुण्य को भी नहीं प्राप्त होगा; क्योंकि पाप-पुण्य—ये दोनों जन्म-मृत्यु-बन्धन के ही हेतु हैं। जैसे जंजीर चाहे स्वर्ण की हो अथवा लोहे की—दोनों बन्धन ही करती हैं, वैसे ही पाप-पुण्य दोनों बन्धनकारक होने से त्याज्य ही हैं। ग्राह्य तो केवल परमात्मा ही है, जो जरा-मरण शून्य निर्विकार है। अतः तेरे लिये परमात्मा की प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन है धर्मयुद्ध। यहाँ यहाँ भगवान् के—

'समो भूत्वा' 'नैवं पापमवाप्स्यसि' [गी० २।३८]
कहने का प्रयोजन यही है कि तू समदृष्टि से देख कि ये सब द्वन्द्व आत्मस्वरूप ही हैं, इसलिये इनकी सिद्धि-असिद्धि में सम रह, क्योंकि आत्मतत्त्व नित्य सिद्ध सम है; उसमें कभी असिद्धि होती ही नहीं। ऐसी नित्य सिद्धावस्था को प्राप्तकर तू भी सिद्ध सम एवं शान्त हो जा। क्योंकि—

'समत्वं योग उच्यते' [गी० २।४८]

समता को ही योग कहते हैं। देख, मैं परमात्मा ही सुख-दुःखादि द्वंद्वों के रूप में सदैव सर्वत्र विचरता रहता हूँ। जो पुरुष इस रहस्य को जानते हैं, वे मेरे दोनों रूपों को समान रूप से वर्तते हैं अर्थात् इनमें सम रहते हैं।

'द्वंद्वः सामासिकस्य च' [गी० १०।३३]

मैं समासों में द्वंद्व समास हूँ, ये द्वंद्व मेरे द्वारा ही प्रकाशित हैं, इसलिये मद्रूप ही हैं। अथवा सुख-दुःखादिक द्वन्द्वों की सत्ता ही नहीं है, केवल मनोविलास मात्र हैं, मैं द्वन्द्वातीत हूँ, ऐसी दृष्टि प्राप्त कर तू द्वन्द्वों से मुक्त हो जा। यदि तू इस सर्वात्मदृष्टि से युद्ध करेगा अर्थात् कर्तृत्वाभिमान से मुक्त होकर युद्ध करेगा, तो भूत प्राणियों के अभाव होने के कारण किसी को मारेगा नहीं और जब मारेगा नहीं तो शुभाशुभ योनियाँ कहाँ ? और जब शुभाशुभ योनियाँ ही नहीं, तो जन्म मृत्यु कहाँ ? अर्थात् इस अवस्था पर जन्म मृत्यु से मुक्त होकर कृतकृत्य हो जायगा। देख, ऐसे ही अहिंसा के परमव्रती जनक और हनुमान आदि युद्ध करते हुए भी मुक्त रहे हैं। इसलिये तू भी इस दृष्टि का अवलंबन करके युद्ध ही कर ॥ ३८ ॥

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥ ३९ ॥

अर्जुन ! मैंने यह उपर्युक्त सांख्य- बुद्धि कही; जिसको जानकर मनुष्य संसार के शोक-मोह से पूर्णतया मुक्त हो जाता है। अब उसी का साधन बुद्धियोग—कर्मयोग कहता हूँ, जिसमें तेरा अधिकार है। जिसके द्वारा सांख्य-प्रदर्शित आत्मतत्त्व को जानकर कर्मबन्धन रूप जन्म-मृत्यु से मुक्त हो जायेगा अर्थात् अपने में कर्मों का अभाव देखता हुआ नैष्कर्म्यावस्था को प्राप्त करेगा ॥ ३९ ॥

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ ४० ॥

इस मोक्षमार्ग के अभिक्रम—प्रारंभिक साधनरूप कर्मयोग का नाश नहीं होता; क्योंकि सत्यस्वरूप परमात्मा की प्राप्ति का हेतु होने के कारण यह भी सत्यस्वरूप बन जाता है। इसलिये ही इस कर्मयोग का—

'पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते' [गी० ६।४०]

इस लोक तथा परलोक में नाश नहीं होता। दूसरे इसके फल प्राप्ति में प्रत्यवाय—विघ्न भी नहीं होता, जैसा कि कृषि आदि में होता है। इससे तो निश्चित रूप से मोक्ष प्राप्त होता ही है। इस धर्म का लेशमात्र भी आचरण महान् जन्म-मृत्यु रूपी भय से मुक्त कर देता है।

अर्जुन! इसी त्रायक अर्थात् निष्कामबुद्धिरूपी कवच को 'जिसके धारण करने पर संसार के जन्म-मृत्यु रूप शत्रुओं का लेशमात्र भी भय नहीं रहता' तुम्हारे पूर्वज धारण करते चले आ रहे हैं और वह ज्यों का त्यों अभी अक्षुण्ण बना हुआ है। इसलिये तू भी इसे धारण करके संसार के भय से सर्वथा मुक्त हो जा। देख, इसके धारण करने से तो—

'वासुदेवः सर्वमिति' [गी० ७।१६]

की दिव्य-दृष्टि प्राप्त हो जाती है, जहाँ पर शत्रु तथा उसके कारण कामनाओं का आत्यन्तिक अभाव हो जाता है। वस्तुतः कामनाशून्यता की प्राप्ति ही संसार-जन्म-मृत्यु से त्राण पाना है। देख, इस कर्म के दो पहलू हैं—सकाम और निष्काम। सकाम जन्म मृत्यु प्रदान करता है और निष्काम अमृतत्व। इसीलिए मैं बार-बार कहता हूँ कि तू निष्काम बुद्धि से युद्ध कर ॥४० ॥

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ ४१ ॥

हे कुरुनन्दन! इस ईश्वर-आराधनरूप कर्मयोग में व्यवसायात्मिका-निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही है, क्योंकि यह बुद्धि—

'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' [श्रुति]

एक अद्वितीय सत् परमात्मा में युक्त होकर, असत् नाम-रूपात्मक जगत् के मिथ्यात्व का निश्चय कराकर, कैवल्य प्राप्त करा देती है। इसलिये ही यह एक

अद्वितीय है। इस बुद्धि का पतिव्रता स्त्री की भाँति केवल परमात्मपति को ही वरण करना स्वभाव है। यह विकारी नाम रूप की ओर भूल कर भी नहीं देखती, परमात्मा के साथ ही क्रीड़ा करती हुई स्वयं भी परमात्मा बनकर यह दिव्य संदेश देती है कि—

'अन्वय व्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा।'
[श्री० भा० २।९।३५]

'मैं ही अन्वय-व्यतिरेक दृष्टि से सदैव सर्वत्र स्थित हूँ, मुझसे भिन्न अणुमात्र भी नहीं है' इस दृष्टि से यह योगियों की जन्म-मृत्यु रूपी संसार से गोपन-रक्षा करती है। इसलिये ही योगी इस व्यवसायात्मिका बुद्धि से बहुत प्यार करते हैं। अब अव्यवसायात्मिका—अनिश्चयात्मिका बुद्धि को सुन—यह नाना शाखावाली और अनन्त है। इस बुद्धि का जन्म-मृत्यु से ही स्वाभाविक प्रेम है; क्योंकि यह नानात्व को ही सत्य मानकर स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति के लिये ही नाना क्रियायें करती रहती है और त्रिगुणात्मक जगत् के प्रपञ्चत्रय तथा पञ्चविषयादि भोगों से युक्त नाना शाखा-प्रशाखा वाली होती है। जैसा श्रुति भी कहती है:—

'मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च।'
अशुद्धं कामसंकल्पं शुद्धं कामविवर्जितम् ॥'[१]
[ब्र० बिन्दु० उ० १]

अभिप्राय यह है कि कामना शून्य आत्मविषयिणी व्यवसायात्मिका बुद्धि अमृतत्व का हेतु है और कामना युक्त अनात्मविषयिणी अव्यवसायात्मिका बुद्धि जन्म-मृत्यु का। इसलिये निष्काम कर्मयोग के द्वारा व्यवसायात्मिका शुद्ध बुद्धि प्राप्त करके कृतकृत्य हो जा ॥ ४१ ॥

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥ ४२ ॥

जो वेदवेत्ता केवल वेद के अर्थवाद में ही रत रहते हैं अर्थात् स्वर्गादि की प्राप्ति रूप कर्म में ही रत हैं, उपासना और ज्ञान में नहीं; वे बहिर्मुख मूढ़

---

१. मन दो प्रकार का कहा गया है—शुद्ध और अशुद्ध। अशुद्ध काम और संकल्प से युक्त होता है और शुद्ध कामना से रहित होता है।

'अपाम सोममममृता अमूम' [श्रुति]
'दक्षिणावन्तो अमृतत्वं भजन्ते' [श्रुति]
'पश्यति पुत्रं पश्यति पौत्रम्' [श्रुति]
'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्य याजिनः सुकृतं भवति'
[श्रुति]

['हम सोम को पीकर अमर होंगे', 'दक्षिणाग्नि के उपासक अमृतत्व को प्राप्त होते हैं' 'पुत्र को देखता है, पौत्र को देखता है', 'चातुर्मास्य यजन करनेवालों को अक्षय पुण्य होता है']

इस प्रकार की पुष्पित—लुभावनी वाणी कहा करते हैं कि स्वर्गादि से भिन्न कुछ भी नहीं है, इसलिये एकमात्र उसी की प्राप्ति करनी चाहिये। ऐसे ही श्रीमद्भागवत् में भी कहा गया हैः—

'एवं व्यवसितं केचिदविज्ञाय कुबुद्धयः।
फलश्रुतिं कुसुमितां न वेदज्ञा वदन्ति हि॥'
[श्री० भा० ११।२१।२६]

दुष्ट बुद्धि कर्मवादी लोग वेदों का तात्पर्य न जानकर कर्मासक्ति के कारण पुष्पों के समान स्वर्गादि लोकों का ही वर्णन करते हैं और उन लोकों को ही परम पुरुषार्थ मानकर भ्रमित हो जाते हैं; परन्तु वेदज्ञ ऐसा नहीं बतलाते ॥ ४२ ॥

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यं गतिं प्रति ॥ ४३॥

ऐसे कामात्मा—काम के परायण रहनेवाले 'जो स्वर्ग को ही परम पुरुषार्थ मानते हैं' वे भोग और ऐश्वर्य के उपासक अनीश्वरवादी विषयी—कामुक पुरुष नाना प्रकार की क्रियाओं से युक्त जन्म-कर्म-फल प्रदान करने वाली वाणी कहा करते हैं कि इस क्रिया से लोकैषणा, इससे वित्तैषणा और इससे पुत्रैषणा तथा इससे स्वर्ग की प्राप्ति होती है' ऐसे विवेक-वैराग्यशून्य उपासना और ज्ञानकांड की अवहेलना करनेवाले आत्महत्यारे, कर्मकांडी, वेदवादी मूढ़ बार-बार जन्म मृत्यु को ही प्राप्त होते रहते हैं, परमात्मा को नहीं।

ऐसे ही श्री मद्भागवत में भी कहा गया हैः—

'कामिनः कृपणाः लुब्धाः पुष्पेषु फलबुद्धयः।
अग्निमुग्धा धूमतान्ताः स्वं लोकं न विन्दन्ति ते ॥'
[श्री० भा० ११।२१।२७]

विषयासक्त कामी, अजितेन्द्रिय, कृपण, लोभी, पुष्प पुष्पों के समान स्वर्गादि लोकों को ही परम पुरुषार्थ मान लेते हैं, उन अग्निसंबन्धी यज्ञ-यागादि कर्मों में ही मुग्ध रहनेवाले धूममार्गावलंबियों को इसके फलस्वरूप देवलोक, पितृलोकादि विनाशी लोकों की ही प्राप्ति होती है, उन्हें अविनाशी निजलोक आत्मपद का ज्ञान नहीं होता।

ऐसे ही श्रुति भी कहती है:—

'इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं
नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वे-
मं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥'
[मु० उ० १।२।१०]

इष्ट और पूर्त कर्मों को ही श्रेष्ठ माननेवाले वे महामूढ किसी अन्य वस्तु को श्रेयस्कर नहीं समझते। वे स्वर्गलोक के उत्तम स्थान में अपने कर्मफलों का अनुभव कर इस मानव लोक अथवा इससे भी अधम लोक में प्रवेश करते हैं ॥ ४३ ॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ ४४ ॥

इस प्रकार जिन सकामी पुरुषों का चित्त वेदवाद में रत रहने के कारण पुष्पितवाणी के द्वारा हर लिया गया है, तथा जो भोग-ऐश्वर्य में बुरी तरह आसक्त हैं, वे अव्यवसायात्मिका बुद्धियुक्त पुष्पित वाणी बोला करते हैं; जो व्यवसायात्मिका बुद्धि की नाशिका है। इसीलिये उनके दूषित अन्तःकरण में परमात्मविषयिणी व्यवसायात्मिका बुद्धि नहीं होती।
जैसा श्रुति भी कहती है—

'पतिताः शास्त्रजालेषु प्रज्ञया तेन मोहिताः।
स्वात्मप्रकाशरूपं तत्किं शास्त्रेण प्रकाश्यते ॥'
[यो० शि० उ० १।४,५]

जिसकी बुद्धि शास्त्रजाल में फँसने के कारण उससे मुग्ध है, उसको प्रकाश-स्वरूप स्वात्मा का शास्त्र से कैसे प्रकाश हो सकता है ? इसलिये तू निष्काम बुद्धि से व्यवसायात्मिका बुद्धि की प्राप्ति के लिये युद्ध कर ॥ ४४ ॥

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥ ४५ ॥

अर्जुन ! इस प्रकार सकामी पुरुषों के लिये वेद त्रिगुणात्मक हैं अर्थात् त्रिगुण की सृष्टि को ही प्रकाशित करनेवाले हैं। अभिप्राय यह है कि वेद अर्थवादात्मक पुष्पित वाक्यों के द्वारा सकामी पुरुषों को संसार में आसक्त करके जन्म-मृत्यु प्रदान करते हैं। इसलिए तू निष्कामी हो अर्थात् स्वधर्माचार के द्वारा रज, तम को दबाकर नित्य सत्त्वगुण में स्थित हो, विवेक, वैराग्य, शम, दमादि गुणों से युक्त होकर—

'वेदानिमं लोकममुं च परित्यज्याऽऽत्मानमन्विच्छेत्'
[स्मृति]

'समाहितो भूत्वा' [बृ० उ० ४।४।२३]

वेदों का इहलोक तथा परलोक का त्यागकर आत्मप्राप्ति की इच्छा करता हुआ समाहित हो—

'निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थः सर्वत्र समदर्शनः'[1]
[ना० प० उ० ४।१३]

सर्वत्र समदर्शन करता हुआ तथा—

'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' [श्वे० उ० ६।११]

आत्मा को द्वन्द्वों का साक्षी समझता हुआ निर्द्वन्द्व-मुक्त हो जा। देखो, इस शरीर का सुखी-दुःखी होना प्रारब्धाधीन है, पुरुषार्थाधीन नहीं। इसलिये योग-क्षेम—

'अप्राप्त प्रापणं योगः क्षेमस्तु स्थित रक्षणम्'[2]

की चिन्ता से मुक्त हो जा, क्योंकि योग-क्षेम की चिन्ता करनेवाला अर्थात् संग्रह परिग्रह करने वाला पुरुष संगृहीत वस्तुओं में आसक्त होने के कारण

१. द्वन्द्वरहित, नित्य सत्त्वगुण में स्थित, सर्वत्र समदर्शन करनेवाला।
२. अप्राप्त की प्राप्ति योग और प्राप्त की रक्षा का नाम क्षेम है।

परमात्मा को नहीं प्राप्त कर सकता। इसलिये तू आत्मवान होकर अर्थात् 'मैं आत्मा हूँ, शरीर नहीं' इस प्रकार आत्मा के अजरत्व, अमरत्व एवं निर्विकारत्व को जानकर शरीर तथा प्रारब्ध की कल्पना से मुक्त हो जा, क्योंकि—

'अजरोऽस्म्यमरोऽस्मीति य आत्मानं प्रपद्यते।'
तदात्मना तिष्ठतोऽस्य कुतः प्रारब्ध कल्पना॥'[1]

[अ० उ० ५५]

'अध्यस्तस्य कुतो जन्म जन्माभावे कुतः स्थितिः'[2]

[ना० वि० उ० २५]

अधिष्ठानस्वरूप आत्मा में अध्यस्त शरीर का जन्म-भाव नहीं है, तो फिर ऐसी अवस्था में शरीर की स्थिति कैसे होगी ? और जब शरीर की स्थिति ही नहीं तो उसके भरण-पोषण की चिन्ता ही क्या ? देख श्रुति भी यही कहती है कि—

'आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्॥'

[बृ० उ० ४।४।१२]

जिसने अद्वितीय, सर्वगत् एवं निर्विकार, निरिच्छ तथा कामनाशून्य सर्वाधिष्ठानस्वरूप आत्मा को जान लिया, वह अध्यस्त मिथ्या शरीर के पीछे क्यों संतप्त होगा ?

अभिप्राय यह है कि सर्वात्मदर्शी केवल प्रतीतिमात्र इस मिथ्या शरीर की जीवनयात्रा में येनकेन प्रकरेण सन्तुष्ट होगा॥ ४५॥

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥ ४६॥

मनुष्य का छोटे जलाशय में जितना [स्नान, पानादि का] प्रयोजन

---

१. मैं अजर हूँ, मैं अमर हूँ, इस प्रकार जो आत्मानुसंधान करता है, उस आत्मस्वरूप से ही सदा स्थित रहनेवाले के लिये प्रारब्ध की कल्पना कहाँ ?

२. अध्यस्त का जन्म कहाँ ? और जन्माभाव में स्थिति कहाँ ?

होता है, उतना ही प्रयोजन सब ओर से परिपूर्ण एक बड़े जलाशय से भी सिद्ध हो जाता है।

अभिप्राय यह है कि बड़े जलाशय की प्राप्ति पर छोटा जलाशय छूट जाता है अर्थात बड़े जलाशय में छोटे जलाशय का अन्तर्भाव हो जाता है।

जैसे कोई पुरुष दरवाजे पर लहराते हुए सागर को देखकर कूप-तलैया आदि पर स्नान नहीं कर सकता, वैसे ही ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण—

'सर्वमिदमहं च ब्रह्मैव'

'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति' [गी० ७।७]

'अहमेवेदं सर्वम्' [छा० उ० ७।२५।१]

'यह सब और मैं ब्रह्म ही हूँ', 'मुझसे भिन्न अणुमात्र भी नहीं है', 'यह सब मैं ही हूँ' इस अनुभव से युक्त हो—

'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति'

[बृ० उ० ४।३।३२]

सागरस्वरूप पूर्ण ब्रह्मानन्द को 'जिसके लेशमात्र आनन्द से सर्वभूतप्राणी जीते हैं', आत्मरूप से प्राप्तकर—

'स वा एष एवं पश्यन्' [छा० उ० ७ २५।२]

सर्वत्र अपने अखंडत्व, निर्विकारत्व तथा सुखस्वरूपत्व को देखता, सुनता एवं समझता हुआ, आत्मा से रति प्रीति और क्रीड़ा करता हुआ—

'समोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा' [क० उ० १।२।१३]

मोदनीय ब्रह्मामृत को पीकर अमर कृतकृत्य हो जाता है। फिर उसके लिये वैदिक कर्मरूपी क्षुद्र कूपादि [यज्ञ, दान, तप अध्ययन व्रतादि] छूट जाते हैं— अर्थात् ब्रह्मानन्द में उनका अंतर्भाव हो जाता है। जैसे कि श्रुति भी कहती है—

'अमृतेन तृप्तस्य पयसा किं प्रयोजनम्।
एवं स्वात्मानं ज्ञात्वा वेदैः प्रयोजनं किं भवति॥'

[पै० उ० ४।६]

'ग्रन्थमभ्यस्य मेधावी ज्ञानविज्ञानतत्त्वतः।
पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद्ग्रंथमशेषतः॥'

[ब्र० बिन्दु० उ० १८]

'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते' [गी० ४।३३]

"जिस प्रकार अमृत से तृप्त पुरुष को दूध से कोई प्रयोजन नहीं होता, उसी प्रकार स्वात्मानन्द को जाननेवाले को वेदों से कोई प्रयोजन नहीं होता।'

'जैसे धान्यार्थी पलाल का त्याग कर देता है, वैसे ही मेधावी पुरुष ग्रंथ का अभ्यास करके ज्ञान-विज्ञान को तत्त्वतः जानकर ग्रन्थ का अशेषतः त्याग कर देता है।'

'हे पार्थ! संपूर्ण कर्म ज्ञान में ही परिसमाप्त होते हैं॥ ४६ ॥

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ ४७ ॥

अर्जुन ' तुझ मुमुक्षु का कर्म में ही अधिकार है। देख, श्रुति भी यही कहती हैः—

'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' [1] [श्रुति]

'धर्मेण पापमपनुदन्ति धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं;[2]
तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति'

[म० ना० उ० २२।१]

'धर्मेण मोक्षं लभते मनुष्यः'[3] [ब्र० पु० २४५।३७]

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ँ समाः'[4]

[ई० उ० २]

कर्मों के मुख्य फल नैष्कर्म्य-संन्यास में नहीं। दूसरे, तेरा कर्मों के गौण फल में भी अधिकार नहीं है; क्योंकि—

'कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी'[5] [श्वे० उ० ६।११]

---

१. जब तक जीवे तब तक अग्निहोत्र करे।

२. धर्म के द्वारा पाप का नाश करते हैं, धर्म में ही सब प्रतिष्ठित हैं, इसलिये धर्म को सर्वश्रेष्ठ कहते हैं।

३. धर्म से मनुष्य मोक्ष को प्राप्त करता है।

४. इस संसार में कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करे।

५. सबका अध्यक्ष, सब भूतों में निवास करनेवाला, साक्षी।

फल सर्वसमर्थ परमात्मा के अधीन है, जिसमें तेरा या अन्य किसी का कोई भी वश नहीं है। तू फल की इच्छा मत कर; क्योंकि यह बन्धन का हेतु है। इसलिये कर्मफल का हेतु—सकामी मत हो अर्थात् निष्कामी हो, क्योंकि—

'कृपणाः फलहेतवः' [गी० २।४६]

'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः'[1] [वृ० उ० ३।८।१०]

फलेच्छुक आत्मतत्त्व को न जानने के कारण बार-बार जन्म मृत्यु को प्राप्त होते रहने से कृपण हैं। तथा तेरी कर्म न करने में भी आसक्ति न हो अर्थात् 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' ऐसा दुराग्रह मत कर; क्योंकि आरुरुक्षु पुरुष श्रद्धा सहित निष्काम कर्म के द्वारा—

'बुद्धि प्रसादाच्च शिव प्रसादाद् गुरु प्रसादात्पुरुषस्य मुक्तिः'[2]

ईश्वर तथा बुद्धि आदि की प्रसन्नता से मोक्ष प्राप्त कर सकता है, अन्य उपाय से नहीं ॥ ४७ ॥

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ ४८ ॥

धनंजय! तू योग में अर्थात् समस्वरूप परमात्मा में सदैव स्थित हो, परमात्मदृष्टि से परमात्मा के लिये फलासक्ति तथा कर्तृत्वाभिमान का त्याग कर सिद्धि-असिद्धि में सम होकर कर्म कर; क्योंकि समता को ही योग—

'निर्दोषं हि समं ब्रह्म' [गी० ५।१९]

परमात्मा कहते हैं।—

अभिप्राय यह है कि तू अपनी मनोवृत्ति, बुद्धिवृत्ति, चित्तवृत्ति तथा अहंकार को मुक्त समस्वरूप परमात्मा में स्थित करके विहित [हिंसात्मक क्रूर] कर्म को करता हुआ भी विषम नाम रूपात्मक द्वन्द्वों से मुक्त हो जायेगा अर्थात् समस्वरूप अधिष्ठान परमात्मा में विषम द्वन्द्व स्वरूप नाम रूपात्मक विश्व-प्रपंच का अभाव देखता हुआ तथा सर्वत्र—

१. हे गार्गि! जो इस अक्षर पुरुष को बिना जाने हुए ही इस लोक से प्रयाण करता है, वह कृपण है।
२. बुद्धि के प्रसाद से, शिव के प्रसाद से एवं गुरु के प्रसाद से पुरुष की मुक्ति होती है।

'योगिनोऽव्यवधानेन तदा संपद्यते स्वयम्'[1]
[श्वे० उ० ५।७८]

व्यवधानरहित—प्रत्यक्ष-सर्वगत् चैतन्य सत्ता को देखता, सुनता एवं समझता हुआ, स्वरूपानन्द को प्राप्त करके कृतकृत्य हो जायेगा ॥ ४८ ॥

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ ४९ ॥

हे धनंजय ! बुद्धियोग—मोक्ष प्रदान करनेवाले निष्काम कर्मयोग की अपेक्षा सकाम कर्म जन्म-मृत्यु का हेतु होने के कारण अत्यन्त अवर—निकृष्ट है।

देख, श्रुति भी यही कहती है:—

'एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा[2]
जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ॥'
[मु० उ० १।२।७]

'यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागा-
त्तेनातुराः क्षीण लोकाश्च्यवन्ते ॥'[3]
[मु० उ० १।२।९]

इसलिये मोक्ष प्रदान करनेवाली समत्व बुद्धि के शरणापन्न होकर सर्वात्म दर्शन के द्वारा कृतकृत्य हो जा, क्योंकि ये फल के हेतु बने हुये—फलेच्छुक अनात्मदर्शी, अजितेन्द्रिय पुरुष कृपण-अधम हैं। जैसा कि कहा भी गया है—

'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः'
[बृ० उ० ३।८।१०]

'कृपणो योऽजितेन्द्रियः' [श्री० भा० ११।१९।४४]

'हे गार्गि ! जो इस अक्षर को जाने बिना इस लोक से चला जाता है वह कृपण है।'

---

१. तब योगी स्वयं अपरोक्ष रूप से ब्रह्म में प्रतिष्ठित होता है।
२. जो मूढ़ 'यही श्रेय है' इस भाँति इसका स्वागत करते हैं, वे फिर भी जरा-मरण को प्राप्त होते रहते हैं।
३. सकामकर्मियों को राग के कारण तत्त्वज्ञान नहीं होता, इसलिये वे दुःखार्त होकर कर्मफल क्षीण होने पर स्वर्ग से च्युत हो जाते हैं।

'जो अजितेन्द्रिय है, वह कृपण है।' ॥ ४६ ॥

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृत दुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥ ५० ॥

मुमुक्षु सर्वत्र समत्व-परमात्मबुद्धि से युक्त होकर शास्त्रविहित हिंसात्मक क्रूर कर्म करता हुआ भी—

'चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम्'
[मैत्रे० उ० ११६]

चित्त की शुद्धि से आत्मसाक्षात्कार के द्वारा शुभाशुभ कर्म को हनन करके अपने अखण्डत्व, निर्विकारत्व तथा सर्वात्मत्व का अनुभव कर—

'उभे ह्येवैष एते आत्मानं स्पृणुते'[1] [तै० उ० २।६]

पाप-पुण्य को आत्मरूप से विषय करता हुआ—

'पुण्यपापे विधूय' [मु० उ० ३।१।३]

यही बाते की पाप-पुण्य से मुक्त हो अमृतत्व लाभ करता है। इसलिये अर्जुन! तू एकत्वदर्शनार्थ एवं शोक-मोह से मुक्त होने के लिये योग-समत्वबुद्धि से युक्त हो; क्योंकि योग ही शुभाशुभ कर्मों में सम रहता हुआ मोक्ष प्रदान करने में कुशल-निपुण है अर्थात् योग ही परमात्म-साक्षात्कार का एकमात्र हेतु है ॥ ५० ॥

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ ५१ ॥

विवेकीजन समत्व बुद्धियोग से ईश्वरार्थ कर्म करते हुए कर्मजनित फल का त्याग करके विशुद्ध सत्त्व होकर ब्रह्मात्मैक्य दृष्टि के द्वारा जन्म मृत्यु रूप बन्धन से मुक्त होकर सर्वानर्थ-निवृत्तिरूप परमानन्दस्वरूप अनामय सर्वोपद्रवशून्य—

'सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्'[2]
[क० उ० १।३।६]

विष्णु के परमपद को प्राप्त करते हैं।

अभिप्राय यह है कि फल त्याग में ही अमृतत्व निहित है। इसलिये तू फलासक्ति से मुक्त हो कर्म कर ॥ ५१ ॥

---

१. उसे ये दोनों आत्मस्वरूप ही दिखाई देते हैं।

२. वह संसार मार्ग से पार होकर उस विष्णु के परम पद को प्राप्त करता है।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ ५२ ॥

अर्जुन ! जब इस प्रकार तुम्हारी विशुद्ध बुद्धि फलासक्ति से मुक्त होकर मोहकलिल–देहाभिमान रूपी कलिल–दलदल को—

'देहोऽहमिति संकल्पो महत्संसार उच्यते ।
देहोऽहमिति संकल्पस्तद्बन्धमिति चोच्यते ॥'[1]

[ते० बि० उ० ५।९०]

'देहोऽहमिति यद्भानं तदेव नरकं स्मृतम्'[2]

[ते० बि० उ० ५।९१]

'देहोऽहमिति संकल्पो हृदयग्रन्थिरीरितः'[3]

[ते० बि० उ० ५।९२]

'देहोऽहमिति यज्ज्ञानं तदेवाज्ञानमुच्यते'[4]

[ते० बि० उ० ५।९३]

'देहोऽहमिति या बुद्धिः सा चाविद्येति भण्यते'[5]

[ते० बि० उ० ५।९४]

बन्धन का हेतु समझकर तर जायेगी अर्थात्—

'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' [श्रुति]

'यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः ।
नश्वरं गृह्यमाणं च विद्धि मायामनोमयम् ॥'

[भा० भा० ११।७।७]

जब मन से, वाणी से, नेत्र से और श्रोत्रादि से ग्राह्य माया तथा मनोरचित इस लोकलोकान्तर को विनश्वर—मिथ्या तथा ब्रह्म को सत्य समझ लेगी, उस काल में तुझे पहले सुने हुए तथा भविष्य में सुनने योग्य सम्पूर्ण विषयों से वैराग्य हो जायेगा। तत्पश्चात् तू ब्रह्म-साक्षात्कार का अधिकारी होगा ॥ ५२ ॥

---

१. 'मैं देह हूँ' इस संकल्प को ही महान् संसार कहते हैं।
'मैं देह हूँ' इस संकल्प को ही बन्धन कहते हैं।
२. मैं देह हूँ' इस प्रतीति को ही नरक कहते हैं।
३. 'मैं देह हूँ' इस संकल्प को ही हृदयग्रन्थि कहते हैं।
४. 'मैं देह हूँ' इस ज्ञान को ही अज्ञान कहते हैं।
५. 'मैं देह हूँ' इस बुद्धि को ही अविद्या कहते हैं।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ ५३ ॥

अर्जुन! जब हमारे इस गुह्यतम उपदेश से सकामता के कारण तेरी भ्रमित—विक्षिप्त बुद्धि परमात्मा में समाहित और अचल हो जायेगी अर्थात्—

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' [तै० उ० २।१]
'सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन' [नि० उ०]
'एकमेवाद्वयं ब्रह्म' [श्र० उ० ६३]
'वासुदेवः सर्वमिति' [गी० ७।१६]
'सर्वमिदमहं च ब्रह्मैव'

'सत्य, ज्ञान, अनन्त ब्रह्म है', 'यह सब ब्रह्म है इसमें किंचित् मात्र भी नानात्व नहीं है', 'ब्रह्म एक अद्वितीय है' 'यह सब वासुदेव है', 'यह सब और मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार के अनुभव से ब्रह्मात्मैक्य विज्ञान से युक्त हो जायेगी, तब तू योग को प्राप्त करेगा अर्थात् सर्वात्मदर्शन के द्वारा समाधिस्थ होगा ॥ ५३ ॥

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत् किम् ॥ ५४ ॥

अर्जुन योगेश्वरेश्वर, सच्चिदानन्दघन, आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र से बोला कि हे केशव!

'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति'[1] [मु० उ० ३।२।६]

जो ब्रह्मस्वरूप आपका आत्मा आपको अतिशय प्रिय है, उस स्थितप्रज्ञ–समाधिस्थ महात्मा के क्या लक्षण हैं? वह कैसे बोलता है? कैसे बैठता है? और कैसे चलता है? बतलाने की कृपा कीजिये, जिससे उसके समागम से लाभ उठा सकें ॥ ५४ ॥

श्री भगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ ५५ ॥

---

१. ब्रह्म को जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है।

हे पार्थ ! जिस काल में मुमुक्षु—

'दृश्यासंभवबोधेन रागद्वेषादितानवे ।'
रतिर्बलोदिता यासौ समाधिरभिधीयते ॥'[१]

[म० उ० ४।६२]

सर्वात्मदर्शन के द्वारा दृश्यप्रपंच का आत्यन्तिक अभाव देखने के कारण राग-द्वेष के पूर्णतया क्षीण हो जाने पर मनोगत संपूर्ण कामनाओं—वासनाओं से मुक्त हो जाता है—

'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः'[२]

[क० उ० २।३।१४]

उस काल में—

'स वा एष एवं पश्यन्' [छा० उ० ७।२५।२]

यह सर्वत्र आनन्दैकरसस्वरूप आत्मा से आत्मा को देखता एवं सुनता हुआ,

'आत्मन्येव सुखासीनः' [ते० वि० उ० ३।२४]

स्वात्मा में सुख से आसीन होकर स्वात्मा से ही रति, प्रीति तथा क्रीड़ा करता हुआ,

'स्वात्मराज्ये सुखे रमे' [ते० वि० उ० ३।२५]

स्वाराज्य में सुखपूर्वक स्वात्मा से रमण करता हुआ—

'स्वयमेव स्वयं भुंजे स्वयमेव स्वयं रमे'

[ते० वि० उ० ३।२३]

स्वयं ही स्वयं को भोगता हुआ—

'स मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा' [क० उ० १।२।१३]
'प्रसन्नात्मात्मनि स्थित्वा सुखमक्षयमश्नुते'[३]

[मैत्रे० उ० १।६]

---

१. जब दृश्य के आत्यन्तिक अभाव के बोध के द्वारा राग-द्वेष पूर्णरूपेण क्षीण हो जाते हैं, तब ब्रह्माभ्यास के बल से जो ऐकान्तिक रति उत्पन्न होती है, उसे समाधि कहते हैं ।

२. जिस काल में समस्त कामनायें जो इसके हृदय में स्थित हैं छूट जाती हैं ।

३. विशुद्धान्तःकरण पुरुष अपने स्वरूप में स्थित होकर अक्षय सुख को प्राप्त करता है ।

मोदनीयं—स्वात्मानन्द को प्राप्तकर मुदित हो जाता है अर्थात् अक्षय सुख को प्राप्त कर—

'विद्वानमृत इह भवति' [नृ० पू० उ० १।६]

यहीं-जीते जी अमर, कृतकृत्य हो जाता है। अभिप्राय यह है कि जो पुरुष—

'स्वात्मनैव सदा तुष्टः' [आ० उ० १२]

'स्वमात्मनि स्वयं तृप्तः' [ते० वि० उ० ४।८१]

स्वात्मानन्द में ही सदैव तुष्ट-तृप्त रहने के कारण—

'ब्रह्मानन्दे निमग्नस्य विषयाशा न तद्भवेत्'[1]

[आ० प्र० उ० १६]

सांसारिक विषय-वासनाओं तथा एषणाओं से पूर्णरूपेण मुक्त है—

'निर्विकल्पा च चिन्मात्रा वृत्तिः प्रज्ञेति कथ्यते'
सा सर्वदा भवेद्यस्य स जीवन्मुक्त इष्यते ॥'

[अ० उ० ४४]

तथा जो निर्विकल्प चिन्मात्र प्रज्ञा—वृत्ति से सदैव युक्त रहता है वह स्थित-प्रज्ञ—जीवन्मुक्त है ॥ ५५ ॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥

जो अविज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्व में अध्यस्त सुखदुःखादि द्वन्द्वों का अभाव देखने के कारण दैहिकादि तापत्रय के प्राप्त होने पर व्यथित नहीं होता और न सांसारिक सुखों की प्राप्ति पर सुखी ही होता है—

'सुखदुःखदशाधीरं साम्यान्न प्रोद्धरन्ति यम्'

[अन्न० उ० ४।१२]

'जीवन्मुक्ता न मज्जन्ति सुखदुःखरसस्थिते'[2]

[म० उ० ५।३७]

तथा जो सर्वात्मदर्शन के कारण इष्ट-अनिष्ट, शत्रु मित्रादि के प्राप्त होनेपर शत्रु से क्रोध-द्वेष और मित्र से राग-प्रेम नहीं करता। तथा जो अपने

---

१. ब्रह्मानन्द में निमग्न पुरुष को विषय की इच्छा नहीं होती है।

२. जीवन्मुक्त पुरुष सुख-दुःख के अनुभव की स्थिति में निमग्न नहीं होते।

को अक्षर, अमर एवं अनादि जानने के कारण मृत्यु से भी भयभीत नहीं होता।

अभिप्राय यह है कि जो सर्वात्मदर्शी पुरुष सुख में सुखी, दुःख में दुःखी, राग में रागी, भय से भयभीत तथा क्रोध से क्रोधित होकर नहीं बोलता।

अथवा जो—

'रागद्वेषभयादीनामनु रूपं चरन्नपि।[1]
योऽन्तर्व्योमवदच्छः स जीवन्मुक्त उच्यते॥'

[व० उ० ४।२४]

वाह्यदृष्टि से राग-द्वेष से युक्त होकर व्यवहार करता हुआ भी अन्तर्दृष्टि से व्योमवत् अपने सर्वगतत्व, साक्षित्व तथा निर्विकारत्व में सदैव सम, शान्त रूप से स्थित रहता है, वह स्थितप्रज्ञ है॥ ५६॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ५७॥

जो पुरुष—

इदं रम्यमिदं नेति बीजं ते दुःख संततेः।
तस्मिन्साम्याग्निना दग्धे दुःखस्यावसरः कुतः॥'

[अन्न० उ० ५।७०]

रम्य-अरम्य को दुःखसंतति का हेतु जानकर इनको साम्याग्नि-सर्वात्मदर्शन के द्वारा दग्ध कर दिया है। तथा जो—

'न स्तौमि न च निन्दामि आत्मनोऽन्यन्नहि क्वचित्'

[अन्न० उ० ५।५६]

आत्मा से भिन्न कुछ न देखने, सुनने एवं समझने के कारण शुभ-कुशल कार्य के प्राप्त होने पर न तो उसकी स्तुति करता है और न अशुभ-अकुशल कार्य के प्राप्त होने पर उसकी निन्दा ही करता है। अथवा जो प्रारब्धानुसार शुभाशुभ, इष्टानिष्ट, सुखदुःख तथा शत्रुमित्रादि की प्राप्ति पर हर्ष-शोक को नहीं प्राप्त होता; किन्तु—

---

१. बाहर राग-द्वेषादि से युक्त व्यवहार करता हुआ प्रतीत होने पर भी भीतर जिसका स्वरूप आकाश की तरह अत्यन्त स्वच्छ हो, उसे ही जीवन्मुक्त जानना चाहिये।

संसार के दोष को देखते हुए, वैराग्य राग का रसिक हो, मोक्ष के द्वार शम, विचार, संतोष तथा सत्संग से सदैव युक्त रहते हुए, इन्द्रिय-निग्रह तथा मनोजय के द्वारा सर्वात्मदर्शन ही करना चाहिये, कभी भी द्वैतदर्शन को अवकाश नहीं देना चाहिये ॥ ६० ॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥

इस प्रकारइन्द्रियों के दोषों को जानकर मत्पर हो अर्थात्—

'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति' [गी० ७।७]

'अहमेवाक्षरं ब्रह्म वासुदेवाख्यमद्वयम्'

[ना० प० उ० ३।२०.]

'सर्वमिदमहं च वासुदेवः'

'मुझसे भिन्न अणुमात्र भी नहीं है, 'मैं ही वासुदेव संज्ञक अक्षर, अद्वयब्रह्म हूँ' यह सब और मैं वासुदेव ही हूँ' इस सर्वात्मबुद्धि के द्वारा विषयों का अभाव देखता हुआ इन्द्रियों को वश में कर ले; क्योंकि आत्मसाक्षात्कार इन्द्रिय निग्रह पर ही अवलंबित है और इन्द्रिय-निग्रह आत्म साक्षात्कार पर। जैसा कि मनु जी तथा याज्ञवल्क्य जी ने भी कहा है—

परन्तु जो पुरुष अजितेन्द्रिय—विषयासक्त है, वह गुणबुद्धि से विषयों का बार-बार चिन्तन करने से संग—आसक्ति को प्राप्त होता है और आसक्ति से उस वस्तु की प्राप्ति के प्रति प्रबल कामना उत्पन्न होती है और कामना की पूर्ति में किसी प्रकार का विघ्न उपस्थित होने पर क्रोध की उत्पत्ति होती है। ऐसा ही श्री मद्भागवत में भी कहा गया है—

'विषयेषु गुणाध्यासात् पुंसः सङ्गस्ततो भवेत्।
सङ्गात्तत्र भवेत् कामः कामादेव कलिर्नृणाम्॥
कलेर्दुर्विषहः क्रोधः' [श्री० भा० ११।२१।१६, २०]

'विषयों में गुणों का आरोप करने से मनुष्य की उस वस्तु की प्राप्ति के प्रति संग—आसक्ति हो जाती है और आसक्ति से उसकी प्राप्ति के लिये कामना होती है और कामना की पूर्ति में बाधा पड़ने पर परस्पर कलह होने लगता है और कलह से दुःसह क्रोध की उत्पत्ति होती है॥ ६२॥

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥ ६३॥

क्रोध से संमोह—मूढ़ता की सृष्टि होती है, जिससे कर्तव्याकर्तव्य की बुद्धि नष्ट हो जाती है। इसीलिये मनुष्य इस अवस्था में परमपूज्य ईश्वरतुल्य गुरु तथा माता-पितादि का भी तिरस्कार कर बैठता है। फिर संमोह से स्मृति [शास्त्र और आचार्यों से उपदिष्ट स्मृति] नष्ट हो जाती है अर्थात्—

'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म' [बृ० उ० ३।४।१]
'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' [छा० उ० ३।१४।१]
'सर्वमिदमहं-च वासुदेवः'

'जो साक्षात् प्रत्यक्ष है वह ब्रह्म है', 'यह सब ब्रह्म ही है', 'यह सब और मैं वासुदेव ही हूँ' की स्मृति नष्ट हो जाती है और स्मृति के नष्ट होने से बुद्धि—ब्रह्मविषयिणी व्यवसायात्मिका बुद्धि का भी नाश हो जाता है अर्थात् अव्यवसायात्मिका बुद्धि से युक्त होने के कारण परमार्थ साधन से नष्ट-च्युत हो जाता है। ऐसा ही कहा भी गया है—

'प्रसन्नात्मात्मनि स्थित्वा सुखमव्ययमश्नुते'
[मैत्रे० उ० ११६]

आत्मा में स्थित होकर सर्वत्र अपने अनन्तत्व, अद्वितीयत्व एवं निर्विकारत्व को देखता, सुनता एवं समझता हुआ अद्वयानन्द, भूमानन्द, निरतिशयानन्द को प्राप्त कर शीघ्र ही बुद्धि की स्थिरता को प्राप्त करता है ॥ ६५ ॥

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ ६६ ॥

जिन देहाभिमानी अयुक्त पुरुषों का अन्तःकरण समाहित—वश में नहीं है, उन—

'ज्ञानं नोत्पद्यते पुंसां पापोपहतचेतसाम्'[1]
[स्मृति]

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' [तै० उ० २।१]

अशान्त, पापग्रस्त विद्वानों में सत्य, ज्ञानस्वरूप ब्रह्म को ग्रहण करने की व्यवसायात्मिका बुद्धि नहीं होती ।

'नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥'
[क० उ० १।२।२४]

और इस बुद्धि के न होने के कारण—

'सद्धिदं सर्वम्' [वृ० उ० उ० ७]
,चिद्धिदं सर्वम्' [नृ० उ० उ० ७]
'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' [छा० उ० ३।१४।१]
'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति'[[गी० ७।७]

'यह सब सत् है', 'यह सब चित् है', 'यह सब ब्रह्म ही है', 'मुझसे भिन्न अणुमात्र भी नहीं है'—इस शोक-मोह विनाशिनी सर्वात्मदृष्टि की भी भावना नहीं होती; क्योंकि जिस अव्यवसायी बुद्धि में असार संसार की भावना दृढ़मूल हो रही है, उसमें सर्वात्मदृष्टि का होना असंभव है और जो इस प्रकार राग-द्वेषात्मक अशान्त संसार की भावना से युक्त है, उसको

---

१. पाप से ग्रस्त अन्तःकरण वाले पुरुषों को ज्ञान नहीं होता है ।

चित्तोपरतिरूप शान्ति कैसे हो सकती है ? और चित्तोपरतिरूप शान्ति के अभाव में—

'यो वै भूमा तत्सुखम्' [छा० उ० ७।२३।१]

सुख—भूमासुख—ब्रह्मानन्द की प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

अभिप्राय यह है कि अजितेन्द्रिय, अनात्मज्ञ, नास्तिक पुरुष मोक्षानन्द को न प्राप्त करके असत् संसार की सत् मान्यता तथा सत् ब्रह्म की असत् मान्यता के कारण—

'असन्नेव स भवति ॥ असद्ब्रह्मेति वेद चेत्'[1]
[तै० उ० २।६]

असत्—अस्तित्वशून्य हो जाता है, वह—

'न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति'
[क० उ० १।३।७]

परमात्मपदरूप अक्षय सुख को न प्राप्त कर बार-बार जन्म-मृत्युरूप सांसारिक दुःख को ही प्राप्त करता रहता है ॥ ६६ ॥

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ ६७ ॥

क्योंकि विषयों में स्वच्छन्दरूप से प्रवृत्त एक इन्द्रिय के साथ भी यदि मन का योग हो जाता है, तो वह विषयासक्त प्रमथन स्वभाववाला चंचल मन—

'इन्द्रियाणां प्रसंगेन दोषमृच्छत्यसंशयः'
[ना० प० उ० ३।३६]

'बन्ध इन्द्रियविक्षेपः'[2] [श्री० भा० ११।१९।२२]

'विषयेन्द्रिय संयोगान्मनः क्षुभ्यति नान्यथा'[3]
[श्री० भा० ११।२६।२२]

इन्द्रियों के संसर्ग से आत्म-अनात्म विवेक संपन्न आत्माभिमुखी बुद्धि को बलात् आत्मा से खींचकर अनात्म संसार की ओर प्रवृत्त कर जन्म-मृत्यु

---

१. यदि पुरुष 'ब्रह्म असत्' ऐसा मानता है, तो वह स्वयं भी असत् ही हो जाता है ।

२. इन्द्रियों का विक्षेप ही ~~संयम~~ बन्ध है ।

३. विषय और इंद्रियों के संयोग से ही मन क्षुब्ध होता है अन्यथा नहीं ।

रूप बन्धन उपस्थित कर देता है। जैसे प्रतिकूल वायु जल में चलनेवाली नाव को गन्तव्य स्थान के ठीक विपरीत करके भँवर में डुबो देती है ॥ ६७ ॥

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६८ ॥

ये विषयाभिमुख इन्द्रियाँ अनर्थ की हेतु हैं, इसलिये हे महाबाहो !

'संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं निगच्छति'
[ना० प० उ० ३।३६]

'मोक्ष पर्वा च संयमः'[1] [श्री० भा० ११।१८।२२]

जो इन्द्रिय-संयम को ही मोक्ष समझकर सर्वात्मदर्शन के द्वारा इन्द्रियों को सब ओर से अर्थात् उनके रसादि विषयों से मन सहित पूर्णतया वश में कर लिया है, उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित है ॥ ६८ ॥

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ ६९ ॥

जो सच्चिदानन्दघन परमात्मतत्त्व—

'अविद्या रात्रिरुच्यते' [सं० उ० २।८३]

अविद्या रूप रात्रि से ग्रस्त द्वैतदर्शी संपूर्ण भूतप्राणियों के लिये अज्ञात होने के कारण रात्रि के तुल्य रात्रि है, उसमें —

'विद्या दिवा प्रकाशत्वात्' [सं० उ० २।८३]

अविद्या रूप रात्रि से मुक्त ब्रह्मविद्या रूप दिन में जगा हुआ ज्ञातज्ञेय, अभेद-दर्शी जितेन्द्रिय पुरुष जागता है अर्थात्—

'स वा एष एवं पश्यन्' [छा० उ० ७।२५।२]

वह उस सच्चिदानन्दघन परमात्मतत्व को प्रत्यक्षतः सर्वत्र देखता, सुनता एवं समझता हुआ, उसी से रति, प्रीति, क्रीड़ा तथा आनन्द करता है और जिस अविद्या के कार्य मिथ्याभूत विश्व प्रपंच में द्वैतदर्शी—

'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति'[2]
[बृ० उ० ४।५।१५]

---

१. इन इन्द्रियों का संयम ही मोक्ष है।
२. जिस अज्ञानावस्था में द्वैत सा होता है, वहीं अन्य अन्य देखता है।

अन्य से अन्य को देखता हुआ जागता है, उसमें—

'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्'[1]

[बृ० उ० ४।५।१५]

द्वैताभाव देखनेवाला अभेददर्शी मुनि सोता है अर्थात् उसका अभाव देखता है।

जैसा श्रुति भी कहती है—

यत्र सुप्ता जना नित्यं प्रबुद्धस्तत्र संयमी।[2]
प्रबुद्धा यत्र ते विद्वान्सुषुप्तिं याति योगिराट्॥

[या० उ० २२]

जैसे नाम-रूपात्मक कुण्डल की दृष्टि से स्वर्ण का अभाव है और स्वर्ण की दृष्टि से नाम रूपात्मक कुंडल का अर्थात् कुंडल स्वर्ण से सोया हुआ है और स्वर्ण कुंडल से, वैसे ही नाम-रूपात्मक जगत् रूपी कुंडल की दृष्टि से परमात्मतत्त्वरूपी स्वर्ण का अभाव है और परमात्मतत्त्वरूपी स्वर्ण की दृष्टि से जगत् रूपी कुण्डल का।

अभिप्राय यह है कि जो अविद्याग्रस्त विवेक बुद्धि शून्य असंयमी मूढ़ पुरुष असत् नाम रूपात्मक जगत् के उपासक हैं, वे—

'उलूकस्य यथा भानुरन्धकारः प्रतीयते।[3]
स्वप्रकाशे परानन्दे तमो मूढस्य जायते॥'

[आ० प्र० उ० २५]

उलूकवत् प्रकाशस्वरूप परमात्मा रूपी सूर्य में अन्धकारस्वरूप नाम-रूपात्मक जगत् को देखने के कारण उसमें जगे हुए हैं और प्रकाश स्वरूप

---

१. किन्तु जहाँ इसके लिये सब आत्मा ही हो गया है, वहाँ किससे किसको देखे ?

२. जिस ब्रह्मतत्त्व में अज्ञ लोग नित्य सुप्त हैं, उसमें संयमी जागता है और जिस अविद्या के कार्य नाम-रूपात्मक विश्व प्रपंच में अज्ञानी पुरुष जगे हुए हैं, उसमें विद्वान् योगिराट् सोता है अर्थात् उसका अभाव देखता है।

३. जैसे उलूक को सूर्य में अन्धकार की प्रतीति होती है। वैसे ही मूढ़ को स्वयंप्रकाश परमानन्दस्वरूप आत्मा में अज्ञान की प्रतीति होती है।

परमात्मतत्व को न जानकर वेखबर सोये हुये हैं; परन्तु जो संयमी-ज्ञानवान् पुरुष—

'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' [श्रुति]

नाम रूप को मिथ्या जानकर उपरत हो गया है, वह सत्य परमात्मतत्व में जगा हुआ है अर्थात् उसको प्रत्यक्ष देखता है कि—

'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म' [बृ० उ० ३।४।१]
'मय्यतिरिक्तमणुमात्रं न विद्यते' [त्रि० म० उ० ८।१]
'वासुदेव सर्वमिति' [गी० ७।१६]

मुझसे भिन्न अणुमात्र भी नहीं है', 'सब कुछ वासुदेव ही है; नाम-रूपात्मक जगत् नाम की कोई वस्तु नहीं है' यही अभाव की दृष्टि महात्मा का नाम-रूप से सोना है। इससे सिद्ध हुआ कि ज्ञानी-अज्ञानी की दृष्टि में सर्वथा विरोध है अर्थात् ज्ञानी की दृष्टि में परमात्मा का भाव तथा जगत् का अभाव है और इसीलिए उसके लिए कर्म का भी अभाव है। और अज्ञानी की दृष्टि में जगत् का भाव तथा परमात्मा का अभाव है, इसीलिये उसके लिए कर्म का भाव है।

अर्जुन! इस प्रकार जो महात्मा अधिष्ठानस्वरूप सच्चिदानन्दघन परमात्मतत्व में अध्यस्त नाम-रूपात्मक विश्व प्रपंच का आत्यन्तिक अभाव देखता हुआ—

'तूष्णीमेव स्थितस्तूष्णीम्' [ते० बि० उ० ४।४०]

निःसंकल्प होकर तूष्णीरूप से अपने तूष्णीशान्तस्वरूप में स्थित रहता है, वह—

'ब्रह्मविदां वरिष्ठः' [मु० उ० ३।१।४]

ब्रह्म ज्ञानियों में श्रेष्ठतम है ॥ ६६ ॥

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥ ७० ॥

जिस प्रकार अचल प्रतिष्ठा से परिपूर्ण समुद्र नदियों के न्यूनाधिक जल को लेकर प्रवेश करने तथा न करने में निर्विकार, सम, शान्त रहता है अर्थात् नदियों के न्यूनाधिक जल को अपना स्वरूप बनाकर शांत रूप से

स्थित रहता है; वैसे ही सागरस्वरूप सर्वात्मदर्शी महात्मा अपने अचलत्व, परिपूर्णत्व, अद्वितीयत्व, सर्वगतत्व तथा निर्विकारत्वरूप प्रतिष्ठा में स्थित हो द्वैत-प्रपंच का आत्यन्तिक अभाव देखता हुआ, केवल—

'स वा एष एवं पश्यन्' [छा० उ० ७।२५।२]

आत्मा से ही रति, क्रीडा तथा आनन्द करता हुआ; अक्षयानन्द, भूमानन्द तथा ब्रह्मानंद को प्राप्तकर—

'ब्रह्मानन्दे निमग्नस्य विषयाशा न तद्भवेत्'
[आ० प्र० उ० १६]

'निरिच्छोः परिपूर्णस्य नेच्छा संभवति क्वचित्'[1]
[अन्न० उ० ४।७]

निरिच्छ, परिपूर्ण—

'पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्त्वि-
हैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ॥'[2]
[मु० उ० ३।२।२]

तथा आप्तकाम, पूर्णकाम हो समस्त विषय-वासनाओं, इच्छाओं एवं कामनाओं से पूर्णरूपेण मुक्त होकर—

'तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्'[3]
[क० उ० २।२।१३]

नित्य शान्ति को प्राप्त करता है।

अथवा जो महात्मा—

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' [छा० उ० ३।१४।१]
'आत्मैवेदं सर्वम्' [छा० उ० ७।२५।२]
'अहमेवेदं सर्वम्' [छा० उ० ७।२५।१]
'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति' [गी० ७।७]

---

१. निरिच्छ परिपूर्ण को कोई इच्छा नहीं होती है।

२. परन्तु आप्तकाम, कृतकृत्य पुरुष की संपूर्ण कामनायें इस जीवन में ही विलीन हो जाती हैं।

३. [जो धीर पुरुष हृदयस्थ आत्मतत्त्व को देखते हैं] उनको शाश्वत-सनातन-की-शान्ति की प्राप्ति होती है, दूसरे बहिर्मुखों को नहीं।

इस सर्वात्मदृष्टि से रूप, रसादि विषयों को तथा इनके भावाभाव को निर्विकार आत्मा जानने के कारण अनिच्छित प्रारब्धानुसार इनकी प्राप्ति-अप्राप्ति में निर्विकार, सम, शान्त रहता है, उस सागरस्वरूप—

'पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्त्विहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ॥'

[मु० उ० ३।२।२]

आप्तकाम, पूर्णकाम, सर्वात्मदर्शी महात्मा में समस्त कामनायें आत्मरूप से बिना विकार उत्पन्न किये ही प्रवेश कर जाती हैं, उसी को—

'तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्'

[क० उ० २।२।१३]

नित्य शान्ति की प्राप्ति होती है। परन्तु जो कामनाओं-विषय-वासनाओं के उपासक—

'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति'

[क० उ० २।१।१०]

द्वैतदर्शी कामुक पुरुष हैं, वे मृत्यु से मृत्यु को ही प्राप्त करते हैं, शान्ति को नहीं। इस प्रकार इस श्लोक से स्थितप्रज्ञ के बैठने का स्वरूप बतलाया गया ॥ ७० ॥

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥

जो सर्वात्मदर्शी सर्वात्मदर्शन के कारण—

'सर्वेच्छाः सकलाः शङ्काः सर्वेहाः सर्वनिश्चयाः।[1]
धिया येन परित्यक्ताः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥'

[म० उ० २।१८]

समस्त कामनाओं, शंकाओं, इच्छाओं और समस्त निश्चयों से मुक्त निर्विकल्पावस्था में स्थित हो—

'आत्मवत्सर्वभूतानि पश्यन्भिक्षुश्चरेन्महीम्'

[ना० प० उ० ४।२२]

---

१. जिसने संपूर्ण इच्छाओं, समस्त शंकाओं, संपूर्ण इहाओं एवं संपूर्ण निश्चयों को निर्विकल्प चिन्मात्र बुद्धि-वृत्ति के द्वारा परित्याग कर दिया है, वह जीवन्मुक्त है।

-संपूर्ण प्राणियों को आत्मरूप से देखता हुआ, संग्रह-परिग्रहशून्य किसी भी व्यक्ति, वस्तु, स्थान तथा विषय-वासना में स्पृहा न रखता हुआ—

'एकश्चरेन्महीमेतां निःसङ्गः संयतेन्द्रियः।
आत्मक्रीड आत्मरतिरात्मवान्समदर्शनः॥'

[ना० प० उ० ५।२५]

'आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह'

[ना० प० उ० ३।४४]

अकेले ही असंग, जितेन्द्रिय हो; सर्वत्र आत्मा को ही देखता, सुनता एवं समझता हुआ आत्मा से ही क्रीड़ा रति तथा आनंद करता हुआ आत्मवान् और समदर्शी हो, केवल आत्मा की ही सहायता से युक्त हो अर्थात् द्वैत की अपेक्षा से रहित अद्वैतनिष्ठ हो—

'यो वै भूमा तत्सुखम्' [छा० उ० ७।२३।१]

भूमासुख—अपरिच्छिन्नानन्द का आस्वादन करता हुआ—

'अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा चरति यो मुनिः।[१]
न तस्य सर्वभूतेभ्यो भयमुत्पद्यते क्वचित्॥'

[ना० प० उ० ५।१६]

सर्वभूतप्राणियों को निर्भयता प्रदान करता हुआ तथा स्वयं भी सर्वात्मदर्शन के कारण निर्भय होकर अपने अजरत्व, अमरत्व एवं अभयत्व में स्थित होकर विचरता है।

तथा जो—

'सन्तुष्टो येन केन चित्' [गी० १२।१६]

शरीर के भी मोह से मुक्त प्रारब्धानुसार जो कुछ भी प्राप्त हो जाता है उसमें येन-केन प्रकारेण संतुष्ट रहता है अर्थात् जो—

'नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम्'

[ना० प० उ० ३।६१]

शरीर के जीने-मरने में भी निर्मम हो गया है। तथा जो देह के भी अभिमान से मुक्त है अर्थात् जिसका अभिमान —

---

१. जो मुनि सर्वभूतप्राणियों को निर्भयता प्रदान करके स्वच्छंद विचरता है, उसको भी सर्वभूतप्राणियों से किंचित् मात्र कहीं भी भय उत्पन्न नहीं होता।

'अहमेवेदं सर्वम्' [छा० उ० ७।२५।१]
'आत्मैवेदं सर्वम्' [छा० उ० ७।२५।२]
'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' [बृ० उ० २।५।१]

'मैं ही यह सब हूँ', 'आत्मा ही यह सब है', 'ब्रह्म ही यह सब है' की दृष्टि से नष्ट हो ब्रह्मरूप-व्यापक हो गया है अर्थात् जो सर्वभूतप्राणियों का आत्मा और सर्वभूतप्राणी जिसके आत्मा हो चुके हैं, वह सर्वात्मदर्शी—

'ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति' [श्वे० उ० ४।१४]

व्यापक, निर्विकारस्वरूप शिव सत्ता को जानकर आत्यन्तिक शान्ति को प्राप्त करता है।

इस प्रकार इस श्लोक में स्थितप्रज्ञ के विचरने का स्वरूप बतलाया गया ॥ ७१ ॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ ७२ ॥

हे पार्थ ! यह ब्राह्मी—ब्रह्म को प्राप्त पुरुषों की स्थिति—अवस्था है; जब कि महात्मा—

'चिदेकत्वपरिज्ञाने न शोचति न मुह्यति'
[अन्न० उ० ४।३४]

चिदानन्दैकरसस्वरूप ब्रह्मामृत को पीकर अमर कृतकृत्य हो जाता है, फिर मोह—जन्ममृत्यु प्रदान करनेवाली अनात्म-बुद्धि को नहीं प्राप्त होता अर्थात् सदैव विदेहमुक्ति प्रदान करनेवाली ब्रह्माकारवृत्ति से ही युक्त रहता है। जैसा कि श्रुति भी कहती है—

'एषा ब्राह्मी स्थितिः स्वच्छा निष्कामा विगतामया ।
आदाय विहरन्नेवं संकटेषु न मुह्यति ॥'[1]
[म० उ० ६।७३]

उस ब्रह्मभूतमहात्मा की दृष्टि में नाम-रूपात्मक विश्वप्रपंच का आत्यन्तिक प्रलय हो जाता है। वह महात्मा केवल अपनी केवली-अवस्था में ही सम, शान्त रूप से स्थित रहता है।

---

१. यह निर्मल, निष्काम, निरामय ब्राह्मी अवस्था है; जिसको ग्रहण करके विहार करता हुआ संकट काल में भी मोहित नहीं होता।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'

[गी० ४।३८]

अर्जुन! इस ज्ञान के सदृश विश्व में कुछ भी पावन नहीं है, इसको यदि कोई वृद्धावस्था या मृत्युकाल में भी राजा खट्वांग की तरह स्पर्श कर ले तो वह भी तत्क्षण सारे पापों से मुक्त होकर निर्वाण—शान्तस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त करता है; तो फिर यौवनावस्था में कहना ही क्या ?

इसलिये ऐसी शीघ्र पावन और अमर बनानेवाली अवस्था को प्राप्त करने का अवश्य प्रयत्न करना चाहिये ॥ ७२ ॥

॥ दूसरा अध्याय समाप्त ॥

———

॥ ॐ ॥

तीसरा अध्याय

अर्जुन ने सोचा कि जब भगवान् की दृष्टि में—

'नायं हन्ति न हन्यते' [गी० २।१९]
'वेदाविनाशिनं नित्यम्' [गी० २।२१]
'यावानर्थ उदपाने' [गी० २।४६]
'या निशा सर्वभूतानाम्' [गी० २।६९]

[आदि पदों के द्वारा] ज्ञान ही श्रेष्ठ है। जैसा कि श्रुति भी कहती है—

'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' [श्रुति]
'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' [श्रुति]

'तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'
[श्वे० उ० ६।१५]

'कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते।
तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः॥'
[सं० उ० २।९८]

'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः'
[कै० उ० १।३]

'प्रवृत्ति लक्षणं कर्म ज्ञानं संन्यास लक्षणम्'
[ना० प० उ० ३।१६]

['ज्ञान से ही कैवल्य की प्राप्ति होती है', 'बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं होती', 'उस परमात्मा के ज्ञान से ही जीव जन्म-मृत्यु को तर जाता है, इससे भिन्न मोक्ष प्राप्ति का अन्य कोई मार्ग नहीं है' 'कर्म से जीव बँधता है और ज्ञान से मुक्त होता है इसलिये तत्त्वदर्शी यति कर्म नहीं करते, 'अमृतत्व की प्राप्ति न कर्म से, न प्रजा से और न धन से होती है बल्कि केवल एक त्याग से ही होती है 'कर्म संसार में प्रवृत्त होने का लक्षण है और ज्ञान संन्यास का']

तो फिर मुझे बन्धन के हेतुभूत—

'कर्मण्येवाधिकारस्ते' [गी० २।४७]

'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि' [गी० २।४७]

[आदि पदों से] कर्म में क्यों जोड़ रहे हैं ? इस संशय की निवृत्ति के लिये अर्जुन बोला ।

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ १ ॥

हे जनार्दन ! यदि आपके मत में—

'कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते'

[सं० उ० २।६८]

कर्म की अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ है और वही—

'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' [श्रुति]

कल्याण का एक मात्र निरपेक्ष हेतु है, [तो हे केशव ! फिर आप मुझे अहिंसात्मक निवृत्ति मार्ग से रोककर हिंसात्मक क्रूर कर्म—प्रवृत्ति मार्ग में क्यों जोड़ रहे हैं ? जो महान् पाप का हेतु आर्य पुरुषों से निन्दित तथा नरक का द्वार है ॥ १ ॥

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥

हे तमसःपरस्तात् प्रभो ! आप एक ओर तो नैष्कर्म्य–ज्ञान की स्तुति कर रहे हैं और दूसरी ओर से स्पष्टरूप से कर्म में जोड़ रहे हैं । इसलिए मैं आपके ऐसे विरोधात्मक वाक्यों के कारण महान् संशय में पड़ किंकर्तव्य-विमूढ़ हो रहा हूँ । हे मोहरूपी अन्धकार के सूर्य ! भला, आप किसी को मोह में क्यों डालेंगे ? क्योंकि आप—

'तमसः परस्तात्' [श्वे० उ० ३।८]

मोह से परे निर्विकार एवं ज्ञानस्वरूप हैं । मैं ही स्थूल-बुद्धि के कारण वेद से भी गुह्य आपके इस उपदेश को यथार्थ न समझकर मोह में पड़ गया हूँ । इसलिये हे सर्वज्ञ ! इन दोनों में से जो मुझ अधिकारी के लिये—

'देशकालवयोवस्थाबुद्धिशक्त्यनुरूपतः ।
धर्मोपदेशो भैषज्यं वक्तव्यं धर्मपारगैः ॥'

देश, काल, वय, अवस्था, बुद्धि और शक्ति के अनुसार श्रेष्ठ—कल्याणप्रद हो, उस सुनिश्चित औषधरूप धर्म का उपदेश देने की कृपा करें; जिससे मैं कल्याण—मोक्ष को प्राप्त कर सकूँ ॥ २ ॥

श्री भगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३ ॥

श्री भगवान् बोले—हे निष्पाप अर्जुन ! तुम मेरे वाक्यों को भलीभाँति न समझने के कारण ही व्यथित हो रहे हो । देखो, मैंने ही सृष्टि के आदि काल में प्रजा की सृष्टि कर द्विजातियों के कल्याणार्थ दो निष्ठायें बताईं ।

'ज्ञानयोगः कर्मयोग इति योगो द्विधा मतः'[1]

[त्रि० ब्रा० उ० २३]

'द्वाविमावथ पन्थानौ यत्र वेदाः प्रतिष्ठिताः ।[2]
प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तिश्च विभावितः ॥'

[महा० शा० २४१।६]

'क्रियापथश्चैव पुरस्तात्पश्चात् संन्यासश्च'[3]

[स्मृति]

एक सांख्ययोगियों—ब्रह्मज्ञानियों की ज्ञानयोग—ब्रह्मज्ञान से अर्थात् जो पुरुष—

'ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं मृषामात्रा उपाधयः'

[अ० उ० १६]

ब्रह्मा से स्तम्बपर्यन्त लोक-लोकान्तर को मिथ्या बन्धन का हेतु समझकर संसार से विरक्त हो,

'सकलमिदमहं च वासुदेवः' [वि० पु० ३।७।३२]
'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' [छा० उ० ३।१४।१]
'अहमेवेदं सर्वम्' [छा० उ० ७।२५।१]

---

१. ज्ञानयोग, कर्मयोग इस प्रकार योग दो प्रकार का कहा गया है ।

२. जिनमें वेद प्रतिष्ठित हैं; ऐसे दो ही मार्ग हैं; एक तो प्रवृत्ति लक्षण धर्ममार्ग और दूसरा विशेषरूप से भावित निवृत्तिमार्ग ।

३. प्रथम क्रिया मार्ग पश्चात् संन्यास ।

इस एकत्वदर्शन के द्वारा—

'आत्मक्रीड आत्मरतिरात्मवान्समदर्शनः'

[ना० प० उ० ५।२५]

केवल आत्मा से ही रति, प्रीति तथा क्रीड़ा करनेवाले समदर्शी हैं, उनकी तथा दूसरी कर्मयोगियों की कर्मयोग से—

'तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता'[1]

[श्री० भा० ११।२०।६]

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' [ई० उ० २]

अर्थात् जो अभी संसार से विरक्त नहीं हुये हैं, ऐसे मनुष्यत्वाभिमानी अनात्मदर्शियों की ॥ ३ ॥

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥

अर्जुन !

'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' [श्वे० उ० ६।१६]

जिस नैष्कर्म्य—निष्फल, निष्क्रिय, शान्त ब्रह्म को—

'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन
दानेन तपसाऽनाशकेन'

[वृ० उ० ४।४।२२]

ब्राह्मण वेदों के स्वाध्याय, यज्ञ, दान और निष्काम तपरूप स्वधर्म के द्वारा जानने की इच्छा करते हैं, उसको तू बिना विहित कर्मों का आचरण किये अर्थात् चित्त शुद्धि के बिना नहीं प्राप्त कर सकता।

'ज्ञानं नोत्पद्यते पुंसां पापोपहतचेतसाम्' [स्मृति]

तथा बिना चित्त शुद्धि के मोह युक्त केवल क्षणिक वैराग्य से अर्थात् ज्ञानशून्य केवल कर्मों के त्यागपूर्वक संन्यास से भी सिद्धि–कैवल्य की प्राप्ति नहीं हो सकती; बल्कि—

'असुर्या नाम ते लोकाऽन्धेन तमसावृताः'

[ई० उ० ३]

अनात्मदर्शन के कारण आत्मा का हनन करता हुआ आसुरी लोकों को ही प्राप्त करेगा। इस प्रकार—

'असन्नेव स भवति ॥ असद्‌ब्रह्मेति वेद चेत् ॥'

[तै० उ० २।६]

---

१. तब तक ही कर्म करे जब तक वैराग्य न हो।

अज्ञ को असत् जानने के कारण तुम असत् हो जाओगे अर्थात् तुम्हारा मानव जीवन व्यर्थ हो जायेगा। इसलिये बुद्धि की शुद्धि के लिये यज्ञ, दान तथा तपरूप स्वधर्म ही करो, जो परमात्मा की प्राप्ति का एक मात्र साधन है ॥ ४ ॥

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

कोई भी अजितेन्द्रिय, देहाभिमानी, अनात्मज्ञ पुरुष क्षणमात्र भी लौकिक अथवा वैदिक कर्म किये बिना नहीं रह सकता; क्योंकि प्रकृति से उत्पन्न गुणों से विवश होकर सबको कर्म करना ही पड़ता है। इसलिये इसमें तेरा या अन्य किसी का हठ क्या करेगा? अभिप्राय यह है कि—

'प्रकृतेर्गुण संमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु' [गी० ३।२६]

प्रकृति के गुणों से मुग्ध अशुद्ध-सत्त्व अनात्मवित् पुरुष गुण तथा कर्मों में आसक्त होने के कारण कर्मों का स्वरूपतः त्याग नहीं कर सकता और यदि हठपूर्वक कर्मों का त्याग करता भी है तो—

'अकर्मणि च कर्म यः' [गी० ४।१८]

उसका संकल्पयुक्त कर्मों का त्याग भी कर्म ही है, जो उसके जन्म-मृत्यु का हेतु है। परन्तु जो सर्वात्मदर्शन के कारण—

'आत्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः'
[छा० उ० ७।२५।२]

आत्मा से ही रति, क्रीड़ा, मैथुन तथा आनन्द करने वाले आत्मज्ञानी पुरुष अपने निष्क्रियत्व; साक्षित्व, आप्तकामत्व तथा पूर्णकामत्व में स्थित हैं, उनके लिये—

'लोकत्रयेऽपि कर्तव्यं किंचिन्नास्त्यात्मवेदिनाम्'
[श्री० बा० उ० १।२४]

'तस्य कार्यं न विद्यते' [गी० ३।१७]

त्रैलोक्य में किंचित्मात्र भी कर्तव्य नहीं है; परन्तु तू ज्ञानी नहीं है, इसलिये निष्काम बुद्धि से स्वधर्माचार कर ॥ ५ ॥

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥

जो अशुद्ध अन्तःकरण पुरुष ध्यान करने में असमर्थ होने पर भी कर्मेन्द्रियों को हठात् कर्म से रोककर परमात्मचिन्तन के बहाने कर्म के मूल

ज्ञानेन्द्रियों के शब्दादि विषयों का मन से चिन्तन करता है, वह इंद्रियारामी, मूर्ख तथा पाखंडी है। वह आत्महत्यारा—

'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः'

[ई० उ० ३]

आत्मा के अदर्शन के कारण बार-बार आसुरी लोकों को ही प्राप्त होता-होता रहता है ॥ ६ ॥

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥

परन्तु जो पुरुष पाप के हेतुभूत ज्ञानेन्द्रियों को मन के द्वारा विषयों से रोककर अनासक्त हो, कर्मेन्द्रियों से—

'वेदोदितं स्वकं कर्मनित्यं कुर्यादतन्द्रितः'

[म० स्मृ० ४।१४]

वेदोक्त स्वकीय कर्म को निष्काम बुद्धि से आलस्यरहित होकर करता है, वह उपर्युक्त मिथ्याचारी से श्रेष्ठ है।

'तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते'

[गी० ५।२]

अर्जुन! यह कितने आश्चर्य का विषय है कि परिश्रम का साम्य होने पर भी एक कर्मेन्द्रियों के निग्रह तथा ज्ञानेन्द्रियों के अनिग्रह से परमार्थशून्य होकर अधोगति को प्राप्त करता है और दूसरा ज्ञानेन्द्रियों के निग्रह तथा कर्मेन्द्रियों के अनिग्रह से परमात्मतत्व को प्राप्तकर कृतकृत्य हो जाता है। इसलिये तुम इस सिद्धान्तानुसार मिथ्या संन्यास के दुराग्रह को छोड़कर ज्ञानेन्द्रियों का निग्रह करके चित्तशुद्धि के लिये निष्काम बुद्धि से इन्द्रियों से कर्मयोग का ही आचरण करो, जो मोक्ष का एकमात्र हेतु है ॥ ७ ॥

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥

तुम—

'वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः'

[म० स्मृ० ४।१४]

वेदोक्त स्वकीयकर्म नित्य आलस्यरहित होकर करो; क्योंकि कर्म न करने से कर्म करना श्रेष्ठ है।

ऐसे ही कहा भी गया है कि—

'तद्धि कुर्वन्यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम्'
[म० स्मृ० ४।१४]

विहित कर्मों का यथाशक्ति अनुष्ठान करता हुआ पुरुष परमगति को प्राप्त करता है। तथा—

'अकृत्वा वैदिकं कर्म द्विजः पतनमृच्छति'
[स्मृति]

द्विज वैदिक कर्मों का अनुष्ठान न करने से पतन–जन्म-मृत्यु को प्राप्त करता है। दूसरे; बिना कर्म किये तेरे शरीर का भी निर्वाह नहीं होगा। इसलिये—

'यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि'
[तै० उ० १।११।२]

तुझ देहाभिमानी को अनिन्दित कर्मों का सेवन—

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' [ई० उ० २]

जीवन-पर्यन्त करना चाहिये, जो मोक्ष का उत्तम साधन है। परन्तु जो देहाभिमान से मुक्त सर्वात्मदर्शी है, उनके लिये—

'इह लोके परे चैव कर्तव्यं नास्ति तस्य वै' [लि० पु०]

इहलोक तथा परलोक में कोई भी कर्तव्य नहीं है ॥ ८ ॥

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ ९ ॥

अर्जुन !

'यज्ञो वै विष्णुः' [तै० सं० १।७।४]

"यज्ञ ही विष्णु है' इसलिये तू विष्णु की प्रसन्नता के लिए उस विहित

'तत्कर्म यन्न बन्धाय' [ग० पु० २।४९।९४]

कर्म को करो, जो बन्धन का हेतु नहीं है अर्थात् मुक्ति का हेतु है। क्योंकि जो कर्म यज्ञस्वरूप विष्णु के लिये नहीं किया जाता, वह—

'कर्मणा बध्यते जन्तुः' [सं० उ० २।२८]

इस लोक में बन्धन का हेतु होता है। इसलिये उस विष्णु के लिये सिद्धि-असिद्धि में सम रहता हुआ कर्मासक्ति, फलासक्ति तथा कर्तृत्वाभिमान से मुक्त हो निष्काम बुद्धि से युद्ध कर ॥ ९ ॥

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ १० ॥

प्रजापति भगवान् ने भी सृष्टि के आदि में यज्ञसहित प्रजा को रचकर उनसे कहा तुम लोग स्वधर्म से अर्थात् श्रौत-स्मार्त यज्ञों के अनुष्ठान के द्वारा देवताओं को प्रसन्न कर वृद्धि को प्राप्त करो । यह यज्ञ तुम लोगों की कामनाओं की पूर्ति में कामधेनु के समान होगा ॥ १० ॥

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥

तुम लोग स्वधर्म रूपी यज्ञ के द्वारा उन देवताओं की उपासना करो; क्योंकि—

'भजन्ति ये यथा देवान् देवा अपि तथैव तान्'
[श्री० भा० ११।२।६]

'जो देवताओं को जैसे भजते हैं, देवता भी उनको वैसे ही भजते हैं।' इस सिद्धान्त से वे प्रसन्न होकर तुम लोगों को वृष्टि के द्वारा अन्नादि की वृद्धि से धन-धान्य-सम्पन्न कर देंगे । तथा सदैव तुम्हारी रक्षा के लिये उद्यत रहेंगे । इस प्रकार अन्योन्याश्रय प्रेम की वृद्धि से स्वधर्म रूप यज्ञ के द्वारा श्रेय—स्वर्ग अथवा शुद्ध बुद्धि के द्वारा अपवर्ग को प्राप्त करोगे ॥ ११ ॥

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥ १२ ॥

यज्ञ से सन्तुष्ट देवगण तुम्हें लौकिक इष्ट भोगों से भी सन्तुष्ट कर देंगे, अर्थात् लोकमान्यता, धन-धान्य, स्त्री, पशुपुत्रादि से परिपूर्ण कर देंगे । परन्तु ध्यान रखना, जो उन देवों द्वारा दिये हुए भोगों को पंचमहायज्ञादि के रूप में उन्हें न देकर भोग के कारण अपना मान लेता है, वह देवताओं के स्वत्व का अपहरण करने के कारण चोर है, वह बार बार नरकादि लोकों को ही प्राप्त होता रहता है ॥ १२ ॥

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ १३ ॥

इस प्रकार जो स्वधर्मरूप—

'अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।[1]
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥'
[म० स्मृ० ३।७०]

'पंचैतान्यो महायज्ञान्न हापयति शक्तितः।[2]
स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूना दोषैर्न लिप्यते॥'
[म० स्मृ० ३।७१]

पंच महायज्ञ से अवशिष्ट अमृतान्न का सेवन करते हैं, उनकी—

'कण्डनी पेषणी चुल्ली चोदकुम्भी च मार्जनी।
पञ्चसूना गृहस्थस्य पञ्चयज्ञात् प्रणश्यति॥' [स्मृति]

'ओखली, चक्की, चूल्हा, जलकुम्भी और बुहारी से होने वाली ये पाँच गृहस्थ की हिंसायें पंचयज्ञ से नष्ट हो जाती हैं। अर्थात् वे इन हिंसात्मक पापों से मुक्त हो चित्तशुद्धि के द्वारा परमात्मतत्व को प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाते हैं। परन्तु जो उदरपरायण पंचमहायज्ञों को न करके केवल अपने ही लिये अन्न पकाते हैं, वे पातकी पापान्न ही खाते हैं। जैसा कि वेद भगवान् भी कहते हैं—

'केवलाघो भवति केवलादी' [ऋग्वेद १०।११७।६]

'मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः' [ऋग्वेद १०।११७।६]

'अकेला खाने वाला केवल पापी होता है', 'यज्ञ न करने वाले व्यर्थ ही अन्न खाते हैं' ऐसे स्वधर्मत्यागी इन्द्रियारामी पुरुष—

'अकृत्वा वैदिकं नित्यं प्रत्यवायी भवेन्नरः' [श्रुति]

वैदिक नित्य कर्मानुष्ठान न करने के कारण प्रत्यवायी होकर बार-बार दुर्गति को ही प्राप्त होते रहते हैं॥ १३॥

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥ १४॥

---

१. वेदों का पठन-पाठन—ब्रह्मयज्ञ, तर्पण—पितृयज्ञ, होम—देवयज्ञ, बलि—भूतयज्ञ और अतिथिपूजन—नृयज्ञ—ये पाँच महायज्ञ हैं।

२. जो इन पाँच महायज्ञों को यथाशक्ति नहीं त्यागता है, वह घर में नित्य निवास करता हुआ भी हिंसा-दोष से लिप्त नहीं होता।

संपूर्ण प्राणी अन्न से परिणत वीर्य से उत्पन्न होते हैं। जैसा श्रुति भी कहती है—

'अन्नाद्भूतानि जायन्ते' [तै०उ०२।२]

वृष्टि से अन्न की उत्पत्ति होती है, यज्ञ से वृष्टि होती है।

'अग्नौ प्रास्ताऽऽहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥'

[म० स्मृ० ३।७६]

'अग्नि में भलीभाँति दी हुई आहुति सूर्य की किरणों में स्थित होती है, सूर्य से वृष्टि होती है, वृष्टि से अन्न होता है और अन्न से प्रजा उत्पन्न होती है।' तथा यज्ञ कर्म से उत्पन्न होता है ॥ १४ ॥

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षर समुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

कर्म को वेद से उत्पन्न हुआ जान और वेद आदिमूलकारण परात्पर-ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है। जैसा श्रुति भी कहती है—

'अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतदृग्वेदो
यजुर्वेदः सामवेदः' [बृ० उ० २।४।१०]

'उस महान् का यह ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद निःश्वास है।' इसलिये वेदकथित—

'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' [श्रुति]

सर्वगत ब्रह्म नित्य यज्ञ में प्रतिष्ठित है अर्थात् यज्ञ के द्वारा शुद्ध बुद्धि से प्राप्त करने योग्य है। अभिप्राय यह है कि स्वधर्मरूप यज्ञ मोक्ष तथा जगत् की सृष्टि का हेतु होने के कारण अवश्य करणीय है ॥ १५ ॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ १६ ॥

हे पार्थ! इस प्रकार आदिमूलकारण परमेश्वर के द्वारा चलाये हुए इस सृष्टि चक्र—स्वधर्म रूपी यज्ञ को जो नहीं करता है अर्थात् मोक्ष के हेतुभूत वेद-विहित आज्ञाओं का उल्लंघन करता है, वह—

'विहित स्याननुष्ठानान्निन्दितस्य च सेवनात्।
अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छति॥'

[या० स्मृ० ३।५।२१६]

निन्दितमार्ग का सेवन करनेवाला वेदविरोधी, इंद्रियारामी, अनिग्रही, विषयलंपट वेदवेत्ता होने पर भी परमात्मतत्त्व को नहीं प्राप्त कर सकता; केवल—

'असुर्या नाम ते लोकाः' [ई० उ० ३]

आसुरी लोकों को ही बार-बार प्राप्त करता रहेगा। वह व्यर्थ ही जीता है अर्थात् उसका मानव-जीवन व्यर्थ है। देख, श्रुति भी यही कहती है—

'न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः' [के० उ० २।१३]

जिसने इस मानव-जीवन में परमात्मतत्व को नहीं प्राप्त कर लिया, वह बार-बार जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधिरूप महान् हानि को प्राप्त करता रहेगा ॥ १६ ॥

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ १७ ॥

परन्तु जो महात्मा—

'सर्वमिदमहं च वासुदेवः'
'अहमेवेदं सर्वम्' [छा० उ० ७।२५।१]

इस सर्वात्मदृष्टि के कारण—

आत्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा-
दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदं सर्वमिति।
स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्'
[छा० उ० ७।२५।२]

आत्मा को ही नीचे, आत्मा को ही ऊपर, आत्मा को ही पीछे, आत्मा को ही आगे, आत्मा को ही दायें, आत्मा को ही बायें तथा आत्मा को ही सर्वत्र सर्वरूपों में देखता, सुनता एवं समझता हुआ—

'यस्त्वात्मरतिरेवान्तः' [अव० उ० १।३७]
'रमते स्वात्मनात्मनि' [अव० उ० ५।६६]

आत्मा होकर आत्मा से ही सदैव रति–रमण–विहार करता है, अनात्मा से नहीं। तथा—

'आत्मनाऽऽत्मनि संतृप्तः' [अव० उ० ४।३]
'ब्रह्मामृतरसे तृप्तः' [ते० बि० उ० ४।५८]

जो आत्मरूप से आत्मा से ही आत्मामृत को पीकर तृप्त रहता है, तथा जो अपने नित्य निर्विकारानन्द से ही क्रीडा-विनोद करता है; तथा जो सर्वात्म-दृष्टि से सर्वात्मा होकर सर्वात्मा से अखंडानन्द, मैथुनानन्द, अद्वयानन्द और भूमानन्द में ही नित्य-निरन्तर आसक्त रहता है; तथा जो—

'आनन्दो ब्रह्म' [तै० उ० ३।६]
'रसो वै सः' [तै० उ० २।७]
'ब्रह्मामृत रसासक्तः' [ते० बि० उ० ४।५७]
'ब्रह्मामृत रसैर्मग्नः' [ते० बि० उ० ४।५७]

आनन्द-रसस्वरूप ब्रह्मामृत को पीकर ब्रह्मानन्द में ही मग्न रहता है; तथा जो—

'स्वात्मनैव सदा तुष्टः स्वयं सर्वात्मना स्थितः'
[आ० उ० १२]

स्वात्मा से ही सदा संतुष्ट स्वयं सर्वात्मरूप से स्थित रहता है, उस—

'पर्याप्त कामस्य कृतात्मनस्त्वि-
हैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ॥'
[मु० उ० ३।२।२]
'ब्रह्मविदां वरिष्ठः' [मु० उ० ३।१।४]

आप्तकाम, पूर्णकाम ब्रह्मविद्वरिष्ठ के लिये, जो समस्त कामनाओं, एषणाओं तथा विषय-वासनाओं से मुक्त—

'ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः ।
न चास्ति किंचित्कर्तव्यम्' [श्री० जा० उ० १।२३]
'लोकत्रयेऽपि कर्तव्यं किंचिन्नास्त्यात्मवेदिनाम्'
[श्री० जा० उ० १।२४]

'ज्ञानामृत से तृप्त कृतकृत्य हो गया है' ऐसोंस्य में किंचित्मात्र भी कर्तव्य नहीं है; क्योंकि उसकी दृष्टि में—

'या निशा सर्वभूतानाम्' [गी० २।६९]
'अज्ञकुतो जगदास्ति ह्यात्मकुतो जगन्नहि'
[ते० बि० उ० ६।६६]

सृष्टि-क्रम का ही अभाव है। इसलिये उसके लिये कर्म का प्रश्न ही नहीं उठ सकता; कर्म तो केवल अनात्मवित्, अज्ञानियों के लिये ही है ॥ १७ ॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ १८ ॥

उस आत्माराम, आत्मक्रीड, आत्मतृप्त, निर्वासनिक, सर्वात्मदर्शी पुरुष का जिसने—

'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति' [गी० ७।७]
'आत्मैवेदं सर्वम्' [छा० उ० ७।२५।२]
'अहमेवेदं सर्वम्' [छा० उ० ७।२५।१]

'मुझसे भिन्न अणुमात्र भी नहीं है', 'यह सब आत्मा ही है', 'यह सब मैं ही हूँ' इस सर्वात्मदृष्टि से—

'उभे ह्येवैष एते आत्मानं स्पृणुते' [तै० उ० २।९]

हानि लाभ-पाप-पुण्य दोनों को आत्मरूप से विषय कर लिया है; तथा जो—

'मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः'
[माण्डू० का० १।१७]

संपूर्ण द्वैतप्रपंच को मायामात्र-मिथ्या और अद्वैत आत्मतत्व को परमार्थ-सत्य समझकर—

'स्वामात्मनि स्वयंतृप्तः स्वमात्मानं स्वयं चर ।
आत्मानमेव मोदस्व' [ते० बि० उ० ४।८१]

स्वात्मानन्द में ही स्वयं तृप्त रहता है, स्वात्मानन्द में ही क्रीड़ा करता है तथा जो मोदनीय स्वात्मानन्द में ही नित्य मुदित रहता है—

'नैष्कर्म्येण न तस्यार्थस्तस्यार्थोऽस्ति न कर्मभिः ।[१]
न समाधान जाप्याभ्यां यस्य निर्वासनं मनः ॥'
[मुक्ति० उ० २।२०]

उस पुरुष के लिये इस लोक में कर्म करने से कोई लाभ नहीं और न करने से कोई हानि नहीं। तथा जो यह समझकर कि शरीर का सुखी दुःखी होना प्रारब्धाधीन है, इसके सुख-दुःख को ब्रह्मादिक अन्य कोई भी न्यूनाधिक नहीं कर सकते' इस दृष्टि से निश्चित रहता है, तथा जो इस अनुभव से युक्त है कि मैं सर्वात्मा, नित्यमुक्त, सर्वदा सर्वत्र स्थित हूँ।

---

१. जिसका मन निर्वासनिक हो गया है, उसे न नैष्कर्म्य—कर्मों के त्याग से, न कर्म—कर्मानुष्ठान से और न समाधान—षट्सम्पत्ति एवं न जप से ही कोई प्रयोजन है।

'ब्रह्मादि कीट पर्यन्ताः प्राणिनो मयि कल्पिताः ॥'
[आ० प्र० उ० १४]

मुझ अधिष्ठानस्वरूप आत्मा में ही ब्रह्मा से कीटपर्यन्त समस्त भूतवर्ग कल्पित—अध्यस्त हैं, मुझसे भिन्न अणुमात्र भी नहीं है, उस आप्तकाम, पूर्णकाम, जीवन्मुक्त समदर्शी महात्मा का—

'लोकेद्वयेऽपि कर्तव्यं किञ्चिदस्य न विद्यते'।
इहैव स विमुक्तः स्यात्सम्पूर्णः समदर्शनः ॥'
[शिवधर्मोत्तर]

सम्पूर्ण प्राणियों में ब्रह्मा से लेकर स्थावरपर्यन्त किसी से भी कोई प्रयोजन नहीं है ॥१८॥

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥१६॥

परन्तु तू अभी आत्माराम—आत्मतृप्त—ज्ञानी नहीं है, तुझ आरुरुक्षु का कर्म में ही अधिकार है। इसलिये तुम—

'वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे।
नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिम्' [श्री० भा० ११।३।४६]

फलासक्ति से मुक्त होकर वेदोक्त ईश्वरार्थ कर्म ही करो, क्योंकि—

'वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः।
तद्धि कुर्वन्यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम् ॥'
[म० स्मृ० ४।१४]

जो वेदोक्त स्वकीय कर्म को अनासक्त बुद्धि से निरन्तर आलस्यरहित होकर यथाशक्ति करता है—

'यथाऽचिरात्सर्वपापं व्यपोह्य परात्परं पुरुषं याति विद्वान्'
[कै० उ० २।१]

[वह विद्वान् चित्तशुद्धि के द्वारा शीघ्र ही सर्वपापों से मुक्त होकर परम पुरुष परमात्मा को प्राप्त करता है ॥१६॥

---

१. इस आत्मवेत्ता का दोनों लोकों में कोई कर्तव्य नहीं है; क्योंकि वह पूर्ण—व्यापक एवं समदर्शी होने के कारण इस जीवन में ही मुक्त हो जाता है।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥२०॥

क्योंकि पूर्व में जनक, अश्वपति, प्रवाहण, अजातशत्रु तथा भगीरथादि श्रुति-स्मृति प्रसिद्ध विद्वान् राजर्षिगण निष्काम कर्मयोग के द्वारा—

'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः'

[महा० शा० २०४।८]

पाप कर्म के क्षीण हो जाने पर सत्त्वशुद्ध होकर ज्ञान—मोक्षरूपी सिद्धि को प्राप्त करने पर भी लोक-संग्रहार्थ कर्म ही करते रहे। इसलिये तुझे भी लोक-संग्रह को देखते हुये कर्म ही करना चाहिये।

'नित्यनैमित्तिकैरेव कुर्वाणो दुरितक्षयम्'।
ज्ञानं च विमलीकुर्वन्नभ्यासेन च पाचयेत्।
अभ्यासात्पक्व विज्ञानः कैवल्यं लभते नरः॥

[श्रुति]

क्योंकि नित्य नैमित्तिक कर्म से ही पाप का क्षय करता हुआ तथा ज्ञान को अभ्यास से निर्मल करता हुआ पक्वविज्ञानपुरुष कैवल्य को प्राप्त करता है।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥२१॥

क्योंकि—

'अश्रेष्ठः श्रेष्ठानुसारी'

[इस न्याय से] श्रेष्ठ पुरुष जो जो भी आचरण करते हैं, अश्रेष्ठ उसी का अनुकरण करते हैं अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष जिस भी प्रवृत्ति-निवृत्ति तथा लौकिक वैदिक कर्म का प्रमाण मानते हैं, लोक भी उसी का अनुसरण करता है। इसलिये श्रेष्ठ पुरुषों को कभी भी अपने वर्णाश्रम धर्म का त्याग नहीं करना चाहिये ॥२१॥

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥२२॥

---

१. नित्य नैमित्तिक कर्म से ही पाप का क्षय करता हुआ ज्ञान को अभ्यास से निर्मल करता हुआ परिपक्व करे। अभ्यास से पक्वविज्ञान-वाला पुरुष कैवल्य को प्राप्त होता है।

हे पार्थ ! तू मुझ सर्वसमर्थ षडैश्वर्यसम्पन्न सच्चिदानन्दघन वासुदेव को ही देख कि मेरे लिये त्रैलोक्य में कुछ भी कर्तव्य नहीं है; क्योंकि मुझ चराचर नायक को किसी भी अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति नहीं करनी है। मैं आत्माराम, आप्तकाम, पूर्णकाम हूँ, फिर भी कर्म में ही वर्तता हूँ अर्थात् वर्णाश्रमानुकूल शास्त्रीय कर्म ही करता हूँ, इसलिये तू भी कर्म कर ॥२२॥

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥

हे पार्थ ! यदि मैं सर्वज्ञ ईश्वर कदाचित् आलस्यरहित सावधान होकर वैदिक कर्मों को न करूँ, तो—

'अश्रेष्ठः श्रेष्ठानुसारी'

[इस नियमानुसार] मुझ श्रेष्ठ के मार्ग का अनुकरण करने के कारण अश्रेष्ठ सब मनुष्य कर्मों का त्याग कर दें; क्योंकि सब मनुष्य मुझ सर्वज्ञ के मार्ग का ही सब प्रकार से अनुसरण करते हैं ॥२३॥

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४॥

यदि मैं कर्म न करूँ तो यह सब लोक नष्ट हो जाय अर्थात् मेरा प्रत्येक युग में धर्म-रक्षार्थ अवतार लेना व्यर्थ हो जाय; लोक तथा शास्त्र की मर्यादा नष्ट हो जाय तथा मोक्ष - सुख-शान्ति के साधन वर्णाश्रमधर्म का लोप हो जाय और मनुष्य स्वेच्छाचार के द्वारा दुर्गति को प्राप्त होने लगें। इस प्रकार मैं लोकों को वर्णसंकर बनाने वाला तथा इनका हनन करने वाला बनूँ। इसीलिये इस महान् दोष को देखकर मैं सदैव कर्म में ही रत रहता हूँ ॥२४॥

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५॥

जिस प्रकार अज्ञानी पुरुष कर्तृत्वाभिमान, कर्मासक्ति एवं फलासक्ति से युक्त हो शास्त्रविहित कर्मों का अनुष्ठान करते हैं, वैसे ही ज्ञानी पुरुष को भी—

'स्वयं तीर्णः परान् तारयति'

[इस न्यायानुसार] स्वयं मुक्त होकर दूसरों को भी मुक्त करने के लिये बाहर से कर्म में आसक्त सा होकर शास्त्रानुकूल लोक-संग्रहार्थ कर्म ही करना चाहिये, जिससे लोक की सुव्यवस्था बनी रहे ॥२५॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥२६॥

ज्ञानी पुरुष कर्मों में आसक्त अज्ञानियों की बुद्धि में यह भेद न उत्पन्न करे कि 'तुझे कर्म नहीं करना चाहिये तथा लोकैषणा, पुत्रैषणा, और वित्तैषणा से मुक्त हो जाना चाहिये' ऐसा भेदोत्पादक, भ्रमात्मक वचन न कहे; बल्कि स्वयं समाहित-चित्त होकर लौकिक-वैदिक सब कर्मों को करता हुआ उनसे भी करावे अर्थात् सिद्धि-असिद्धि, हानि-लाभ, सुख-दुःखादि द्वन्द्वों में सम रहता हुआ उन्हें भी समता का पाठ सिखावे तथा मोक्ष मार्ग पर प्रवृत्त करे ॥२६॥

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥२७॥

यद्यपि सम्पूर्ण कर्म—

'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' [1]
[श्वे० उ० ४।१६]

महेश्वर की प्रकृति के गुणों के द्वारा ही किये जाते हैं, निष्क्रिय आत्मा से नहीं; परन्तु अहंकार से मोहित अन्तःकरण वाला अज्ञ पुरुष इस अनात्म-पाञ्चभौतिक कार्य-करण संघात को ही अपना स्वरूप मानकर 'मैं करता हूँ' अर्थात् 'मैं' देखता, सुनता, समझता, खाता, पीता, सोता और जागता हूँ' ऐसे—

'कर्तृत्वाद्यहंकार संकल्पोबन्धः' [2] [नि० उ०]

कर्तृत्वाभिमान की मान्यता के कारण बन्धन को प्राप्त होता है। ऐसा ही कहा भी गया है—

'दैवाधीने शरीरेऽस्मिन् गुणभाव्येन कर्मणा।
वर्तमानोऽबुधस्तत्र कर्तास्मीति निबद्ध्यते॥'
[श्री० भा० ११।११।१०]

---

१. प्रकृति को माया जानना चाहिये और महेश्वर को मायावी।
२. कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि अहंकार का संकल्प ही बन्धन है।

शरीर देवाधीन है, इससे जितने भी कर्म होते हैं, सब गुणों की ही प्रेरणा से होते हैं; परन्तु अज्ञानी पुरुष मोह से अपने को उस कर्म का कर्ता मानकर मिथ्या अभिमान के कारण बँध जाता है।

अभिप्राय यह है कि जब तक मनुष्य आत्मा के—

'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्'

[श्वे० उ० ६।१६]

निष्क्रियत्व, निर्विकारत्व, असंगत्व, सर्वगतत्व तथा गुणातीतत्व को न जानकर प्रकृति के गुणों के कार्य देह के अभिमान से युक्त होकर कर्म करता रहेगा, तब तक त्रिकाल में भी मुक्त नहीं हो सकता ॥२७॥

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥

परन्तु गुणविभाग अर्थात् 'मैं त्रिगुणात्मक शरीर-संघात नहीं, किन्तु गुणातीत, शरीर-संघात से रहित, निरवयव तथा साक्षी आत्मा हूँ' इस गुण-विभाग को तथा कर्मविभाग अर्थात् 'कर्म मेरा नहीं, मैं कर्मी नहीं; क्योंकि—

'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्'

[श्वे० उ० ६।१६]

'निष्कल, निष्क्रिय एवं शान्त हूँ' इस कर्मविभाग को जानने वाला तत्त्ववेत्ता, गुण ही गुण में वर्तते हैं—

'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' [बृ० उ० ४।३।१५].
'असङ्गो नहि सज्जते' [बृ० उ० ४।५।१५]

असंग आत्मा से इनका कोई भी सम्बन्ध नहीं है।

'स्वमसङ्गमुदासीनं परिज्ञाय नभो यथा।
न श्लिष्यते यतिः किंचित्कदाचिद्भाविकर्मभिः ॥'

[अ० उ० ५१]

इस प्रकार आकाशवत् स्वयं असंग, उदासीन आत्मतत्त्व को जानकर अर्थात् 'मैं भी आकाशवत् असंग, उदासीन तथा साक्षी हूँ' ऐसे अनुभव को प्राप्त कर गुणों के भावी कर्म से कदाचित् किंचित् मात्र भी लिपायमान नहीं होता अर्थात् नित्य मुक्त ही रहता है ॥२८॥

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥२९॥

प्रकृति के गुणों से मोहित देहाभिमानी पुरुष आत्म-अनात्मविवेकशून्य होने के कारण गुण-कर्मों में आसक्त होकर कर्म करते हैं, ऐसे अल्पज्ञ मन्दबुद्धिवालों की बुद्धि में सर्ववित्—ज्ञानी पुरुष भेद न उत्पन्न करे अर्थात् कर्ता, कर्म एवं क्रिया की त्रिपुटी तथा लोक- लोकान्तर को मिथ्या न बतावे तथा 'तुम ब्रह्म ही हो, तुम्हारा कोई कर्तव्य नहीं है' ऐसे उपदेश के द्वारा कर्म से उपरत न करे, किन्तु चित्तशुद्धि के हेतुभूत वैदिक कर्म की स्तुति करता हुआ स्वयं तटस्थ रहकर उनसे भी कर्म ही करावे ॥२६॥

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥

अर्जुन! तू मुझ परमात्मा की बुद्धि से युक्त होकर—

'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति'

[छा० उ० ७।२४।१]

अर्थात् सर्वत्र मुझ परमात्मतत्त्व को देखता, सुनता एवं समझता हुआ सम्पूर्ण कर्मों को मुझे अर्पण कर; क्योंकि—

'मत्तः सर्वं प्रवर्तते' [गी० १०।८]
'यतः प्रवृत्तिर्भूतानाम्' [गी० १८।४६]
'आत्मतः कर्माणि'
[छा० उ० ७।२६।१]
तस्मिल्लोकाः श्रिताः सर्वे' [क० उ० २।३।१]
'मत्स्थानि सर्वभूतानि' [गी० ६।४]

सम्पूर्ण प्राणियों की क्रियायें मुझसे ही होती हैं तथा उनके फलस्वरूप समस्त लोक मुझमें ही स्थित हैं' इस रहस्य को जानकर निराशी हो अर्थात्—

'आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्'

[श्री० भा० ११।८।४४].

आशा ही परम दुःख—जन्म-मृत्यु का हेतु है और निराशा ही परम सुख—निर्वाण है। तथा—

'ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्ता मृषामात्रा उपाधयः'

[अ० उ० १६]

'मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः'

[माण्डू० का० ११७]

'ब्रह्मा से स्तम्बपर्यन्त समस्त उपाधियाँ मिथ्यामात्र हैं', 'यह द्वैतप्रपञ्च मायामात्र—मिथ्या है; *परमार्थ—सत्य केवल अद्वैत आत्म सत्ता ही है*'। इस दृष्टि से शरीर, परिवार, राज्य तथा लोक-लोकान्तर की आशा से मुक्त निराशी हो। तथा—

'द्वेपदे बन्धमोक्षाय निर्ममेति ममेति च।
ममेति बध्यते जन्तुर्निर्ममेति विमुच्यते॥'
[अ॰ उ॰ ४।७२]

'बन्ध-मोक्ष के दो ही कारण हैं ममता और निर्ममता; ममता से जीव बँधता है और निर्ममता से मुक्त होता है' इस बुद्धि से शरीर तथा बन्धु-बान्धवों के मरने की ममता से रहित होकर—

'सिद्ध्यसिद्ध्योः समोभूत्वा' [गी॰ २।४८]

समत्व बुद्धि के द्वारा सिद्धि-असिद्धि की चिन्ताओं से मुक्त हो—

'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' [ई॰ उ॰ ७]

एकत्वदर्शन करता हुआ शोक-मोह से मुक्त होकर लोक-संग्रहार्थ धर्म-युद्ध कर। इस दृष्टि से तुम—

'कुर्वन्नपि न लिप्यते' [गी॰ ५।७]

कर्म करते हुये भी पापों से लिपायमान नहीं होंगे, किन्तु नित्य मुक्त ही रहोगे ॥३०॥

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३१॥

अर्जुन! जो श्रद्धा-भक्ति समन्वित दोषदृष्टिरहित पुरुष मुझ सर्वज्ञ विष्णु के इस सर्वोपनिषदिक गुह्यतम मतानुसार राजपथ के पथिक बन कर गीता का मुक्तकण्ठ से गान करते हुये कर्मयोग, भक्तियोग एवं ज्ञानयोग का अधिकारानुसार नित्य अनुष्ठान करते हैं, वे भी कर्मबन्धन—जन्म-मृत्यु से मुक्त हो जाते हैं।

ऐसे ही भगवान् ने उद्धवजी से भी कहा है—

'एवमेतान मयाऽऽदिष्टाननुतिष्ठन्ति मे पथः।
क्षेमं विन्दंति मत्स्थानं यद् ब्रह्म परमं विदुः॥'
[भी॰ भा॰ ११।२०।३७]

इस प्रकार जो मुझसे निर्दिष्ट इन ज्ञान, भक्ति और कर्म मार्गों का अनुसरण करते हैं, वे मेरे कल्याणस्वरूप परमधाम को प्राप्त होते हैं; क्योंकि वे मुझ परब्रह्म को तत्त्वतः जान लेते हैं ॥३१॥

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२॥

परन्तु जो नास्तिक आत्मदरशारे मेरे इस परमपावन कल्याणमय मत से दोषदृष्टि के कारण इसका अनुसरण नहीं करते, उनको सर्वज्ञान अर्थात् ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञादि ज्ञान से शून्य, महामूर्ख तथा नष्ट—विक्षिप्त चित्तवाला जान । अभिप्राय यह है कि जो विषयासक्त हैं, उन मिथ्या नाम-रूप के उपासक देहात्मवादियों को मेरे इस परमपावन—

'सर्ववेदमयीगीता' [वा० पु०]

सर्ववेदमय परमार्थवाक्य—गीताशास्त्रपर विश्वास नहीं होता, जो कि सम्पूर्ण ज्ञान का भण्डार है ।

'उलूकस्य यथा भानुरन्धकारः प्रतीयते ।
स्वप्रकाशे परानन्दे तमोमूढस्य जायते ॥'
[आ० प्र० उ० २५]

जैसे उल्लू को अन्धकार से ही प्रेम होता है प्रकाश से नहीं, वैसे ही जो नष्टचित्तविपरीतदर्शी निशाचर हैं, उनको अज्ञान से ही प्रेम होता है ज्ञान स्वरूप परमात्मा से नहीं । इसीलिये अज्ञानग्रस्त विपरीतदर्शी अन्धों को—

'अज्ञस्य दुःखौघमयं ज्ञस्यानन्दमयं जगत्[1] ।
अन्धं भुवनमन्धस्य प्रकाशं तु सुचक्षुषाम् ॥'
[व० उ० २।२२, २३]

यह जगत् दुःखमय, अन्धकारस्वरूप दिखाई देता है, जो कि ज्ञानियों के लिये आनन्दमय प्रकाशस्वरूप है । इस प्रकार वे अविवेकी मेरे इस परम पावन और निर्विकार मत में दोषारोपण करके मूढ़ता से युक्त हो—

---

१. जैसे अन्धे को यह लोक अन्धकारमय है और सुनेत्रवान् को प्रकाशमय है, वैसे ही अज्ञानी के लिये यह जगत् दुःखों का समूहमय है और ज्ञानी के लिये आनन्दमय है ।

'असुर्यानाम ते लोकाः' [ई० उ० ३]

अनात्मदर्शन के कारण बार बार आसुरी लोकों को ही प्राप्त होते रहते हैं ॥

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३३॥

जब प्रकृति का अतिक्रमण किये हुये ज्ञानी-गुणातीत पुरुष भी त्रिगुणात्मक शरीर धारण करने के कारण पूर्व संस्कारवश अपनी प्रकृति के अनुसार ही देखते, सुनते तथा आहार-विहारादि की चेष्टा करते हैं, तो फिर उन प्रकृति के वश में रहनेवाले देहाभिमानी अज्ञानियों का कहना ही क्या ? इस प्रकार सभी प्राणी बलवान प्रकृति के अधीन होकर अपने अपने स्वभावानुसार चेष्टा करते हुये प्रकृति की ओर परवश जा रहे हैं, फिर इसमें तेरा या अन्य किसी का क्षणिक निग्रह—दुराग्रह क्या करेगा ? अर्थात् 'मैं यह करूँगा और यह नहीं करूँगा' इस व्यर्थ हठ से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? इसलिये तू क्षात्र-प्रकृति के अनुसार युद्ध ही कर ॥३३॥

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३४॥

इस प्रकार इस प्रकृति के अनुसार ही सब इन्द्रियों के इष्टानिष्ट रूप, रस, शब्दादिक विषयों में राग-द्वेष स्थित है, जो मनुष्य के दुःख—जन्म-मृत्यु के प्रधान कारण हैं। जैसा कि श्रुति और पुराण में भी कहा गया है :—

'इदं रम्यमिदं नेति बीजं ते दुःखसंततेः'[1]

[अन्न० उ० ५।७०]

'रागद्वेषानलेपक्वं मृत्युरश्नाति मानवम्'[2]

[ग० पु० २।४६।४३]

इसलिये कल्याणकामी पुरुष को—

'भोगेच्छामात्रको बन्धस्तत्त्यागो मोक्ष उच्यते'

[म० उ० ५।९७]

'यद्यस्याभिमतं वस्तु तत्त्यजन्मोक्षमश्नुते'

[म० उ० ४।८८]

---

१. यह रम्य है और यह रम्य नहीं है—ये दोनों दुःखसंतति के ही हेतु हैं।

२. राग द्वेष रुपी अग्नि में पके हुये मनुष्य को मृत्यु खाती है।

'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' [श्रुति]

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन' [नि० उ०]

['भोगेच्छा को बन्धन तथा उसके त्याग को मोक्ष कहते हैं' 'जो जो स्वाभिमत वस्तु है उसका त्याग करता हुआ पुरुष मोक्ष-सुख को भोगता है' 'ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है' 'यह सब ब्रह्म है इसमें नानात्व कुछ भी नहीं है']

इन परम प्रमाणभूता श्रुतियों के अनुसार विवेक-वैराग्य से युक्त होकर सर्वात्मदर्शन के द्वारा—

'दृश्यासंभवबोधेन रागद्वेषादि तानवे'

[म० उ० ४।६२]

दृश्य-प्रपञ्च का आत्यन्तिक अभाव देखते हुये राग द्वेष के वश में नहीं होना चाहिये, बल्कि—

'वासुदेवः सर्वमिति' [गी० ७।१६]

की दृष्टि के द्वारा इनको ही वश में कर लेना चाहिये, क्योंकि ये दोनों मोक्ष-मार्ग के परिपन्थी—चोर हैं अर्थात् अनात्म जागतिक बुद्धि से आत्मतत्त्व को आच्छादित करके जन्म-मृत्यु प्रदान करते हैं। इसलिये मुमुक्षु को इन दुष्टों से बचने के लिये सदैव सर्वात्मदृष्टि से युक्त होकर अपने वर्णाश्रमानुकूल व्यापार ही करना चाहिये ॥३४॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥३५॥

अच्छी प्रकार अनुष्ठित अपना विगुण धर्म भी दूसरे के धर्म से श्रेष्ठ है।

'स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः ।
विपर्ययस्तु दोष स्यादुभयोरेष निश्चयः ॥'

[श्री० भा० ११।२१।२]

वर्णाश्रमावलम्बियों की शास्त्रादेशानुसार अपने अपने अधिकार में जो निष्ठा है, वह गुण—स्वधर्म है और जिसमें अधिकार नहीं है, वह दोष—परधर्म है। स्वधर्म में मरना श्रेष्ठ है, क्योंकि—

'वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः ।
तद्धि कुर्वन्यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम् ॥'

[म० स्मृ० ४।१४]

पुरुष वेदोक्त स्वकीय धर्म को निरन्तर सावधान होकर करता हुआ परमगति को प्राप्त करता है और परधर्म भय—जन्म-मृत्यु का हेतु है।

'तत्यागी पतितो भवेत्' [स्मृति]

स्वधर्म का त्याग करने वाला पतित हो जाता है।

'अकृत्वा वैदिकं नित्यं प्रत्यवायी भवेन्नरः' [श्रुति]

वैदिक नित्य कर्मों का अनुष्ठान न कर मनुष्य प्रत्यवायी होता है।

'नाचरेद् यस्तु वेदोक्तं स्वमज्ञोऽजितेन्द्रियः।
विकर्मणा ह्यधर्मेण मृत्योर्मृत्युमुपैति सः॥
[श्री० भा० ११।३।४५]

जो अज्ञ, अजितेन्द्रिय पुरुष वेदोक्त कर्मों का त्याग करता है, वह स्वेच्छाचारी स्वधर्म के त्याग के कारण विकर्मरूप अधर्म ही करता है, जिसके फलस्वरूप वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है।

अर्जुन! इसलिये तुझे भी अमृतत्व के हेतुभूत स्वधर्मरूप धर्मयुद्ध का त्याग नहीं करना चाहिये और न मृत्यु के हेतुभूत अहिंसा तथा भिक्षान्नरूप परधर्म को स्वीकार ही करना चाहिये। देख, चकोर के लिये दाहक अङ्गार भी हितकर, जीवनदायक है, जो दूसरों के लिये हानिकर मृत्युदायक है और श्रेष्ठ कपूर, जो दूसरों को हितकर, जीवनदायक है, वह उसके लिये हानिकर, मृत्युदायक है। विष से सृष्ट विषकीड़ा विष ही में सुखी रहता है, श्रेष्ठ अमृत में नहीं। इसी प्रकार तुझे भी कल्याण के हेतुभूत स्वभाव से सृष्ट हिंसात्मक क्षात्रधर्म में ही सुखी रहना चाहिये, अकल्याण के हेतुभूत अहिंसात्मक श्रेष्ठ कर्म में नहीं ॥३५॥

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥३६॥

अर्जुन बोला—हे श्रीकृष्ण! यह मनुष्य न चाहता हुआ भी किस बलवान की प्रेरणा से बलात् किसी कर्म में नियोजित पुरुष की भाँति परवश होकर पापाचार करता है अर्थात् स्वधर्म का त्याग और परधर्म का ग्रहण करता है, उसे बतलाने की कृपा कीजिये, जिससे मैं पापाचार से मुक्त होकर कल्याण को प्राप्त हो सकूँ ॥३६॥

श्री भगवानुवाच
काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७॥

इस पर रमारमण आनन्दकन्द श्री कृष्णचन्द्र बोले—हे निष्पाप अर्जुन! यह काम ही किसी कारणवश क्रोध के रूप में परिणत हो जाता है, इसलिये क्रोध भी यही है। तथा जिसकी सृष्टि रजोगुण से हुई है—

'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति[१]।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥'
[ना० प० उ० ३।३७]

जो अग्नि के सदृश कभी भी विषयों के भोगने से तृप्त नहीं होता, सदैव भूखा ही रहता है, चौदहों भुवन जिसका एक ग्रास भी नहीं होता, जो—

'इच्छामात्रमविद्येयम्' [म० उ० ४।११६]

अविद्या का स्वरूप एक, अद्वितीय, सद्घन, चिद्घन, आनन्दघन सत्ता में द्वैत प्रपञ्च को खड़ाकर संसार-सागर को विस्तीर्ण करने वाला—

'द्वितीयाद्वैभयं भवति' [बृ० उ० १।४।२]

द्वैत दर्शन का पोषक, शोक-मोह रूप भय को प्रदान करनेवाला और अभेद दर्शन का नाशक है तथा जो सत्य का असत्य, असत्य का सत्य, धर्म को अधर्म, अधर्म को धर्म, आत्मा को अनात्मा और अनात्मा को आत्मा—इस विपरीतदर्शन के द्वारा शास्त्रविरुद्ध क्रियाओं को कराकर प्रेतों की भाँति गन्तव्य स्थान—सुख-शान्ति—परमात्मा की ओर जाने से रोककर अनात्म-दर्शन के द्वारा जीवों को—

'असुर्यानाम ते लोकाः [ई० उ० ३]

बार-बार आसुरी लोकों को ही प्रदान करता है, वह महान् पातकी मोक्ष का प्रतिबन्धक काम ही जीव का प्रधान शत्रु है, अन्य कोई मनुष्य नहीं। क्योंकि—

'कामक्रोधौ महाशत्रू देहिनां सहजावुभौ'

---

१. विषय-भोग की कामना भोगों के उपभोग से कदापि शान्त नहीं होती, किन्तु उल्टे ही बढ़ती है, जैसे घी डालने से अग्नि और भी प्रज्वलित हो जाती है।

[इस न्याय से] काम और क्रोध ही जीवों के स्वाभाविक शत्रु हैं। इसलिये मुमुक्षु को इन्हीं दोनों को स्वधर्म से शुद्धचित्त होकर सर्वात्मदर्शन के द्वारा जीतने का प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि इनको जीतना ही अमृतत्व की प्राप्ति है ॥३७॥

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्वेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥

जैसे अप्रकाशस्वरूप धूम से प्रकाशस्वरूप अग्नि का स्वरूप आच्छादित हो जाता है, मल से निर्मल दर्पण ढक जाता है तथा जैसे अचेतन झिल्ली से चेतन गर्भस्थ शिशु ढक जाता है, वैसे ही अप्रकाशस्वरूप मलिन तथा अचेतन काम से प्रकाशस्वरूप, निर्मल तथा चेतनस्वरूप ज्ञान ढका हुआ है अर्थात्—

'निर्विकल्पा च चिन्मात्रा वृत्तिः प्रज्ञेतिकथ्यते'

[अ० उ० ४४]

निर्विकल्प चिन्मात्र ब्रह्मविषयिणी बुद्धि ढकी हुई है ॥३८॥

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥

इस काम ने ही बन्धन के हेतुभूत अनात्मबुद्धि के द्वारा ज्ञान—मोक्ष के हेतुभूत सर्वत्र ब्रह्म को विषय करनेवाली चिन्मय ब्रह्माकार बुद्धि-वृत्ति को आच्छादित कर लिया है, इसलिये यह ज्ञानियों का नित्य वैरी है अर्थात् ज्ञानी ही मोक्ष—सुख-शान्ति के प्रतिबन्धक, जन्म-मृत्यु प्रदान करनेवाले इस काम को शत्रु समझता है अज्ञानी नहीं। क्योंकि अज्ञानी तो कामनाओं का उपासक ही है, उसे कामनाओं की पूर्ति से ही तृप्ति होती है, परन्तु ज्ञानी को कामनाओं के शमन—ब्रह्मदर्शन से तृप्ति होती है। इस दुष्पूर—विषय भोगने से कभी भी तृप्त न होने वाले, अग्नि के सदृश त्रैताप रूप दुःसह दुःख प्रदान करनेवाले काम के द्वारा ही अमृतत्व—सुख-शान्ति प्रदान करने वाला ज्ञान ढका हुआ है।

'सतोऽसत्ता स्थिता मूर्ध्नि रम्याणां मूर्ध्न्यरम्यता'।
सुखानां मूर्ध्नि दुःखानि' [म० उ० ६।२४]

---

१. सत् के सिर पर असत् स्थित है, रमणीय के ऊपर अरमणीय सवार है और सुखों के सिर पर दुःख स्थित है।

अर्थात् यह काम ही सत्य—सुख-शान्ति के शिर पर असत्य—दुःख-अशान्ति के रूप से स्थित है, रमणीय—निर्विकार पर अरमणीय—विकार के रूप से स्थित है और सुख—आनन्दस्वरूप ब्रह्म पर दुःखस्वरूप जगत् के रूप से स्थित है।

'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥'
[ना० प० उ० ३।३७]

जैसे दहकती हुई अग्नि को तृप्त करने के लिये लोक का ईंधन अपूर्ण है, वैसे ही कामाग्नि में समस्त लोकों के भोग भस्म हो जाते हैं, परन्तु उसकी तृप्ति नहीं होती—

'सर्व संसार दुःखानां तृष्णैका दीर्घदुःखदा'[1]
[म० उ० ३।२५]

किन्तु महान् दुःखदायिनी तृष्णा बनी ही रहती है॥३६॥

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥४०॥

यह काम रूप, रस आदि ग्रहण करने वाली चक्षु आदि इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि को आश्रय स्थान बनाकर—

'यद्यद्धि कुरुते किंचित्तत्तत्कामस्य चेष्टितम्'
[म० स्मृ० २।४]

इन्द्रियों के व्यापारों से भोक्ता, भोग्य, इष्ट-अनिष्ट तथा कर्ता, कर्म एवं क्रिया की त्रिपुटी को सत्य समझाकर तथा बुद्धि को बहिर्मुख बनाकर अनात्मदर्शन के द्वारा ज्ञान—सर्वात्मदर्शन को आच्छादित करके—

'असुर्या नाम ते लोकाः' [ई० उ० ३]

आसुरी लोकों को प्रदान कर जीव को मोहित करता है अर्थात् जीव को परमात्मतत्त्व की ओर जाने से रोककर अनात्म—जन्म-मृत्यु प्रदान करने वाले संसार में ही भटकाता है। इसलिये इस काम को जीतने का अवश्य प्रयत्न करना चाहिये॥४०॥

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहिह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥४१॥

---

१. संसार के सम्पूर्ण दुःखों में यह तृष्णा ही महान् दुःख देने वाली है।

हे अर्जुन ! इस शत्रु के निवास के ये ही तीन उपर्युक्त स्थान हैं। इसलिये तू—

'बन्ध इन्द्रियविक्षेपो मोक्ष एषां च संयमः'

[श्री० भा० ११।१८।२२]

इन्द्रिय-विक्षेप को बन्धन और उसके संयम को मोक्ष समझकर सर्वप्रथम इन्द्रियों को वश में कर ले। तत्पश्चात् मन, बुद्धि को जीतकर अर्थात्—

'यदापञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ॥'

[क० उ० २।३।१०]

मन, बुद्धि को संकल्पशून्य निर्विकल्पावस्था में लाकर—

'आत्मैवेदं सर्वम्' [छा० उ० ७।२५।२]
'अहमेवेदं सर्वम्' [छा० उ० ७।२५।१]
'सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन'

[नि० उ०]

[इन श्रुतियों के अनुसार] सर्वात्मदर्शन के द्वारा महान् पातकी मोक्ष के प्रतिबन्धक—

'अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद परोक्षज्ञानमेव तत्'[1]

[व० उ० २।४१]

शास्त्रीय ज्ञान—परोक्षज्ञान तथा—

'अहं ब्रह्मेति चेद्वेद साक्षात्कारः स उच्यते'[2]

[व० उ० २।४१]

विज्ञान—अपरोक्ष ज्ञानके नाशक इस काम को सम्यग्रूपेण मार अर्थात् स्वरूपदर्शन के द्वारा इसका आत्यन्तिक अभाव देख; क्योंकि कामना रहते हुये किसी भी पुरुष को ज्ञान विज्ञान की प्राप्ति संभव नहीं और जब तक ज्ञान-विज्ञान नहीं, तब तक सुख-शान्ति की प्राप्ति भी संभव नहीं ॥४१॥

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥

---

१. 'ब्रह्म है' यदि ऐसा जान ले तो वह परोक्ष ज्ञान ही है।
२. 'मैं ही ब्रह्म हूँ' यदि ऐसा जान ले तो वह साक्षात्कार—अपरोक्ष ज्ञान कहा जाता है।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

अर्जुन ! मैं अब तुम्हें मोक्ष के प्रतिबन्धक काम रूप महान् शत्रु के मारने का अत्युक्त सर्वोत्तम उपाय बतलाता हूँ। इस पाञ्चभौतिक स्थूल शरीर से सूक्ष्म तथा प्रकाशक होने के कारण इन्द्रियाँ पर—श्रेष्ठ हैं, इन्द्रियों से मन संकल्पात्मक और उसका प्रेरक होने से श्रेष्ठ है, मन से निश्चयात्मिका बुद्धि निश्चयपूर्वक संकल्प के कारण पर—श्रेष्ठ है और बुद्धि से—

'बुद्धेर्द्रष्टा' [बृ० उ० उ० २]

उसका साक्षी, सर्वाधिष्ठान, सर्वान्तर, सर्वव्यापक, सर्वप्रकाशक और सूक्ष्म होने से आत्मा अत्यन्त उत्कृष्ट है। *आत्मा से पर कुछ भी नहीं है*, वही सूक्ष्मत्व की पराकाष्ठा और परागति है। जैसा श्रुति भी कहती है कि :—

'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः'।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परागतिः' ॥
[क० उ० १।३।१०, ११]

अर्जुन ! इस प्रकार तू सर्वोपरि, सर्वशक्तिमान्, चेतन एवं साक्षी आत्मा ही है, *शरीर, मन, बुद्धि आदि जड़ दृश्यवर्ग नहीं।*

देख, *श्रुति भी यही कहती है :—*

'चक्षुषो द्रष्टा श्रोत्रस्य द्रष्टा वाचो द्रष्टा मनसो द्रष्टा
बुद्धेर्द्रष्टा प्राणस्य द्रष्टा तमसो द्रष्टा सर्वस्य द्रष्टा
ततः सर्वस्मादस्मादन्यो विलक्षणः' [नृ० उ० उ० २]

चक्षु, श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियों तथा वागादि कर्मेन्द्रियों का द्रष्टा, मन का द्रष्टा, बुद्धि का द्रष्टा, प्राण का द्रष्टा, तम-अहंकार का द्रष्टा तथा सबका द्रष्टा और

---

१. इन्द्रियों की अपेक्षा उनके विषय श्रेष्ठ हैं, विषयों से मन श्रेष्ठ है और मन से बुद्धि श्रेष्ठ है और बुद्धि से महान् आत्मा—महत्तत्त्व श्रेष्ठ है, महत्तत्त्व से अव्यक्त—प्रकृति श्रेष्ठ है और अव्यक्त से भी पुरुष श्रेष्ठ है, पुरुष से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है, वही सूक्ष्मत्व की पराकाष्ठा है और वही उत्कृष्ट गति है।

इन सबसे विलक्षण है। इसलिये तू अपने अद्वितीयत्व, निर्विकारत्व एवं अनन्तत्व को समझकर बुद्धि को आत्मचिन्तन की शान पर चढ़ाकर शुद्ध कर ले और उससे मन तथा इन्द्रियों को वश में करके इस दुर्जय काम रूप महान् शत्रु को मार अर्थात्—

'वासुदेवः सर्वमिति' [गी० ७।१६]

की तीसरी दिव्य दृष्टि से भस्म करके—

'अहमेवेदं सर्वम्' [छा० उ० ७।२५।१]

सर्वत्र अपने को देखते, सुनते एवं समझते हुये समता की विभूति लगाकर सुखी, कृतकृत्य हो जा ॥४२, ४३॥

तीसरा अध्याय समाप्त ।

चौथा अध्याय

ज्ञानकर्मसंन्यासयोग

॥ ॐ ॥

चौथा अध्याय

पूर्व के अध्यायों में उपेय रूप से ज्ञानयोग तथा उपाय रूप से कर्मयोग कहा गया, जिसमें वेद का प्रवृत्तिरूप धर्म और निवृत्तिरूप धर्म पूर्णरूपेण आ जाता है। इस प्रकार भगवान् वेदार्थ का ज्ञानयोग में परिसमाप्ति देखकर वंशपरम्परागत ज्ञानयोग की स्तुति करते हुये बोले :—

श्री भगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥ १॥

अर्जुन! मैंने पूर्वोक्त इस ज्ञान निष्ठारूप अविनाशी योग को 'जो वेद का मूल होने से अव्यय है, अथवा जिसका फल मोक्ष अव्यय है' सृष्टि के आदि में क्षत्रियवंश के बीजभूत सम्राट् सूर्य से कहा था। तथा—

'स्वयं तीर्णः परान् तारयति'

[इस न्यायानुसार] *सूर्य ने स्वयं मुक्त हो दूसरों को मुक्त करने के लिये इस योग का अपने पुत्र मनु को उपदेश दिया और मनु ने अपने पुत्र सम्राट् इक्ष्वाकु से कहा॥ १॥*

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप॥ २॥

इस प्रकार गुरु-शिष्य परम्परा से प्राप्त निमि, जनक, भगीरथादि राजर्षियों ने इस महान् योग को जाना; परन्तु द्वापर के अन्तकाल में राजाओं के अजितेन्द्रिय, कामक्रोधादि के वशीभूत एवं अनधिकारी होने के कारण तथा बहुत काल होने से इस योग की परम्परा का उच्छेद हो गया था॥ २॥

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥ ३॥

परन्तु तू काम-क्रोधादि शत्रुओं को तपानेवाला, उर्वशी की भी उपेक्षा करनेवाला, परम जितेन्द्रिय, मेरा भक्त, मित्र तथा इस योग का अधिकारी और शिष्य भी है, इसलिये—

'अनन्यभक्ताय सर्वगुणसंपन्नाय दद्यात्'

[मैत्रा० उ० ६।२६]

[इस न्यायानुसार] तुझ अनन्य तथा सर्वगुण सम्पन्न भक्त को निमित्त बनाकर करुणावश जीवों के संसार-सागर से मुक्त होने के लिये, कर्तृत्व-भोक्तृत्वरूप शोक-मोह के नाशक इस—

'अणुः पन्था विततः पुराणः'

[बृ० उ० ४।४।८]

सूक्ष्म, विस्तीर्ण, पुरातन, गुह्यतम एवं सर्वोत्तम ज्ञान को कहा ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

भगवान्! आप का जन्म तो अर्वाचीन अभी वसुदेव के यहाँ हुआ है और सूर्य का जन्म सृष्टि के आदि में हुआ था, ऐसी असम्बद्ध वार्ता मेरी मानवी बुद्धि में नहीं आ रही है। इसलिये यह मैं कैसे समझूँ कि सृष्टि के आदिकाल में सचमुच आपने ही सूर्य को उपदेश दिया था ॥ ४ ॥

श्री भगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ ५ ॥

हे अर्जुन! अनन्त शक्ति सम्पन्न मुझ परमेश्वर के और तेरे बहुत जन्म हो चुके हैं। मैं उन सबको नित्य, शुद्ध, बुद्ध एवं अविनाशी होने के कारण जानता हूँ, क्योंकि—

'न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्'[१]

[बृ० उ० ४।३।३०]

विज्ञाता के विज्ञान का लोप नहीं होता, इसलिये मैं—

'वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि' [गी० ७।२६]

---

१. विज्ञाता की विज्ञप्ति [विज्ञानशक्ति] का सर्वथा लोप नहीं होता; क्योंकि वह अविनाशी है।

अर्थात् भूत, वर्तमान और भविष्य को जानता हूँ। परन्तु तुम अज्ञानमय बुद्धि से राग-द्वेषयुक्त होने के कारण न अपने को ही जानते हो, न अन्य सब प्राणियों को ही ॥ ५ ॥

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

मुझ—

'एकमेवाद्वितीयम्' [छा० उ० ६।२।१]
'न तु तद्द्वितीयमस्ति' [बृ० उ० ४।३।२३]

एक अद्वितीय सच्चिदानन्दघन ब्रह्म में द्वैताभाव होने के कारण—

'न चास्य कश्चिज्जनिता' [श्वे० उ० ६।९]
'अजो नित्यः' [क० उ० १।२।१८]

कोई मेरा जनिता नहीं है, इसलिये मैं जन्म रहित, निर्विकार तथा—

'एष सर्वेश्वरः' [बृ० उ० ४।४।२२]
'न चाधिपः' [श्वे० उ० ६।९]
'य ईशे अस्य जगतो नित्यमेव'[1]
[श्वे० उ० ६।१७]
'तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्'[2]
[श्वे० उ० ६।७]

सर्वभूतप्राणियों का नित्य ईश्वर हूँ। मुझ निर्गुण, शुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूप वासुदेव में देह-देही भाव नहीं है, तो भी लोकानुग्रहार्थ—

'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्'
[श्वे० उ० ४।१०]

'एको देवो बहुधा निविष्ट अजायमानो बहुधा विजायते'[3]
[मुद्ग० उ० ३।१]

१. जो सर्वदा इस जगत् का शासन करता है।
२. उन ईश्वरों के परम महेश्वर को।
३. एक ही देव बहुत प्रकार से प्रविष्ट होकर स्वयं अजन्मा होते हुये भी बहुत प्रकार से प्रकट होता है।

'ईश्वरस्य महामाया तदाज्ञावशवर्तिनी'[1]

[त्रि० म० उ० ४।१]

मैं अद्वितीय महेश्वर अपनी वशवर्तिनी त्रिगुणात्मिका वैष्णवी माया को वश में करके केवल लीला से स्वच्छन्दरूप से अपने दिव्य—चिन्मय संकल्प से नाना शरीर धारण करता सा प्रतीत होता हूँ, अन्य जीवों जैसे कर्माधीन प्रकृति के वश में होकर प्रजापति ब्रह्मा से विरचित जन्म नहीं लेता, बल्कि स्वेच्छा से अनन्त ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य तथा तेज से सम्पन्न सबके शासक रूप से अवतरित होता हूँ ॥ ६ ॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

हे भारत ! जब जब वर्णाश्रमावलम्बियों के अभ्युदय—निःश्रेयस प्राप्ति के हेतुभूत वेदविहित प्रवृत्ति-निवृत्ति धर्म की हानि और वेदविरुद्ध अधर्म की वृद्धि होती है अर्थात् जब जब मेरी प्राप्ति के साधन वर्णाश्रम धर्म का असुरों के द्वारा नाश किया जाता है, तब तब मैं—

'य ईशे अस्य जगतो नित्यमेव'

[श्वे० उ० ६।१७]

इस जगत् का नित्य शासन करने वाला ईश्वर धर्मात्माओं—अधर्मात्माओं पर अनुग्रह निग्रह करने में समर्थ करुणावश—

'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः'

[गी० १५।७]

अपनी सन्तानों को दुःख से बचाने तथा सुख-शान्ति प्रदान करने के लिये तथा वैदिक धर्म-रक्षार्थ अवतरित होता हूँ ॥ ७ ॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

जो धर्मात्मा प्राय संकट में पड़ने पर भी वैदिक वर्णाश्रमधर्म को नहीं छोड़ते, उन स्वधर्मनिष्ठ साधुओं के रक्षार्थ और जो वेद-विरोधी हैं, उन दुष्टों के नाशार्थ तथा वैदिक सनातन धर्म की स्थापना के लिये मैं प्रत्येक युग में अवतरित होता हूँ।

१. ईश्वर की महामाया उसकी आज्ञा के अनुसार वर्तने वाली है।

ऐसे ही श्रुति में भी कहा गया है—

'संहारार्थं च शत्रूणां रक्षणाय च संस्थितः'।
कृपार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम् ॥'
[कृ० उ० १८, १६]

अभिप्राय यह है कि भुक्ति मुक्ति प्रदान करने वाला मैं परमात्मा साधुओं तथा धर्म के रक्षार्थ सदैव तत्पर रहता हूँ। इसलिये साधुओं को निर्भय एवं निश्चित होकर अपने धर्म पर ही आरूढ रहना चाहिये ॥ ८ ॥

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ६ ॥

अर्जुन ! हमारे जन्म-कर्म दिव्य—चिन्मय हैं अर्थात् मैं—

'अजो नित्यः' [क० उ० १।२।१८]

'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' [श्वे० उ० ६।१६]

अज, नित्य, निष्कल, निष्क्रिय, शान्त तथा स्वरूप से कभी भी न च्युत होने वाला अच्युत हूँ।

'नते ब्रह्मघनेनित्ये संभवन्ति न कल्पिताः।
न शोकोऽस्ति न मोहोऽस्ति न जराऽस्ति न जन्म वा ॥
[म० उ० ६।१३]

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन'
[नि० उ०]

मुझ एक, अद्वितीय, सद्घन, चिद्घन, आनन्दघन ब्रह्म में—शुक्ति में रजतवत्, रज्जु में सर्पवत् तथा स्वर्ण में कुण्डलवत् जन्म—कर्म की केवल प्रतीति मात्र है। अथवा जैसे शुक्ति ही रजताकार, रज्जु ही सर्पाकार तथा स्वर्ण ही कुण्डलाकार होकर भासता है, वैसे ही—

'उपादानं प्रपञ्चस्य ब्रह्मणोऽन्यन्न विद्यते।
तस्मात्सर्वं प्रपञ्चोऽयं ब्रह्मैवास्ति न चेतरत् ॥'
[यो० शि० उ० ४।३]

---

१. शत्रुओं के संहारार्थ तथा साधुओं की रक्षा में जो सम्यक् रूप से स्थित हैं, सम्पूर्ण प्राणियों पर अहैतुकी कृपा करने के लिये एवं अपने आत्मस्वरूप धर्म की रक्षा के लिये वे आनन्दकन्द श्रीकृष्णचंद्र प्रकट हुए हैं।

मैं अधिष्ठानस्वरूप चिन्मय ब्रह्म ही जन्माकार, कर्माकार, शरीराकार तथा जगदाकार होकर भास रहा हूँ; क्योंकि—

'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति' [गी० ७।७]

मुझसे भिन्न कुछ भी नहीं है। अथवा—

'घटनाम्ना यथा पृथ्वी पटनाम्ना हि तन्तवः।
जगन्नाम्ना चिदाभाति सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥'
[यो० शि० उ० ४।१७,१८]

जैसे घट नाम से पृथ्वी तथा पट नाम से तन्तु भासता है, वैसे ही जगत् नाम से मैं ही भास रहा हूँ।

'यथैव मृन्मयः कुम्भस्तद्वद्देहोऽपि चिन्मयः'[1]
[यो० शि० उ० ४।२१]

जैसे कुम्भ मृन्मय है, वैसे ही मेरा शरीर तथा शरीर के जन्म कर्म भी चिन्मय है। इस प्रकार जो तत्त्वतः अन्वय-व्यतिरेक दृष्टि से मेरे जन्म-कर्म के दिव्यत्व-चिन्मयत्व को जानता है अर्थात् ब्रह्मात्मैक्यदृष्टि से अपने जन्म-कर्म तथा शरीर को भी चिन्मय जानता है, वह सर्वात्मदर्शी शरीर-त्याग के पश्चात् जन्म को नहीं प्राप्त होता, किन्तु मुझ सच्चिदानन्दैकरसस्वरूप ब्रह्म को ही प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १० ॥

इस प्रकार—

'मनसश्चेन्द्रियाणां चाप्यैकाग्र्यं परमं तपः'[2]
[म० पु० २३७।१८]

मन और इन्द्रियों को वश में करने वाले परम तपस्वी बहुत से विशुद्धान्तःकरण महात्मा सर्वात्मदर्शन के द्वारा राग, भय, क्रोध से मुक्त हो मेरे शरणापन्न होकर—

---

१. जैसे कुम्भ मृन्मय है, वैसे ही देह भी चिन्मय है।
२. मन और इन्द्रियों की एकाग्रता ही परम तप है।

'एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना।'
स सर्वं समतामेत्य ब्रह्माभ्येति सनातनम्॥'[1]

[स्मृति]

संपूर्ण प्राणियों में आत्मा को देखते हुए साम्य बुद्धि को प्राप्तकर,

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' [छा० उ० ३।१४।१]
'वासुदेवः सर्वमिति' [गी० ७।१६]
'सर्वमिदमहं च वासुदेवः'
'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति' [गी० ७।७]

सर्वत्र मुझ एक अद्वितीय सद्घन, चिद्घन, आनन्दघन परमात्मतत्त्व को अनुभव करते हुए—

'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते' [गी० ४।३८]

इस परम पावन ज्ञानरूप तप के द्वारा पवित्र होकर मेरे भाव को अर्थात् मुझ सनातन ब्रह्म को प्राप्त कर गये ॥ १० ॥

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ ११ ॥

हे पार्थ !

'तं यथा यथोपासते तथैव भवति'[2]

[मुद्ग० उ० ३।३]

[इस सिद्धान्त से] जो मुझको जैसे जिस भाव से भजते हैं, मैं भी उनको वैसे ही उसी भाव से भजता हूँ अर्थात् जो आर्तभक्त दुःखनिवारणार्थ भजते, उनके दुःख को दूर करता; जो अर्थार्थी अर्थ के निमित्त भजते, उनको अर्थ प्रदान करता; जो जिज्ञासु स्वरूप को ज्ञान चाहते, उनको ज्ञान प्रदान करता और जो अभेददर्शी ज्ञानी मुझसे ऐक्य-भाव रखते, उनसे मैं अभेद-

---

१. इस प्रकार जो विशुद्ध बुद्धि के द्वारा सर्वभूतप्राणियों में आत्मा को देखता है, वह सबमें समता को प्राप्तकर सनातन ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।

२. उसकी जैसी जैसी जो उपासना करता है, वह वही हो जाता है।

द्वेषभाव रखता हूँ। अभिप्राय यह है कि मैं सम, शान्त ब्रह्म किसी को राग-द्वेष तथा मोह के वशीभूत होकर नहीं भजता, बल्कि—

'यादृशीभावना यत्र सिद्धिर्भवति तादृशी'[1] [श्रुति]

जैसी जिसकी उपासना होती है, उसके अनुरूप ही फल प्रदान करता हूँ। इस प्रकार सकामी तथा निष्कामी सभी मनुष्य सर्वप्रकार से मुक्त सर्वरूपधारी सुखस्वरूप परमात्मा के मार्ग के अनुसार ही वर्तते हैं ॥ ११ ॥

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥ १२ ॥

परन्तु कर्मों के फल की सिद्धि चाहनेवाले सकामी पुरुष अधिकतर इस लोक में देवताओं की ही उपासना करते हैं मेरी नहीं। क्योंकि मनुष्यलोक में वर्णाश्रमोचित कर्मों तथा शास्त्र का अधिकार होने के कारण कर्मजनित फलों की सिद्धि शीघ्र होती है। इस प्रकार —

'वर्णाश्रमाचारयुता विमूढाः कर्मानुसारेण फलं लभन्ते'
[मैत्रे० उ० १।१३]

वर्णाश्रमाचार से युक्त कामुक मूढ़ पुरुष कर्मानुसार अन्तवान् फल ही प्राप्त करते हैं, दुष्प्राप्य ज्ञान के फल कैवल्य को नहीं ॥ १२ ॥

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चारों वर्णों की सृष्टि सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणों तथा कर्मों के विभाग से मुक्त सर्वज्ञ ईश्वर ने ही माया के आश्रय से की है। जैसा कि वेद में भी कहा गया है—

'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।[2]
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥'
[पुरुष सूक्त १२]

---

१. जहाँ जैसी भावना होती है, वहाँ वैसी सिद्धि होती है।

२. ईश्वर के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, जंघाओं से वैश्य और पैरों से शूद्र उत्पन्न हुये।

जिसमें सत्त्वगुण प्रधान रजोगुण गौण ब्राह्मण के शम, दम आदि कर्म हैं; रजोगुण प्रधान सत्त्वगुण गौण क्षत्रिय के शौर्य तेज धैर्यादि कर्म हैं; रजोगुण प्रधान तमोगुण गौण वैश्य के कृषि, गौरक्षादि कर्म हैं तथा तमोगुण प्रधान रजोगुण गौण शूद्र का सेवा कर्म है। इस प्रकार मैं व्यवहार दृष्टि से चारों वर्णों की सृष्टि करता हुआ भी परमार्थ दृष्टि से—

'मायामात्रमिदं द्वैतम्' [मांडू० का० १।१७]

द्वैत-प्रपञ्च के माया-मात्र—मिथ्या होने के कारण—

'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' [श्वे० उ० ६।१६]

निष्कल निष्क्रिय, शान्त, अकर्ता और निर्विकार ही रहता हूँ ॥ १३ ॥

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥ १४ ॥

मुझ कर्तृत्वाभिमान शून्य—

'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' [श्वे० उ० ६।१६]
'असंगो न हि सज्यते' [बृ० उ० ४।५।१५]
'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' [श्रुति]
'बुद्धेर्द्रष्टा' [नृ० उ० उ० २]

निष्कल, निष्क्रिय, शान्त, असंग एवं सर्वव्यापक बुद्धि के द्रष्टा, साक्षी परमात्मा को बुद्धि के कर्माकर्म लिपायमान नहीं करते; क्योंकि—

'आप्तकामस्य कास्पृहा'[1] [मांडू० का० १।६]
'आनन्दो ब्रह्म' [तै० उ० ३।६]

मैं आप्तकाम, पूर्णकाम, आनंदस्वरूप हूँ। मैं आत्माराम अपने सद्घनत्व, चिद्घनत्व, आनन्दघनत्व में ही स्थित—

'आत्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः' [छा० उ० ७।२५।२]

आत्मा से ही रतिक्रीड़ा तथा आनन्द करता हुआ अपनी महिमा में ही

१. आप्तकाम को क्या स्पृहा ?

स्थित रहता हूँ, असत्, जड़ तथा दुःखस्वरूप जगत् उसके कर्म तथा उसके फल की स्पृहा नहीं करता; क्योंकि—

'मत्तः परतरंनान्यत्किञ्चिदस्ति' [गी० ७।७]

मुझसे भिन्न कुछ है ही नहीं। इस प्रकार जो महात्मा ब्रह्मानन्द को ही—

'स वा एष एवं पश्यन्' [छा० उ० ७।२५।२]

सर्वत्र देखते, सुनते एवं समझते हुए आत्मा से ही रति, प्रीति तथा क्रीडा करते हुए कर्ता, कर्म एवं क्रिया की त्रिपुटी से मुक्त हो—

'मत्स्वरूप परिज्ञानात्कर्मभिर्न स बध्यते'[1]
[व० उ० २।२८]

'सम्यग्दर्शन सम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते'[2]
[म० स्मृ० ६।७४]

'ब्रह्मानन्दं सदा पश्यन्कथं बध्येत कर्मणा'[3]
[व० उ० २।१७]

मुझे आत्मरूप से जानकर, सम्यग्दर्शन संपन्न हो अपने आप्तकामत्व, पूर्णकामत्व निर्विकारत्व तथा साक्षित्व में स्थित हो, कर्तृत्वाभिमानरहित, कर्मासक्ति तथा फलासक्ति से मुक्त होकर कर्म करते हैं, वे भी कर्म से नहीं बँधते; क्योंकि—

'शुभाशुभं कर्म ज्ञानाग्निर्दहते क्षणात्'[4]
[शिवधर्मोत्तर]

'ज्ञानिन सर्वकर्माणि जीर्यन्ते नात्र संशयः'[5]
[लि० पु०]

---

१. वह मेरे स्वरूप के परिज्ञान से कर्मों से नहीं बँधता।
२. सम्यग्दर्शनसंपन्न पुरुष कर्मों से नहीं बँधता है।
३. ब्रह्मानन्द को सदा देखता हुआ कर्मों से कैसे बँधे?
४. ज्ञानाग्नि शुभाशुभ कर्म को क्षणमात्र में भस्म कर देती है।
५. इसमें संदेह नहीं कि ज्ञानी के समस्त कर्म जीर्ण हो जाते हैं।

ज्ञानाग्नि-सर्वात्मदर्शन के द्वारा उनके संपूर्ण शुभाशुभ कर्म भस्मीभूत हो जाते हैं। अभिप्राय यह है कि जब मुझे जाननेवाले मेरे भक्त भी कर्म से नहीं बँधते, तो—

'नात्मानं माया स्पृशति'[1] [नृ० पू० उ० १।५।१]

माया के संसर्ग से शून्य मुक्त ब्रह्म के विषय में कहना ही क्या ? ॥ १४ ॥

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५ ॥

इस प्रकार आत्मा के आप्तकामत्व, पूर्णकामत्व, असंगत्व, निर्विकारत्व, अकर्तृत्व तथा अभोक्तृत्व को जानकर तुम्हारे पूर्वजों ने अब तक कर्मफल को न चाहते हुए ही कर्तृत्वाभिमान से मुक्त हो बुद्धि-शुद्ध्यर्थ तथा लोक-संग्रहार्थ कर्म किया है। इसलिये तू भी निमि, जनकादि पूर्वजों जैसे इस मिथ्या संन्यास का दुराग्रह छोड़कर निष्काम कर्म ही कर, स्वेच्छानुसार शास्त्रविरुद्ध व्यापार मत कर ॥ १५ ॥

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १६ ॥

क्योंकि कर्म क्या है ? अकर्म क्या है ?

'तत्र मुह्यन्ति सूरयः' [श्री० भा० ११।३।४३]

इस विषय में बड़े-बड़े विद्वान् भी मोहित हैं अर्थात् क्या करणीय तथा क्या अकरणीय है ? इसको न जानकर भ्रम में पड़ गये हैं, तो फिर तेरी गणना ही क्या ? इसलिये मैं सर्वज्ञ परमात्मा ही तुझे कर्मों का रहस्य बतलाऊँगा, जिसको जानकर तू बुद्धि के धर्म कर्माकर्म से मुक्त हो, अपने स्वात्मस्वरूप में स्थित होकर अशुभ संसार से मुक्त हो जायेगा ॥ १६ ॥

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ १७ ॥

कर्म-शास्त्रविहित कर्म चारों वर्णों तथा चारों आश्रमों के लिये अलग-अलग क्या है ? इसके रहस्य को भी जानना चाहिए। विकर्म-शास्त्रविरुद्ध कर्म क्या है ? इसके रहस्य को भी जानना चाहिये, तथा अकर्म—चुपचाप

---

१. आत्मा को माया स्पर्श नहीं करती।

बैठने का भी रहस्य जानना चाहिये। क्योंकि शास्त्र, उनके प्रवर्तक आचार्य तथा उनके मत भी अनेक हैं, इसलिये इनके रहस्य को समझना बड़ा ही कठिन है ॥ १७ ॥

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ १८ ॥

जो कर्तृत्वाभिमान से रहित कर्म में बंधन का अभाव देखने के कारण अकर्म-निष्क्रियब्रह्म-मोक्ष को देखता है और कर्तृत्वाभिमानयुक्त अकर्म-कर्म न करने में अर्थात् संकल्पयुक्त चुपचाप बैठने में कर्म-बन्धन को देखता है। अथवा, जो कर्माकर्म दोनों को बुद्धि का ही धर्म समझता है—

'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' [श्वे० उ० ६।१९]

निष्कल, निष्क्रिय, शान्त एवं साक्षी आत्मा का नहीं अर्थात् जैसे वायु, अग्नि, जल, ऋतुओं के गुण सर्दी-गर्मी तथा आँधी तूफान के भावाभाव में अधिष्ठानस्वरूप, अचल, सर्वगत आकाश सदैव निर्विकार ही रहता है, वैसे ही त्रिगुणात्मक इन्द्रियों के कर्माकर्म में अधिष्ठानस्वरूप अविनाशी, सर्वगत एवं साक्षी आत्मा निर्विकार ही रहता है।

अथवा—

'यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।[1]
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥'

[ई० उ० ६]

'यदा सर्वाणि भूतानि स्वात्मन्येव हि पश्यति।[2]
सर्वभूतेषु चात्मानं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥'

[अम० उ० ५।७६]

---

१. जो [मुमुक्षु] संपूर्ण भूतों को अपनी आत्मा में देखता है और सब भूतों में अपनी आत्मा को देखता है, वह इस सर्वात्मदर्शन के कारण किसी से भी घृणा नहीं करता।

२. जिस अवस्था में सर्वात्मदर्शी महात्मा सब भूतों को अपनी आत्मा में ही देखता है और अपनी आत्मा को संपूर्ण भूतों में स्थित देखता है, उस काल में वह ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।

'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।[1]
संपश्यन्ब्रह्म परमं याति नान्येन हेतुना ॥'

[कै० उ० १।१०]

[इन श्रुतियों के अनुसार] कर्म अर्थात् जायमान ब्रह्म के कार्यभूत अध्यस्त संपूर्ण विश्व-प्रपञ्च में अकर्म यानी निष्क्रिय अधिष्ठानस्वरूप परब्रह्म को देखता है और अकर्म अर्थात् अधिष्ठानस्वरूप परब्रह्म में कर्म यानी अध्यस्त संपूर्ण विश्व-प्रपञ्च को देखता है अर्थात् जो कर्माकर्म एवं अधिष्ठान-अध्यस्त में अभेददर्शन करनेवाला सर्वात्मदर्शी महात्मा अन्वय-व्यतिरेक दृष्टि से सर्वत्र ब्रह्मदर्शन के कारण—

'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति' [मु० उ० ३।२।६]
'ब्रह्मरूपतया पश्यन्ब्रह्मैव भवति स्वयम्'[2]

[व० उ० २।१४]

ब्रह्मरूप हो गया है, वही मनुष्यों में ज्ञानी है, वही ब्रह्मात्मैक्यानुभव से युक्त है और वही संपूर्ण कर्मों को करनेवाला है ॥ १८ ॥

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ १६ ॥

जिसके संपूर्ण कर्म कामना और उसके कारण संकल्प से रहित हैं अर्थात् जो कामना तथा संकल्पशून्य अपने निर्विकल्पावस्था में स्थित होकर यह अनुभव करता है कि 'मैं अकर्ता, अभोक्ता, असंग और निर्विकार हूँ मुझमें शरीर के विहित अविहित औपाधिक कर्म नहीं हैं ।

अथवा जो—

'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति'

[छा० उ० ७।२४।१]

---

१. अभेददर्शी पुरुष अपनी आत्मा को सर्वभूतों में और सर्वभूतों को अपनी आत्मा में देखता हुआ परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होता है, अन्य उपाय से नहीं ।

२. [सबको] ब्रह्मरूप से देखता हुआ स्वयं भी ब्रह्म ही हो जाता है ।

आत्मा से भिन्न कुछ न देखने, सुनने एवं समझने के कारण कर्माकर्म काम तथा संकल्पादि को आत्मरूप जानकर कर्ता, कर्म एवं क्रिया की त्रिपुटी से मुक्त है अर्थात् जिसके—

'शुभाशुभं कर्म ज्ञानाग्निर्दहते क्षणात्' [शिवधर्मोत्तर]

समस्त शुभाशुभ कर्म अन्वय व्यतिरेक दृष्टि से सर्वात्मदर्शनरूप ज्ञानाग्नि के द्वारा दग्ध हो चुके हैं अर्थात् जिसके कर्म नैष्कर्म्यावस्था को प्राप्त हो चुके हैं, उसे ज्ञानी जन पंडित कहते हैं ॥ १६ ॥

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥ २० ॥

जो कर्तृत्वाभिमान, कर्मासक्ति तथा फलासक्ति का त्यागकर भुक्ति तथा मुक्ति का आश्रय छोड़कर—

'स वा एष एवं पश्यन्' [छा० उ० ७।२५।२]

सर्वत्र अपने को ही देखने, सुनने एवं समझने के कारण आत्मा ही से रति, क्रीड़ा, मैथुन तथा आनन्द करते हुए—

'स्वमात्मनि स्वयं तृप्तः' [ते० बि० उ० ४।८१]
'आत्मनाऽऽत्मनि संतृप्तः' [अन्न० उ० ४।३]

अपने अन्तरात्मा में ही स्वयं तृप्त—सुखी है, वह—

'सम्यग्दर्शनसंपन्नः कर्मभिर्न निबध्यते'
[म० स्मृ० ६।७४]

सम्यग्दर्शन-सम्पन्न सर्वात्मदर्शी पुरुष व्यवहार दृष्टि से कर्म में प्रवृत्त होता हुआ भी परमार्थ दृष्टि से द्वैत-प्रपंच का अभाव देखने के कारण कुछ भी नहीं करता अर्थात् नित्य मुक्त निष्क्रिय ही रहता है ॥ २० ॥

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ २१ ॥

जो—

'आत्मावलोकनार्थं तु तस्मात्सर्वं परित्यजेत्'[1]
[अन्न० उ० १।४६]

१. इसलिये आत्मसाक्षात्कारार्थ सब कुछ त्याग कर देना चाहिये।

आत्मदर्शनार्थ नित्य-अनित्य वस्तु के विवेक-वैराग्य से युक्त हो, लोक-परलोक को मिथ्या बन्धन का हेतु समझकर, इनके भोगों की इच्छा से रहित निःस्पृह हो, इंद्रिय और मन को पूर्णतया वश में कर लिया है और शारीरिक, वाचिक तथा मानसिक सब प्रकार के परिग्रह से मुक्त है, वह विशुद्धांतःकरण आत्म-वान् पुरुष—

'आत्मक्रीड आत्मरतिरात्मवान्समदर्शनः'

[ना० प० उ० ५।२५]

सर्वात्मदर्शन के कारण आत्मा से रति, क्रीडा तथा आनंद को प्राप्तकर सदैव अखंडाकार वृत्ति से युक्त हो, लोक दृष्टि से केवल शरीर निर्वाह मात्र के लिए भिक्षाटनादि कर्म करता हुआ, स्वानुभव से अपने को नित्य निर्विकार जानने के कारण पाप अर्थात् संसार-बंधन को नहीं प्राप्त होता ॥ २१ ॥

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥ २२ ॥

जो—

'तस्मिन्दृष्टे परावरे' [मु० उ० २।२।८]

परावरैकत्व-विज्ञान से तृप्त रहने के कारण—

'यदृच्छालाभतो नित्यम्' [श्री जा० उ० २।५]

'अयाचितं यथालाभं भोजनाच्छादनं भवेत्'

[ना० प० उ० ५।४]

'यदृच्छयैवापतितं ग्रसेदाजगरोऽक्रियः'

[श्री० भा० ११।८।२]

प्रारब्धानुसार बिना माँगे जो कुछ भी थोड़ा बहुत, अच्छा-बुरा, भोजन-वस्त्रादि मिल जाता है, उसी में अजगरवत् अक्रिय रूप से नित्य संतुष्ट रहता है—

तथा जो—

'सर्व द्वंद्वैर्विनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते'[1]

[ना० प० उ० ३।५२]

---

१. सब द्वंद्वों से पूर्णतया मुक्त पुरुष ब्रह्म में ही अवस्थित होता है।

अर्पण-चमस, स्रुक्, स्रुवादि यज्ञपात्र सब अस्वदैरूप ब्रह्म ही है, भोज्य भी ब्रह्म ही है, हवि—घृत, चरु पुरोडाशादि होमद्रव्य सब ब्रह्म ही है, होम की आहुति देनेवाला हवनकर्ता होता भी ब्रह्म ही है, जप भी ब्रह्म ही है, क्रिया भी ब्रह्म ही है। अभिप्राय यह है कि जैसे अविवेकी की दृष्टि से जो कुंडल है, वही विवेकी की दृष्टि से स्वर्ण है, वैसे ही जो अविवेकी की दृष्टि से स्रुक, स्रुव आदि है, वह सब विवेकी की दृष्टि से ब्रह्म ही है। इस प्रकार ब्रह्मकर्म समाधि के द्वारा अर्थात् समाहित बुद्धि के द्वारा—

'ब्रह्ममात्रमिदं सर्वं ब्रह्मणोऽन्यन्न किंचन'[१]

[ते० बि० उ० ३।३२]

सबको ब्रह्ममात्र ही देखनेवाला—

'ब्रह्मविदां वरिष्ठः' [मु० उ० ३।१।४]

ब्रह्मविद्वरिष्ठ फल के रूप में भी उस अद्वय परमानन्द ब्रह्म को ही प्राप्त करता है, अन्य को नहीं ॥ २४ ॥

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ २५ ॥

इस प्रकार कुछ निष्काम कर्मी अन्तःकरण की शुद्धि के लिए देव यज्ञ की उपासना करते हैं अर्थात् यज्ञ के द्वारा देवताओं का पूजन करते हैं। और कुछ ज्ञान-वैराग्य संपन्न ब्रह्मवेत्ता—

'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरम्'[२] [बृ० उ० २।५।१९]

कार्य कारण रहित निरुपाधिक ब्रह्माग्नि में सोपाधिक नाम-रूपात्मक ब्रह्मांड की आहुति देते हैं अर्थात् ब्रह्मात्मैक्यदृष्टि से युक्त होकर यह अनुभव करते हैं कि—

'उपादानं प्रपञ्चस्य ब्रह्मणोऽन्यन्न विद्यते ।
तस्मात्सर्वप्रपञ्चोऽयं ब्रह्मैवास्ति न चेतरत् ॥'

[यो० शि० उ० ४।३]

अविद्वान स्वरूप ब्रह्म में अध्यस्त नाम-रूपात्मक विश्व प्रपञ्च की त्रिकाल में भी सत्ता नहीं है।

---

१. यह सब ब्रह्ममात्र ही है, ब्रह्म से भिन्न किञ्चित् मात्र भी नहीं है।
२. यह यह ब्रह्म अपूर्व—कारण रहित, अनपर—कार्यरहित है।

'सर्पादौ रज्जुसत्तेव ब्रह्मसत्तैव केवलम् ।[1]
प्रपञ्चाधार रूपेण वर्ततेऽतो जगन्न हि ॥'

[आ० प्र० उ० १२]

'जगद्रूपतयाऽप्येतद्ब्रह्मैव प्रतिभासते'

[आ० उ० २]

जैसे सर्पादि के रूप से रज्जुसत्ता ही भासती है, वैसे ही जगत्‌रूप से केवल ब्रह्मसत्ता ही भास रही है, अतः ब्रह्म से भिन्न अणुमात्र भी नहीं है ॥ २५ ॥

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥ २६ ॥

कुछ नैष्ठिक ब्रह्मचारी आदि साधक सर्वात्मदर्शन के लिये संयमरूपी अग्नि में श्रोत्रादि इन्द्रियों का हवन करते हैं अर्थात्—

'सर्वविषय पराङ्मुखत्वं प्रत्याहारः'[2]

[शा० उ० १।६६]

सर्वविषयों से पराङ्मुख होकर इन्द्रियों का निग्रह–प्रत्याहार करते हैं और कुछ शास्त्रज्ञ बुद्धिमान् गृहस्थसाधक पञ्चमहायज्ञादि से उपरत होकर—

'अनीहमानाः सततमिन्द्रियेष्वेव जुह्वति'[3]

[म० स्मृ० ४।२२]

ज्ञानेन्द्रियरूपी अग्नि में शब्दादिक विषयों का हवन करते हैं अर्थात् राग-द्वेष से मुक्त अनासक्त होकर शास्त्रीय आवश्यक विषयों का सेवन करते हैं ॥ २६ ॥

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ २७ ॥

---

१. सर्पादि में रज्जुसत्ता की भाँति केवल ब्रह्मसत्ता ही प्रपञ्चाधार रूप से स्थित है, इसलिये जगत् नहीं है ।
२. सब विषयों से पराङ्मुख होना प्रत्याहार है ।
३. पञ्चयज्ञों से निःस्पृह रहनेवाले साधक सतत ज्ञानेंद्रियों में शब्दादि विषयों का हवन करते हैं ।

कितने ध्याननिष्ठ साधक ज्ञान से प्रज्वलित आत्मसंयमरूपी योगाग्नि में सम्पूर्ण ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय तथा दशों प्राणों के कर्मों का हवन करते हैं अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों तथा प्राणों के समस्त व्यापारों को रोककर नित्य समाधिनिष्ठा से ही युक्त रहते हैं ॥ २७ ॥

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ २८ ॥

कुछ साधक द्रव्ययज्ञ करने वाले हैं अर्थात् न्यायार्जित धन को दान देते और उससे देवार्चन तथा यज्ञादि करते हैं। कितने साधक तपरूप यज्ञ अर्थात् कृच्छ्रचान्द्रायणादि व्रत करनेवाले हैं और कितने योगी गण—

'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः'[१] [यो० सू० १।२]

चित्तवृत्ति का निरोध करने के लिये आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि अष्टाङ्गयोग रूप यज्ञ करने वाले हैं और कितने योगीगण—

'नानोपनिषदभ्यासः स्वाध्यायोयज्ञ ईरितः'

[शाण्ड्य० उ० १५]

नाना उपनिषदों का स्वाध्याययज्ञ—अध्ययन करने वाले हैं और कितने ज्ञान-यज्ञ करने वाले हैं अर्थात् ज्ञान शास्त्र का विचार करने में ही रत रहते हैं। इस तरह मोक्ष के लिये बहुत से यत्नशील संशित व्रत वाले हैं अर्थात् जिनके व्रत अपने अपने निष्ठाओं में अति तीक्ष्ण किये गये हैं, वे बहुत हैं ॥ २८ ॥

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥ २९ ॥

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ३० ॥

कितने प्राणायाम के परायण पुरुष अपानवायु में प्राणवायु का हवन करते हैं अर्थात् पूरक नामक प्राणायाम करते हैं। और अन्य प्राणवायु में अपानवायु का हवन करते हैं अर्थात् रेचक नामक प्राणायाम करते हैं और कितने प्राण और अपान की गति को रोककर कुम्भक नामक प्राणायाम करते हुए आत्मदर्शन करते हैं और कितने मिताहारी—नियमित आहार करने वाले—

---

१. चित्तवृत्ति का निरोध ही योग है।

'द्वौ भागौ पूरयेदन्नैस्तोये नैकं प्रपूरयेत्।
मरुतस्य प्रचारार्थं चतुर्थमवशेषयेत्॥'

पेट का आधाभाग अन्न से पूर्ण करते हैं, जल से एक भाग को तथा चौथा भाग वायु के आने जाने के लिये छोड़कर प्राण को प्राण में हवन करते हैं। इस प्रकार ये सब यज्ञ के रहस्य को जानने वाले यज्ञों के अनुष्ठान के द्वारा अपने पापों का नाश करने वाले निष्पाप ही हैं॥ २६, ३०॥

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम॥ ३१॥

जो निष्पाप उपर्युक्त यज्ञों से बचे हुये अमृतान्न को खाने वाले हैं अथवा जो इन यज्ञों से बचे हुए समय में शरीर निर्वाह मात्र के लिये यदृच्छालाभ प्राप्त अमृतान्न-भिक्षान्न को खानेवाले हैं, वे विशुद्ध अन्तःकरण पुरुष—

'ब्रह्माप्येति सनातनम्' [मा० प० उ० ३।५१]

सनातन परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त करते हैं; परन्तु जो विषयासक्त पुरुष इन यज्ञों के अनुष्ठान से रहित हैं, उन्हें यह अल्प सुख प्रदान करने वाला मनुष्य लोक भी नहीं मिलता; तो फिर साधन विशेष से प्राप्तव्य स्वर्ग तथा मोक्ष की प्राप्ति कैसे हो सकती है? अभिप्राय यह है कि उन्हें—

'असुर्यानाम ते लोकाः' [ई० उ० ३]

बार-बार आसुरी लोकों की ही प्राप्ति होती रहती है॥ ३१॥

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥ ३२॥

इस प्रकार बहुत प्रकार के यज्ञ वेद में विस्तार से कहे गये हैं, उन सब शारीरिक, वाचिक तथा मानसिक यज्ञों को तू कर्म से ही उत्पन्न हुआ जान, नित्य निर्विकार आत्मा से नहीं। अभिप्राय यह है कि ये यज्ञ विकारी इन्द्रियों के द्वारा सम्पादित होने के कारण विकारी हैं इनसे संसार-बन्धन का उच्छेद नहीं हो सकता।

ज्ञानेनैव हि संसार विनाशो नैव कर्मणा॥'
[रु० ह० उ० ३५]

क्योंकि ज्ञान से ही संसार का सम्यक् उच्छेद होता है, कर्म से नहीं।

'कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते।
तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयःपारदर्शिनः॥
[सं० उ० २।६८]

कर्म से जीव बँधता है और विद्या से मुक्त होता है, इसीलिये आत्मदर्शी यति अपने को नित्य निर्विकार तथा इनका साक्षी जानकर कर्म नहीं करते। इस प्रकार तू भी यज्ञों के द्वारा शुद्धान्तःकरण हो अपने को नित्य निर्विकार तथा इनका साक्षी जानकर संसार-बन्धन से मुक्त हो जायेगा॥ ३२॥

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥ ३३॥

हे परंतप! द्रव्य यज्ञ से अर्थात् द्रव्य, मन्त्र, तन्त्र, क्रिया और श्रम से साध्य सब यज्ञों से—

'ज्ञानयज्ञः स विज्ञेयः सर्वयज्ञोत्तमोत्तमः'
[शाठ्य० उ० १६]

ज्ञानयज्ञ सर्वोत्तम है; क्योंकि द्रव्य यज्ञ अनित्य, अल्प फलवाले स्वर्गादि लोकों की ही प्राप्ति कराने में समर्थ हैं, परन्तु ज्ञानयज्ञ साक्षात् मोक्ष का हेतु होने के कारण श्रेष्ठ है।

जैसा श्रुति भी कहती है—

'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' [श्रुति]
'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' [श्रुति]
'सर्वेषां कैवल्यमुक्तिर्ज्ञानमात्रेणोक्ता।
न कर्म सांख्य योगोपासनादिभिः॥'
[मुक्ति० उ० १।५६]

'ज्ञान से ही कैवल्य की प्राप्ति होती है', 'बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं होती', 'सबकी कैवल्य मुक्ति ज्ञानमात्र से ही कही गई है, न कि कर्म, सांख्य, योग एवं उपासनादि से।'

क्योंकि हे पार्थ! सम्पूर्ण कर्म मोक्ष-ब्रह्मात्मैक्य साक्षात्कार के हेतुभूत ज्ञान में परिसमाप्त—अन्तर्निहित हो जाते हैं।

जैसे—

'यथा कृताय विजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेनं सर्वं
तदभिसमैति यत्किञ्च प्रजाः साधु कुर्वन्ति
'यस्तद्वेद यत्स वेद' [छा० उ० ४।१।६]

"कृत नाम के पासे के जीत लेने पर अन्यान्य सब पासे विजित होकर प्राप्त हो जाते हैं, ऐसे ही जिसको वह रैक्व जानता है, उस ब्रह्म को जो कोई भी जान लेता है, प्रजा जो कुछ भी [यज्ञ, दान, तप, व्रतादि] पुण्य कर्म करती है, उन सबका फल उसे अपने आप ही मिल जाता है।'

अभिप्राय यह है कि जैसे सागर में नदियों का अन्तर्भाव हो जाता है, वैसे ही ज्ञान में द्रव्यमय यज्ञों का अन्तर्भाव हो जाता है ॥ ३३ ॥

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ३४ ॥

अर्जुन ! तू—

'उत्तिष्ठत जाग्रत' [क० उ० १।३।१४]

अज्ञान—मोह निद्रा से उठकर अर्थात् विवेक वैराग्यादि साधन चतुष्टय से सम्पन्न होकर उस मोक्षप्रदायक ज्ञान की प्राप्ति के लिये—

'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥'

[मु० उ० १।२।१२]

हाथ में समिधा लेकर विनम्र भाव से ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्न श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में जा; क्योंकि—

'महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्तेः'

सद्गुरु की सेवा को मुक्ति का द्वार कहते हैं।

'तत्सेवापरोऽज्ञोऽपि मुक्तो भवति'

[म० ब्रा० उ० ५।१]

उसकी सेवा से अज्ञानी भी मुक्त होता है।

'मुक्तिर्न संदेहो यदि तुष्टः स्वयं गुरुः'

[या० शि० उ० ६।२६]

यदि गुरु स्वयं संतुष्ट हो तो मुक्ति में संदेह नहीं।

'दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना'

[म० उ० ४।७७]

बिना सद्गुरु की कृपा के स्वरूप-स्थिति प्राप्त होनी कठिन है।

'यथा जात्यन्धस्य रूपज्ञानं न विद्यते तथा
गुरूपदेशेन विना कल्पकोटिभिस्तत्त्वज्ञानं न विद्यते'

[त्रि० म० उ० ५।१]

जैसे जन्मजात अन्धे को रूप का ज्ञान नहीं होता, वैसे ही बिना गुरु के कोटिकल्प में भी तत्त्वज्ञान नहीं होता। इसलिए उन्हें श्रद्धा-भक्ति-समन्वित साष्टांग प्रणाम से और सेवा से प्रसन्न करके यथासमय प्रश्न से अर्थात्—

'कथं बन्धः कथं मोक्षो विद्याविद्ये उभे च के।
क आत्मा कः परात्मा च तयोरैक्यं कथं वद॥'

'बन्ध कैसे है? मोक्ष कैसे होता है? विद्या और अविद्या दोनों क्या हैं? कौन आत्मा है? और कौन परमात्मा है? दोनों की एकता कैसे है? यह कहिये।'

इस विवेकयुक्त प्रश्न को सुनकर वे सेवा-विनयादि से प्रसन्न सद्गुरु तुझ अधिकारी को परावरैकत्व विज्ञानरूप ज्ञान का उपदेश करेंगे॥ ३४॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥ ३५॥

हे पार्थ! तू जिस—

'अभेददर्शनं ज्ञानम्' [स्क० उ० ११]

अभेद-दर्शन रूप ज्ञान को जानकर—

'न शोचति न मुह्यति' [रु० ह० उ० ४६]

फिर शोक-मोह को अर्थात्—

'मायामात्रमिदं द्वैतम्' [मांडू० का० १।१७]

मायामात्र द्वैतभ्रम को प्राप्त नहीं होगा; और जिस ज्ञान के द्वारा ब्रह्मा से स्तंबपर्यन्त सब भूतवर्ग को—

'आत्मैवेदं सर्वम्' [छा० उ० ७।२५।२]
'अहमेवेदं सर्वम्' [छा० उ० ७।२५।१]

अपने अन्तरात्मा में स्वात्मरूप से ही देखेगा।

अभिप्राय यह है कि जैसे—

'घटनाम्ना यथा पृथ्वी पटनाम्ना हि तन्तवः।
जगन्नाम्ना चिदाभाति सर्वं ब्रह्मैव केवलम्॥'

[यो० शि० उ० ४।१७,१८]

घट नाम से पृथ्वी और पटनाम से तन्तु भासता है, वैसे ही जगत नाम से चिदात्मसत्ता ही भास रही है; ऐसा अनुभव करेगा तथा उसके अनन्तर समस्त भूतवर्ग को—

'एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन'

[अ० उ० ६३]

मुझ भेदरहित एक अद्वितीय अधिष्ठानस्वरूप परब्रह्म में तद्रूप ही देखेगा। इस प्रकार सर्वात्मदृष्टि से—

'तत्वमसि' [छा० उ० ६।८।७]

श्रुति के अनुसार तुम्हारी और मेरी एकता हो जायेगी और इस—

'समाधिः समतावस्था जीवात्मपरमात्मनोः'

[यो० त० उ० १०७]

जीवात्मा तथा परमात्मा की साम्यावस्था—ऐक्यावस्था को प्राप्तकर तू समाधिस्थ; कृतकृत्य हो जायेगा ॥ ३५ ॥

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥ ३६ ॥

यदि तू सब पापियों से भी अधिक पापिष्ठ त्रैलोक्य का हनन करनेवाला होगा, तब भी अति दुस्तर पापों के समुद्र को ज्ञानरूपी नौका के द्वारा अर्थात्–

'ज्ञानेन शुद्धेर्न मुच्यते सर्वपातकैः'[1] [स्मृति]

'तस्य विज्ञानमात्रेण नरः पापैः प्रमुच्यते'[2]

[यो० शि० उ० ६.२५]

ब्रह्मात्मैक्यदर्शन रूप ज्ञान के द्वारा अपने को—

'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' [श्वे० उ० ६।१६]

निष्कल, निष्क्रिय, शान्त तथा अभोक्ता जानकर अनायास ही गोपदवत् तर जायेगा; फिर भीष्म द्रोणाचार्यादि के वध के पाप से तरने में कहना ही क्या ? अभिप्राय यह है कि तू केवल पाप से नहीं, बल्कि पुण्य से भी तर जायेगा अर्थात्—

'ज्ञानान्मोक्षमवाप्नुयात्'[3] [स्मृति]

ज्ञान के द्वारा जन्म-मृत्यु से सदा के लिए मुक्त हो जायेगा ॥ ३६ ॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ ३७ ॥

---

१. विशुद्ध ज्ञान के द्वारा सब पापों से मुक्त हो जाता है।

२. उस आत्मा के ज्ञानमात्र से मनुष्य पापों से मुक्त हो जाता है।

३. ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त करता है।

जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि ईंधन—काष्ठ को भस्म कर देती है, उसी प्रकार ज्ञानाग्नि प्रारब्ध को छोड़कर संचित और क्रियमाण समस्त पाप-पुण्यात्मक कर्मों को भस्म कर देती है।

इसी प्रकार शिवधर्मोत्तर तथा श्रुति में भी कहा गया है—

"यथा वह्निर्महान्दीप्तः शुष्कमार्द्रं च निर्दहेत्।[1]
तथा शुभाशुभं कर्म ज्ञानाग्निर्दहते क्षणात्॥"
[शिवधर्मोत्तर]

"देहे ज्ञानेन दीपिते बुद्धिरखण्डाकार रूपा यदाभवति तदा
विद्वान्ब्रह्म ज्ञानाग्निना कर्मबन्धं निर्दहेत्"
[पै० उ० ४।११]

विद्वान् ज्ञान के द्वारा देह के प्रदीप्त हो जाने पर अखंडाकार-ब्रह्माकार बुद्धि से सम्पन्न हो ब्रह्मज्ञानाग्नि से कर्मबन्धन को भस्म कर देता है।

"क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे"
[मु० उ० २।२।८]

उसके समस्त कर्म परावरैकत्व विज्ञान के कारण क्षीण हो जाते हैं।

"संचितं विलयं याति प्रबोधात्स्वप्नकर्मवत्"
[अ० उ० ५०]

जैसे स्वप्न के कर्म जाग्रत अवस्था में नष्ट—विलीन हो जाते हैं, वैसे ही ब्रह्मात्मैक्य विज्ञान से संचित कर्म विलय को प्राप्त हो जाते हैं।

अभिप्राय यह है कि ज्ञानी पुरुष ज्ञानाग्नि के द्वारा समस्त द्वैत-प्रपंच को भस्म करके केवल अपने—

"निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्" [श्वे० उ० ६।१९]

निष्कल, निष्क्रिय, शांत सर्वव्यापक एक अद्वितीय आत्मसत्ता को देखता हुआ—

"तत्र को मोहः कः शोक" [ई० उ० ७]

शोक मोह से पूर्णरूपेण मुक्त हो जाता है॥ ३७॥

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥ ३८॥

---

१. जैसे अति प्रज्वलित अग्नि सूखे और गीले ईंधन को जला देती है वैसे ही ज्ञानाग्नि क्षणमात्र में ही सम्पूर्ण शुभाशुभ कर्मों को भस्म कर देती है।

अर्जुन—

"नाऽस्ति ज्ञानात्परं किंचित्पवित्रं पापनाशनम्"[1] [श्रुति]

शोक—मोह के सम्यक् नाशक होने के कारण परावरैकत्वविज्ञानरूप ज्ञान के सदृश इस लोक में तथा वेद में कोई भी साधन पावन नहीं है।

अथवा—

"सर्वेषां कैवल्य मुक्तिर्ज्ञानमात्रेणोक्ता।
न कर्म सांख्य योगोपासनादिभिः॥"

[मुक्ति उ० १।५६]

सब मुमुक्षुओं की कैवल्य मुक्ति ज्ञान मात्र से ही कही गई है; कर्म, सांख्य, योग तथा उपासना आदि से नहीं। इसलिये ज्ञान के सदृश कर्म, सांख्य, योग एवं उपासना आदि में कोई भी साधन पवित्र नहीं है। उस ज्ञान को तू कालांतर में निष्काम कर्मयोग से परिमार्जित विशुद्ध अन्तःकरण में स्वयं अनायास ही प्राप्त करेगा अर्थात् अपने विशुद्ध अन्तःकरण में—

"सर्वमिदमहं च वासुदेवः"

'यह सब और मैं वासुदेव ही हूँ।' इस ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान को धारण करने में समर्थ होगा॥ ३८॥

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥ ३९॥

जो विवेक, वैराग्य तथा मुमुक्षुत्वादि साधन चतुष्टय से सम्पन्न—

"श्रद्धालुर्मुक्तिमार्गेषु वेदान्तज्ञानलिप्सया"

[वा० प० उ० ६।१७]

वेदान्तज्ञान की लिप्सा से युक्त मुक्तिमार्ग में श्रद्धा रखनेवाला पुरुष गुरु की—

"सच्छ्रद्धयाऽऽसेव्यः" [श्रुति]

श्रद्धापूर्वक सेवा करता है, तथा जो—

"आचार्यवान्पुरुषो वेद" [छा० उ० ६।१४।२]

इस नियम से गुरुमुख से—

---

१. ज्ञान से बढ़कर पापों का नाश करनेवाला पवित्र साधन कुछ भी नहीं है।

"शान्तो दान्तो जितेन्द्रियः"

[ना० प० उ० ६।२३]

शान्त, दान्त एवं जितेन्द्रिय होकर—

"सदावेदान्तवाक्यार्थं शृणुयात्सुसमाहितः"

[ना० प० उ० ६।१८]

सदा वेदांतवाक्यार्थ को अच्छी प्रकार समाहित होकर श्रवण करता है; तथा जो—

"वेदान्ताभ्यास निरतः" [ना० प० उ० ६।२३]

उसके मनन, निदिध्यासन के परायण होने से सर्वत्र ब्रह्माकार वृत्ति से युक्त होने के कारण विपरीत प्रत्यय तथा अनात्म भावनाओं से मुक्त हो चुका है, वह—

"यांछ्रद्धयाऽऽचरन् मर्त्यो मृत्युं जयति दुर्जयम्"

[श्री भा० ११।२६।८]

उपर्युक्त तीन विशेषणों से युक्त होकर श्रद्धापूर्वक आचरण करता हुआ दुर्जय मृत्यु को जीतनेवाले ज्ञान को प्राप्त कर—

"ज्ञात्वाशिवं शान्तिमत्यन्तमेति" [श्वे० उ० ४।१४]

अर्थात् ज्ञानस्वरूप अखण्डशिवसत्ता का आत्मरूप से जानकर शीघ्र ही परम निर्वाणदायिनी आत्यन्तिक शान्ति को प्राप्त करता है।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।

नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

जो स्वेच्छाचारी देहाभिमानी रागग्रस्त पुरुष सर्व कर्मों का त्याग करने पर भी मोक्ष के बहिरङ्ग एवं अन्तरङ्ग साधन गुरुशरणापत्ति, शम, दम तथा श्रवण, मनन एवं ब्रह्माकार वृत्ति से सम्पन्न न होकर—

"कुशला ब्रह्मवार्तायां वृत्तिहीनाः सुरागिणः।[1]

तेऽप्यज्ञानतया नूनं पुनरायान्ति यान्ति च ॥"

[तें० बि० उ० १।४६]

---

१. जो ब्रह्मवार्ता में कुशल, ब्रह्माकार वृत्ति से रहित और अत्यन्त रागी हैं, वे भी अज्ञान के कारण निश्चितरूप से बार-बार आवागमन को प्राप्त होते रहते हैं।

केवल ब्रह्मवार्ता में ही रत हैं, वे अज्ञानी अविद्वान् निश्चय ही मोक्ष से भ्रष्ट होकर—

'अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।'
ताँ स्ते प्रेत्याभिगच्छन्त्यविद्वाँ सोऽबुधो जनाः॥'

[बृ० उ० ४।४।११]

अन्धतम से व्याप्त अनानन्द—असुख नाम के लोक को मृत्यु के पश्चात् बार-बार प्राप्त होते रहते हैं। तथा जो वेदान्तशास्त्र, गुरु तथा मोक्ष में श्रद्धा-विश्वास नहीं करते, ऐसे श्रद्धारहित अविश्वासी विषयासक्त पुरुष द्वैत दर्शन के कारण—

'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेवपश्यति"

[बृ० उ० ४।४।१६]

मृत्यु से मृत्यु को ही प्राप्त होते रहते हैं।

तथा जो संशयी वेदों के पुष्पित वाक्यों में लुब्ध होने के कारण—

'अपाम सोममसृता अभूम' [श्रुति]

'दक्षिणायन्तो अमृतं भजन्ते' [श्रुति]

'हम सोम को पीयेंगे, अमर होंगे' 'दक्षिणाग्नि के उपासक अमृत को भजते हैं' इन वाक्यों से कर्म से मोक्ष का प्रतिपादन होने से; तथा—

'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' [श्रुति]

'कर्मणाबध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते'

[सं० उ० २।६८]

'ज्ञान से ही कैवल्य होता है' 'कर्म से जीव बँधता है और विद्या से मुक्त हो जाता है' इन वाक्यों से ज्ञान से मोक्ष का प्रतिपादन होने से संशय में पड़कर कर्मयोग तथा ज्ञानयोग में से किसी का भी आचरण नहीं करता—

'संशयाविष्ट चेतसां न मुक्तिर्जन्मजन्मान्ते'

[मैत्रे० उ० १।१६]

उसकी जन्म-जन्मान्तर में भी मुक्ति नहीं होती। यही नहीं किन्तु उस संशयात्मा को मृत्यु के पश्चात् यह मानवलोक भी नहीं मिलता और न परलोक—स्वर्गादि लोक ही मिलता है तथा उसे इस संसार का सुख भी नहीं मिलता। अभिप्राय यह है कि वह बार-बार—

---

१. वे अनन्द—दुःख नाम के लोक अन्धतम से परिपूर्ण हैं वे अविद्वान् *और अबुध लोग मर कर उन्हीं को प्राप्त होते हैं।*

'असुर्या नाम ते लोकाः' [ई० उ० ३]

आसुरी लोकों को ही प्राप्त होता रहता है ॥ ४० ॥

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥ ४१ ॥

हे धनंजय ! जिस—

'क्षीयन्ते चास्यकर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे'

[मु० उ० २।२।८]

परावरैकत्वदर्शी ने सर्वात्मदर्शन रूप ज्ञानयोग के द्वारा संचित, क्रियमाण पुण्यपापात्मक समस्त कर्मों का त्याग कर दिया है; तथा जो—

'सर्वमिदमहं च वासुदेवः'

इस ब्रह्मात्मैक्य अपरोक्ष ज्ञान के द्वारा—

'छिद्यन्ते सर्वसंशयाः' [मु० उ० २।२।८]

सम्पूर्ण संशयों से मुक्त हो चुका है उस सर्वत्र बाहर-भीतर आत्मतत्त्व को देखने वाले—

'सम्यग्दर्शनसंपन्नः कर्मभिर्न निबध्यते'

[म० स्मृ० ६।७४]

सम्यग्दर्शनसंपन्न आत्मवान् पुरुष को कर्म नहीं बांध सकते ॥ ४१ ॥

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ ४२ ॥

इसलिये अज्ञान से सृष्ट हृदयस्थ इस महान् पापी अपने संशय को ज्ञानरूपी तलवार से काटकर अर्थात्—

'सर्वमिदमहं च वासुदेवः'

'यह सब और मैं वासुदेव ही हूँ' इस सर्वात्मदर्शन के द्वारा सब संशयों से मुक्त होकर युद्ध करने के लिये उद्यत हो जा अर्थात् कर्मयोग का आचरण कर ॥ ४२ ॥

॥ चौथा अध्याय समाप्त ॥

पाँचवाँ अध्याय

कर्मसंन्यास योग

॥ ॐ ॥

पाँचवाँ अध्याय

अर्जुन ने देखा कि सच्चिदानन्दघन वासुदेव ने—

"यावानर्थ उदपाने" [गी० २।४६]
"तस्य कार्यं न विद्यते" [गी० ३।१७]
"कर्मण्यकर्म यः पश्येत्" [गी० ४।१८]
"शारीरं केवलं कर्म" [गी० ४।२१]
"यदृच्छालाभ सन्तुष्टः" [गी० ४।२२]
"सर्वं कर्माखिलं पार्थ" [गी० ४।३३]
"ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि" [गी० ४।३७]

[आदि पदों से] सर्वकर्म संन्यासरूप ज्ञान योग का ही उपदेश दिया है, तथा फिर—

"कर्मण्येवाधिकारस्ते" [गी० २।४७]
"कुरु कर्मैव तस्मात्त्वम्" [गी० ४।१५]
"छित्त्वैनं संशयंयोगमातिष्ठोत्तिष्ठ" [गी० ४।४२]

[इन वाक्यों से] कर्म योग का आदेश दे रहे हैं। ऐसी अवस्था में मैं क्या करूँ ? कर्म का त्याग करूँ अथवा कर्म संग्रह ? यद्यपि इन दोनों का फल मोक्ष ही है, तथापि एक काल में एक ही पुरुष द्वारा इनका अनुष्ठान नहीं हो सकता, ऐसी शंका उपस्थित होने पर अर्जुन बोलाः—

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १ ॥

हे भक्तों के दुःख को कर्षण करनेवाले सदानन्दस्वरूप कृष्ण ! आप कभी कर्म संन्यास की स्तुति करते हैं और कभी कर्म योग की। इसलिये मेरी बुद्धि भ्रमित हो गई है। मैं निर्णय करने में असमर्थ हो रहा हूँ कि कर्म का त्याग करूँ अथवा कर्म का संग्रह। इसलिये दया करके इन दोनों में से एक जो

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥

हे महाबाहो ! बिना कर्मयोग के अर्थात् बिना अन्तःकरण की शुद्धि के हठपूर्वक कर्मों के त्याग मात्र से—

"न्यास इति ब्रह्म ब्रह्म हि परः"[1] [ना० उ० २।७८]

संन्यासस्वरूप परब्रह्म का प्राप्त होना कठिन है, परन्तु कर्मयोग से युक्त विशुद्ध अन्तःकरण मननशील मुनि संन्यासस्वरूप ब्रह्म को शीघ्र ही प्राप्त करता है। अभिप्राय यह है कि ब्रह्मसाक्षात्कार बुद्धि की शुद्धि पर ही अवलम्बित है, इसलिये बुद्धि की शुद्धि के लिये कर्मयोग का सम्यक् आचरण करना चाहिये ॥ ६ ॥

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥७॥

जो चिरकाल तक योग-कर्मयोग से युक्त होने से विशुद्ध अन्तःकरण वाला योगी सर्वात्मदर्शन के द्वारा—

"शरीरेण जिताः सर्वे शरीरं योगिभिर्जितम्"[2]

[यो० शि० उ० १।३८]

[इस न्याय से] शरीर को जीत चुका है, इसीलिये जो विषयाभाव देखने के कारण जितेन्द्रिय है; तथा जो

"सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानिचात्मनि" [कै० उ० १।१०]

ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त समस्त भूतों में अपनी आत्मा को और अपनी आत्मा में समस्त भूतों को देखने के कारण सर्वात्मत्व को प्राप्त हो गया है, वह परमार्थदर्शी आश्चर्यमय इस लोकातीत अवस्था को प्राप्तकर—

"तिष्ठन्नपि हि नासीनो गच्छन्नपि न गच्छति ।[3]
शान्तोऽपि व्यवहारस्थः कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥"

[सं० उ० २।३३]

---

१. संन्यास ही ब्रह्म है और ब्रह्म ही पर है ।

२. सब शरीर के द्वारा जीते जाते हैं और शरीर योगियों के द्वारा जीता जाता है ।

३. [आत्मवेत्ता] बैठता हुआ भी नहीं बैठता है, जाता हुआ भी नहीं

बैठता हुआ भी नहीं बैठता, चलता हुआ भी नहीं चलता तथा व्यवहार में स्थित होता हुआ भी शान्त रहता है। इस प्रकार वह अपने निष्क्रियत्व, सूक्ष्मत्व तथा निर्विकारत्व का अनुभव करने के कारण इन्द्रियों से सब प्रकार का व्यापार करता हुआ भी—

"कर्मण्यकर्म यः पश्येत्!" [गी० ४।१८]

कर्म में अकर्म दर्शन के कारण कर्म से लिपायमान नहीं होता, किन्तु नित्य मुक्त ही रहता है ॥ ७ ॥

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन्श्वसन् ॥ ८॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ९ ॥

तत्त्ववित्—आत्मवेत्ता अपने—

"निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्" [श्वे० उ० ६।१९]

निष्कलत्व, निष्क्रियत्व, शान्तत्व, सर्वव्यापकत्व तथा असंगत्व में स्थित होकर प्रत्यक्दृष्टि से ऐसा अनुभव करे कि मैं निरिन्द्रिय, सच्चिदानन्दस्वरूप हूँ, इसलिए लोकदृष्टि से—

'तिष्ठन्गच्छन्स्पृशञ्जिघ्रन्नपि तल्लेपवर्जितः'[1]
[अव० उ० ४।६३]

देखता, सुनता, बैठता, छूता, सूँघता, खाता, चलता, सोता, श्वांस लेता, बोलता, त्याग करता, ग्रहण करता तथा आँखों को खोलता तथा मूँदता हुआ भी उनके संसर्ग से रहित तथा साक्षी होने के कारण कुछ भी नहीं करता—

'इन्द्रियैरिन्द्रियार्थेषु गुणैरपि गुणेषु च'[2]
[श्री० भा० ११।११।९]

जाता है, व्यवहार करता हुआ भी शान्त रहता है और सब प्रकार के कर्मों को करता हुआ भी लिप्त नहीं होता है।

१. बैठता हुआ, चलता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ भी उसके संसर्ग से रहित है।

२. इन्द्रियाँ इन्द्रियों के शब्दादि विषयों को ग्रहण करती हैं और गुण ही गुण को ग्रहण करते हैं।

इन्द्रियाँ ही इन्द्रियों के विषयों में वर्त रही हैं, आत्मा से उनका कोई भी सम्बन्ध नहीं है ॥ ८, ९ ॥

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ १० ॥

परन्तु जो भृत्यवत्—

'वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे'

[श्री० भा० ११।३।४६]

मोक्ष की भी आसक्ति को त्याग करके वैदिक अवैदिक सम्पूर्ण कर्मों को परमात्मा में आधान करके ईश्वरार्पण बुद्धि से करता है, वह कर्मों के त्याग द्वारा परमात्मचिन्तन करने के कारण—

'न लिप्यते कर्मणा पापकेन'

[बृ० उ० ४।४।२३]

वैसे ही पाप-पुण्यात्मक कर्मों से लिपायमान नहीं होता जैसे कमल-पत्र जल में रहता हुआ भी जल से लिप्त नहीं होता ॥ १० ॥

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥ ११ ॥

इस प्रकार कर्मयोगी फल की अपेक्षा को पूर्णतया त्याग कर शरीर, मन, बुद्धि एवं इन्द्रियों से—

'रागद्वेषादिदोषत्यागेन मनः शुद्धिः'

राग-द्वेषादि दोष के त्याग के द्वारा आत्मशुद्धि—अंतःकरण शुद्धि के लिये कर्म करते हैं।

अथवा शरीर से स्नानादि, मन से विष्णु का ध्यानादि, बुद्धि से तत्त्व-निश्चयादि और इन्द्रियों से अर्थात् वाणी से मङ्गलमय नाम और गुणों का गान, कान से रसमयी कथा का श्रवण, नेत्र से महापुरुषों का दर्शन, हाथ से प्रभुपाद सेवा एवं पैर से तीर्थाटनादि करते हुए शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों की फलविषयक आसक्ति का त्याग करके ईश्वर की प्रीति के लिये कर्म करते हैं ॥ ११ ॥

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ १२ ॥

इस प्रकार—

'एवं कर्मसु निःस्नेहा ये केचित्पारदर्शिनः'[1]

[स्मृति]

जो कोई भी पारदर्शी कर्मयोगी कर्म में स्नेह न रखता हुआ कर्मफल का त्याग करके सिद्धि-असिद्धि, लाभ-अलाभ आदि द्वन्द्वों में सम हो परमेश्वरैकनिष्ठ होकर कर्म करता है, वह—

'तेषां शान्तिः शाश्वती' [क० उ० २।२।१३]

ब्रह्मनिष्ठा जन्य सनातन शान्ति को प्राप्त करता है। परन्तु जो—

'कर्मफलानुरागास्तथानुयन्ति न तरन्ति मृत्युम्'[2]

[स्मृति]

कर्मफलानुरागी—कर्मफल में अनुराग रखने वाला कर्मफल का अनुगमन करता है, वह अयुक्त बहिर्मुख सकामी पुरुष फल में आसक्त होने के कारण जन्म-मृत्यु से बँधता है।

तात्पर्य यह है कि निष्काम कर्म मोक्ष का हेतु है और सकाम बन्धन का। इसलिये मनुष्य को निष्काम कर्म ही करना चाहिये ॥ १२ ॥

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ १३ ॥

परन्तु सर्वात्मदर्शी जितेन्द्रिय पुरुष शुक्ति में रजतवत्, रज्जु में सर्पवत् अधिष्ठानस्वरूप आत्मसत्ता में अध्यस्त विश्वप्रपञ्च का आत्यन्तिक अभाव देखने के कारण कर्ता, कर्म एवं क्रिया आदि की त्रिपुटी को मिथ्या समझ कर मन से विहित-अविहित सम्पूर्ण कर्मों का त्याग करके—

'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' [श्वे० उ० ६।१९]

अपने निष्क्रिय रूप से नव द्वार वाले शरीररूप पुर में सुखपूर्वक निवास करता है।

अथवा—

'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः'

[गी० ३।२७]

---

१. इस भाँति जो कोई कर्मों में स्नेह रहित है, वे ही पारदर्शी हैं।

२. कर्मफलानुरागी फल का अनुगमन करने के कारण मृत्यु को नहीं तर पाते।

प्रकृति के गुणों से ही सम्पूर्ण कर्म होते हैं—

'नित्यः सर्वगतो ह्यात्मा कूटस्थो दोष वर्जितः'
[श्रम० उ० ५।७५]

'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' [बृ० उ० ४।३।१५]

मुझ निष्क्रिय, नित्य, सर्वगत, निर्विकार एवं असंग आत्मा से नहीं। इस प्रकार आत्मा-अनात्मा के स्वरूप को तत्वतः जानकर—

'नव द्वारे पुरे देही हंसः'[1] [श्वे० उ० ३।१८]

दो कान, दो नेत्र, दो नासिका, एक मुख, पायु और उपस्थ—इन नव द्वार वाले शरीररूप पुर में—

'न कुर्यान्न वदेत्किंचिन्न ध्यायेत्साध्वसाधु वा'[2]
[ना० प० उ० ५।२४]

'लोकसंग्रहयुक्तानि नैव कुर्यान्न कारयेत्'[3]
[ना० प० उ० ५।२१]

'संत्यजेत्सर्व कर्माणि लोकाचारं च सर्वशः'[4]
[ना० प० उ० ६।३५]

देही अर्थात् स्वरूपस्थ आत्मस्वरूप महात्मा न स्वयं करता हुआ और न शरीर इन्द्रियादि किसी से कुछ कराता हुआ अपने आनन्दस्वरूप में सुखपूर्वक स्थित रहता है ॥ १३ ॥

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १४ ॥

---

१. यह हंस अर्थात् परमात्मा देहाभिमानी होकर नव द्वार वाले [देहरूप] में।
२. कुछ भी न करे, कुछ भी न बोले और न अच्छे बुरे का चिन्तन ही करे।
३. लोकसंग्रह से युक्त जो जो भी कर्म हैं, उनको यति न स्वयं करे और न दूसरों से ही कराये।
४. संन्यासी समस्त कर्मों को त्याग दे और सम्पूर्ण लोकाचार को भी छोड़ दे।

इस शरीर का साक्षी आत्मा—

'नित्यः सर्वगतो ह्यात्मा कूटस्थो दोषवर्जितः'

[अत्र० उ० ५।७५]

'असङ्गो ह्ययं पुरुष.' [बृ० उ० ४।३।१५]

नित्य, सर्वगत, कूटस्थ, दोषरहित, निर्विकार, असंग तथा साक्षी होने के कारण न तो प्राणियों के कर्तापन को रचता है अर्थात् न तो 'तुम यह करो' इस प्रकार कर्म में प्रवृत्ति को सृष्ट करता है और न—

"कर्तुरीप्सिततमं कर्म"

[इस पाणिनि सूत्रानुसार] क्रिया द्वारा प्राप्तव्य जो कर्ता का इष्टतम कर्म है, उसको ही रचता है अर्थात् क्रिया से प्राप्तव्य इष्टानिष्ट वस्तु का सम्पादन नहीं करता और न कर्मफल के संयोग को ही रचता है अर्थात् प्राणियों के शुभाशुभ कर्म के शुभाशुभ फल को भी प्रदान नहीं करता। तो कौन करता है ? इस पर कहते हैं:—केवल स्वभाव ही—

"दैवी ह्येषा गुणमयी" [गी० ७।१४]

वैष्णवी माया ही उसकी शक्ति से सब कुछ करती रहती है ॥ १४ ॥

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ १५ ॥

अर्जुन ! वास्तविकता तो यह है कि निरवयव, निष्क्रिय, विभु—परिपूर्ण, आप्तकाम, पूर्णकाम परमात्मा न किसी के पाप को ग्रहण करता है और न किसी के पुण्य को ही क्योंकि—

"निर्दोषं हि समं ब्रह्म" [गी० ५।१९]

ब्रह्म निर्दोष, सम है, इसलिये उसकी दृष्टि में पाप-पुण्य है ही नहीं। तो फिर यह पूजा, पाठ, यज्ञ, दानादि स्वधर्माचार श्रेष्ठ कर्म विद्वान्-अविद्वान् के द्वारा आप के अर्पण क्यों किया जाता है ? इस पर कहते हैं कि जिस पुरुष का ज्ञान अज्ञान से ढका हुआ है अर्थात् जो अज्ञानी आत्मा के विशुद्धत्व, निर्विकारत्व, परिपूर्णत्व तथा अखण्डैकरसत्व को नहीं जानता वही ऐसा कहता और करता है, ज्ञानी नहीं ॥ १५ ॥

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।

तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ १६ ॥

परन्तु जिस निर्मल अन्तःकरणवाले पुरुष का यह अहं-मम युक्त भ्रमात्मक अज्ञान आत्मज्ञान के द्वारा नष्ट हो गया है, उसका वह ज्ञान निरपेक्षतया परतत्त्व परमात्मा को सूर्यवत् प्रकाशित कर देता है अर्थात् जैसे सूर्य बिना किसी की सहायता के स्वोदयमात्र से अंधकार का नाश कर देता है, वैसे ही ज्ञान निरपेक्षतया अज्ञान रूपी अंधकार का नाश कर देता है।

अभिप्राय यह है कि जैसे सूर्य के प्रकाश से स्थाणु में पुरुष बुद्धि नष्ट होकर केवल स्थाणुबुद्धि ही अवशिष्ट रहती है, वैसे ही ज्ञान के प्रकाश से देह तथा कल्पित जीवादि नष्ट हो जाते हैं और केवल—

'अहं ब्रह्मेति चेद्वेद साक्षात्कारः स उच्यते'

[वे० उ० २।४१]

['मैं ब्रह्म ही हूँ' ऐसी साक्षात्कार—अपरोक्ष बुद्धि ही अवशिष्ट रहती है ॥१६॥

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७ ॥

जो एषणात्रय के त्यागी पुरुष—

'भेददृष्टिरविद्येयं सर्वथा तां विसर्जयेत्'

[म० उ० ५।११३]

भेददृष्टि को अविद्या जान उसको त्यागकर—

'समाहितोभूत्वा' [बृ० उ० ४,४।२३]

समाहित हो केवल ब्रह्मबुद्धि से ही युक्त रहते हैं अर्थात्—

'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति'

[छा० उ० ७।२४।१]

आत्मा से भिन्न कुछ न देखने, सुनने एवं समझने से ब्रह्माकार बुद्धि से युक्त होने के कारण—

'दृष्टिं ज्ञानमयीं कृत्वा पश्येद्ब्रह्ममयं जगत्'

[ते० बि० उ० १।२६]

ज्ञानमयी दृष्टि से संपूर्ण विश्व को ब्रह्ममय ही देखते हैं, तथा जिनका मन—

'सुप्तेरुत्थाय सुप्त्यन्तं ब्रह्मैकं प्रविचिन्त्यताम्'

[वे० उ० २।६४]

-सुषुप्ति से उठकर सुषुप्तिपर्यन्त केवल एक अद्वितीय सच्चिदानन्दैकरसस्वरूप परब्रह्म का ही मनन करता है अर्थात् जो—

'स्वरूपानुसंधानं विनान्यथाचार परो न भवेत्'

[ना० प० उ० ५।१]

स्वरूपानुसंधान के बिना, अन्य आचार के परायण नहीं होते, तथा जो ब्रह्म में ही सुनिष्ठ-स्थित हैं अर्थात्—

'अहं ब्रह्मेति चेद्वेदसाक्षात्कारः स उच्यते'

[व० उ० २।४१]

ब्रह्म-साक्षात्कार से युक्त होने के कारण अपने को ब्रह्मस्वरूप ही जानते हैं, तथा जो तत्परायण हैं अर्थात् सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म परमात्मा ही जिनकी गति है—

'आत्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः'

[छा० उ० ७।२५।२]

उसी से जो रति, क्रीडा तथा आनन्द करते हैं, उसी में जो सुखपूर्वक विश्राम करते हैं, तथा जो आत्माराम आत्मदर्शी—

'सर्वत्र सर्वतः सर्वं ब्रह्ममात्रावलोकनम्।
सद्भाव भावना दार्ढ्याद्वासना लयमश्नुते॥'

[अ० उ० १३]

सर्वत्र सर्व ओर से सबको ब्रह्ममात्र देखते हुए सद्भावना की दृढ़ता के कारण वासना की लयावस्था को प्राप्तकर ज्ञान से अर्थात् सर्वात्मदर्शन से द्वैतदर्शन-रूप कल्मष का पूर्णरूपेण प्रक्षालन कर दिये हैं, वे परावरैकत्वदर्शी जीवन्मुक्त आप्तकाम, पूर्णकाम महात्मा देह त्याग के पश्चात्—

'भूयस्ते न निवर्तन्ते परावरविदो जनाः'[1]

[कु० उ० २२]

'न चास्ति पुनरावृत्तिरस्मिन्संसार मण्डले'[2]

[यो० शि० उ० ५।६१]

इस संसार-मंडल में पुनरावर्तन को नहीं प्राप्त होते ॥ १७ ॥

---

१. वे परावरैकत्वविज्ञानदर्शी महात्मा पुनरावर्तन को प्राप्त नहीं होते।

२. इस संसार मंडल में ज्ञानी पुरुष की पुनरावृत्ति नहीं होती।

विद्याविनय संपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ १८ ॥

जो सर्वात्मदर्शी महात्मा विद्या-विनय-सपन्न विरक्तन्त ब्राह्मण में लोक-पावनी गाय में, श्रेष्ठ हाथी में तथा निकृष्ट कुत्ते और चाण्डाल में अधिष्ठान-भूत सम परमात्मतत्त्व को ही देखते हैं, आरोपित विषम नाम-रूपात्मक शरीर को नहीं, वे परावरैकत्वविज्ञानदर्शी सर्वात्मा होने के कारण किसी से भी राग-द्वेष नहीं करते। अथवा जो सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण से रहः—

'ब्राह्मणे पुल्कसे स्तेने ब्रह्मण्येऽर्के स्फुलिङ्गके।
अक्रूरे क्रूरके चैव समदृक् पण्डितो मतः॥'
[श्री० भा० ११।२९।१४]

ब्राह्मण, गौ, चोर, सूर्य, चिनगारी, कृपालु और क्रूर तथा चांडाल आदि में गुणातीत सम आत्मतत्त्व को ही देखते है विषम गुणों को नहीं, वे ही समदर्शी और पंडित हैं। तात्पर्य यह है कि समदर्शी महात्मा केवल समदर्शन ही करते हैं समवर्तन नहीं।

जैसे जल की दृष्टि से गंगाजल और नाले का दूषित जल समान ही है, परन्तु दोनों का व्यवहार समान नहीं हो सकता। अथवा, जैसे अग्नि की दृष्टि से यज्ञ की अग्नि और चिता की अग्नि समान ही है, परन्तु दोनों का व्यवहार समान नहीं हो सकता अथवा, जैसे स्त्री की दृष्टि से स्त्री, कन्या और माता सब समान ही हैं, परन्तु उनका व्यवहार समान नहीं हो सकता। अथवा जैसे सब इंद्रियाँ इन्द्रिय की दृष्टि से समान ही हैं, परन्तु उनका व्यवहार समान नहीं हो सकता। इस प्रकार नाना प्रमाणों से केवल समदर्शन ही बन सकता है, समवर्तन नहीं ॥ १८ ॥

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ १९ ॥

इस प्रकार—

'समता चैव सर्वस्मिन्नेतन्मुक्तस्य लक्षणम्'[1]
[ना० प० उ० ३।५४]

१. सम्पूर्ण प्राणियों में समता ही जीवन्मुक्त का लक्षण है।

जिस जीवन्मुक्त महात्मा का मन सर्वात्मदर्शन के कारण—

> 'दृष्ट्वा रम्यमरम्यं वा स्थेयं पाषाणवत्सदा।[१]
> एतावदात्मयत्नेन जिताभवति संसृतिः॥'
>
> [अन्न० उ० ५।११९८]

रम्य-अरम्य में पाषाणवत् साम्यावस्था में स्थित सम हो गया है, उसने—

> 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।[२]
> अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥'
>
> [मु० उ० २।२।११]

अमृतस्वरूप अधिष्ठानभूत ब्रह्मसत्ता को आगे, पीछे, दायें, बायें, नीचे और ऊपर सर्वत्र नित्य-निरन्तर जीवन-पर्यन्त देखते, सुनते एवं समझते हुये सर्ग—द्वैत प्रपञ्च को ब्रह्मदृष्टि से यहीं जीते जी ही जीत लिया है, क्योंकि—

> 'अस्य संसार वृक्षस्य मनो मूलमिदं स्थितम्'
>
> [मुक्ति० उ० २।३७]

> 'मनसो विजयान्नान्या गतिरस्ति भवार्णवे'[३]
>
> [म० उ० ५।७६]

इस संसार वृक्ष का मूल बीज मन ही है। इसलिये जिसने समदर्शन के द्वारा मन पर विजय प्राप्त कर लिया, उसने संपूर्ण ब्रह्माण्ड को जीत लिया। उसकी दृष्टि में—

> 'दृश्यासंभवबोधेन' [म० उ० ४।६२]

दृश्य प्रपञ्च का आत्यन्तिक अभाव हो जाता है। अभिप्राय यह है कि वह समदर्शी निर्दोष महात्मा—

---

१. रम्य अथवा अरम्य को देखकर सदैव पाषाणवत् स्थित रहना—इतने ही आत्मयत्न के द्वारा संसृति—जन्म-मरण रूप संसरण जीत ली जाती है।

२. यह अमृत ब्रह्म ही आगे है, ब्रह्म ही पीछे है, ब्रह्म ही दायीं-बायीं ओर है और ब्रह्म ही नीचे ऊपर सर्वत्र फैला हुआ है, यह संपूर्ण विश्व सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ही है।

३. भव-सिन्धु को तरने में मन के विजय से भिन्न कोई दूसरी गति नहीं है।

'नित्यः सर्वगतो ह्यात्मा कूटस्थो दोषवर्जितः'
[अ० उ० ५।७५]

'आनन्दो ब्रह्म' [तै० उ० ३।६]

नित्य, सर्वगत, निर्दोष—निर्विकार आनन्दस्वरूप सम ब्रह्म को—

'ब्रह्मरूपतया पश्यन्ब्रह्मैव भवति स्वयम्'
[व० उ० २।१४]

'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति' [मु० उ० ३।२।६]

सर्वत्र देखता एवं जानता हुआ स्वयं ब्रह्मस्वरूप होकर ब्रह्म में ही स्थित रहता है ॥ १६ ॥

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥ २० ॥

जो समदर्शी महात्मा निर्दोष सम ब्रह्म में स्थित होने के कारण—

'उद्वेगानन्दरहितः समया स्वच्छया धिया'
[म० उ० २।५७]

प्रिय-इष्ट वस्तु की प्राप्ति पर हर्षित-आनन्दित नहीं होता और अप्रिय—अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति पर दुःख-उद्वेग को नहीं प्राप्त होता । अभिप्राय यह है कि जिसकी कभी भी अनात्मबुद्धि नहीं होती, किन्तु—

'सर्व द्वन्द्वैर्विनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते'
[ना० प० उ० ३।५२]

सब द्वन्द्वों से मुक्त होकर सर्वदा केवल असंग, सम, शांत ब्रह्म में ही स्थित रहता है, वह अज्ञान रहित समाहित बुद्धि ब्रह्मवेत्ता—

'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति' [मु० उ० ३।२।६]

ब्रह्म में स्थित ब्रह्म ही है ॥ २० ॥

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥ २१ ॥

जिसका अन्तःकरण—

'चक्षुरादि वाह्य प्रपञ्चोपरतः'[1] [म० ब्रा० उ० २।४]

चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों के वाह्य रूप रसादि स्पर्शान्त विषयों को तुच्छ बंधन का हेतु समझकर उससे अनासक्त—उपरत हो चुका है, वह—

'समाधिनिर्धौतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि[2]
यत्सुखं भवेत्। न शक्यते वर्णयितुं गिरा'
[मैत्रा० उ० ६।३४]

समाधि के द्वारा मलरहित विशुद्ध अन्तःकरण में जिस उपशमात्मक अवर्णनीय एकदेशीय ब्रह्मसुख का अनुभव करता है, वही भूमा—अक्षयसुख ब्रह्मयोग से युक्त सर्वात्मदर्शी पुरुष—

'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा'
[छा० उ० ७।२४।१]

देश, काल, वस्तु के परिच्छेद से रहित सर्वत्र परिपूर्ण सच्चिदानन्दैकरसस्वरूप ब्रह्म को सर्वत्र देखते, सुनते एवं समझते हुये व्युत्थान—अव्युत्थान दोनों अवस्थाओं में बिना किसी व्यवधान के—

'प्रसन्नात्मात्मनि स्थित्वा सुखमक्षयमश्नुते'
[मैत्रे० उ० १।६]

सर्वदा परमात्मतत्त्व में स्थित होकर भोगता है ॥ २१ ॥

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥ २२ ॥

हे कुन्ती पुत्र !

'संसार एव दुःखानां सीमान्त इति कथ्यते'[3]
[म० उ० ६।२६]

---

१. चक्षु आदि इंद्रियों के वाह्य प्रपञ्च से उपरत।

२. समाधि द्वारा जिसका राग-द्वेषादि मल अच्छी प्रकार धुल गया है और जिसका चित्त आत्मा में भलीभाँति स्थित हो चुका है, उसे जो अक्षय सुख प्राप्त होता है उसको वाणी वर्णन नहीं कर सकती।

३. संसार ही दुःखों की अन्तिम सीमा कही गई है।

ये जो ब्रह्मलोक पर्यन्त स्पर्शज रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि इन्द्रियों के भोग हैं वे केवल दुःख—जन्म मृत्यु के ही हेतु हैं; तथा—

'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा'

[माण्डू० का० २.६]

आदि-अन्तवान् होने के कारण शुक्ति में रजतवत् मध्य में भी नहीं है। इसलिये स्वात्मारामी विवेकी पुरुष—

'भोगेच्छामात्रको बन्धस्तत्यागो मोक्ष उच्यते'

[म० उ० ५।९७]

भोगेच्छा मात्र को बन्धन तथा उसके त्याग को मोक्ष समझकर तथा अधिष्ठान स्वरूप परमात्मतत्त्व में अध्यस्त विश्व-प्रपञ्च को—

'प्रत्यक्षेणानुमानेन निगमेनात्मसंविदा ।
आद्यन्तवदसज्ज्ञात्वा'[1]

[श्री० भा० ११।२८।९]

प्रत्यक्ष, अनुमान, शास्त्र और आत्मानुभूति आदि प्रमाणों से उत्पत्ति-विनाशशील एवं असत्य जानकर मृगजलवत् इस मिथ्या संसार के भोगों में रमण नहीं करते ॥ २२ ॥

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ २३ ॥

जो आत्मारामी महात्मा कामशून्य होने के कारण शरीर नाश होने के पूर्व ही काम-क्रोध के वेग को सहने में समर्थ है अर्थात् जो सदैव अपने निर्विकारावस्था में स्थित रहता है—

अथवा, जो सर्वात्मदर्शन के कारण इनका अभाव देखता है, इसलिये निर्द्वन्द्व है;

अथवा जो विवेक-वैराग्य सम्पन्न पुरुष इन प्रबल इन्द्रियों का विश्वास न करके काम, क्रोध से बचने के लिये—

---

१. प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और स्वानुभव आदि प्रमाणों से आदि और अन्तवान् पदार्थों को असत् जानकर ।

'नारी रूपं त्रिभुवने मुक्तिमार्गनिरोधकम्'[१] [ब्र० वै० पु०]

'परिग्रहो हि दुःखाय'[२] [ब्र० वै० पु०]

'असत्संगो विषाधिकः'[३] [ब्र० वै० पु०]

'दुःसङ्गः सर्वथैव त्याज्यः'[४] [ना० भ० सू० ४३]

मुक्तिमार्ग के निरोधक कामिनी-काञ्चन तथा दुष्टों का कभी भी संग नहीं करता—

'देहपतनपर्यन्तं स्वरूपानुसंधानेन वसेत्'[५] [ना० प० उ० ७।२]

जीवन पर्यन्त—

'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो
भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति सर्वमात्मानं पश्यति'

[बृ० उ० ४।४।२३]

शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु तथा समाहित होकर सर्वत्र आत्मतत्त्व को देखता हुआ स्वरूपानुसंधान ही करता रहता है, वही ब्रह्मात्मैक्य दृष्टि से युक्त जीवन्मुक्त और नित्य सुखी है ॥ २३ ॥

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ २४ ॥

जो काम, क्रोधादि शून्य सर्वात्मदर्शी पुरुष अधिष्ठानभूत—

'आनन्दमन्तर्निजमाश्रयन्तम्'[६] [मैत्रे० उ० १।१२]

अपने आनन्दस्वरूप अन्तरात्मा में ही—

---

१. तीनों लोकों में नारी का रूप ही मुक्तिमार्ग का निरोधक है।
२. परिग्रह दुःख के लिये ही होता है।
३. दुष्ट पुरुषों का संग विष से भी अधिक भयंकर है।
४. दुष्टों का संग सर्वथा त्याज्य ही है।
५. देहावसानपर्यन्त स्वरूपानुसंधानपूर्वक ही रहे।
६. अपने अन्तरात्मा में आनन्द का आश्रय करनेवाले।

'स्वात्मन्येव सुखासीनः' [तै० त्रि० उ० ३।२४]।

सुख से आसीन होकर—

'स्वात्मानन्दं स्वयं भोदयेत्' [तै० त्रि० उ० ४।२१];

स्वात्मानन्द—निजानन्द को भोगता है, उसी को देखता सुनता एवं समझता हुआ सुखी रहता है अनात्मविषयों से नहीं।

तथा जो—

'आत्माराम स्वरूपोऽस्मि' [तै० त्रि० उ० ३।६],

अपने आत्मारामस्वरूप अन्तरात्मा में ही आराम करता है अर्थात्—

'आत्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः'

[छा०•उ० ७।२५।२]

अन्तरात्मा से ही रति, क्रीडा, मैथुन तथा आनन्द करता है; तथा जो—

'सर्वेषां ज्योतिषां ज्योति.' [त्रि० म० उ० ४।१]।

सब ज्योतियों की ज्योति—

'स्वशरीरे स्वयं ज्योतिः' [अक्ष० उ० ४।३६]

शरीरस्थ स्वयंज्योति अपनी अन्तरात्मा में ही ज्योति—प्रकाशवाला है अर्थात् जो सर्वत्र अन्तर्ज्योति—प्रकाशस्वरूप आत्मतत्त्व को ही देखता है, बाह्य रूपवान् ज्योति को नहीं; वह—

'ब्रह्मभूतः प्रशान्तात्मा ब्रह्मानन्दमयः सुखी'[1]

[तै० त्रि० उ० ४।३३]

प्रशान्त ब्रह्मानन्दमय, सुखी ब्रह्मभूत महात्मा—

'अत्रात्मव्यतिरेकेण द्वितीयं यो न पश्यति।[2]
ब्रह्मभूतः स एवेह वेदशास्त्र उदाहृतः॥'

[स्मृति],

अन्वय-व्यतिरेक दृष्टि से आत्मा से भिन्न कुछ न देखने के कारण—

'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति'[3] [बृ० उ० ४।६]

---

१. ब्रह्म से एकता को प्राप्त हुआ, शान्तचित्त, ब्रह्मानन्दमय, सुखी।

२. इस संसार में जो आत्मा से अतिरिक्त दूसरा कुछ भी नहीं देखता, वही यहाँ वेद-शास्त्र में ब्रह्मभूत कहा गया है।

३. ब्रह्म ही होकर ब्रह्म को प्राप्त करता है।

ब्रह्म होकर निर्वाण स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ २५ ॥

जो—

'छिद्यन्ते सर्व संशयाः' [मु० उ० २।२।८]
'तस्मिन्दृष्टे परावरे' [मु० उ० २।२।८]

परावरैकत्वदर्शी संपूर्ण संशयों से मुक्त हो चुके हैं, इसीलिये जो संयतचित्त हैं। तथा जो सर्वात्मा सर्वभूत प्राणियों के हित—प्रिय आत्मतत्त्व को सर्वत्र देखने सुनने एवं समझने में रत-निरत हैं अर्थात् जो अहिंसक हैं; वे—

'सम्यग्दर्शन संपन्नः' [म० स्मृ० ६।७४]

सम्यग्दर्शन संपन्न—

'स्वशरीरे स्वयं ज्योतिः स्वरूपं सर्व साक्षिणम् ।[1]
क्षीणदोषः प्रपश्यन्ति' [ब्रह्म० उ० ४।३६]

संपूर्ण पापों—दोषों से रहित विशुद्धान्तःकरण यति अपने शरीर में स्वयं ज्योतिस्वरूप सर्व साक्षी आत्मा को देखते हुए ब्रह्मनिर्वाण—विदेह कैवल्य को प्राप्त होते हैं ॥ २५ ॥

काम क्रोध वियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥ २६ ॥

जिन संयतचित्त यत्नशील यतियों के काम और क्रोध सर्वात्मदर्शन के कारण समाप्त हो चुके हैं, वे अभितः—उभयतः जीवित-अजीवित दोनों अवस्थाओं में ब्रह्मनिर्वाण—आनन्दस्वरूप ब्रह्म का अनुभव करते हैं। अथवा विशुद्धान्तःकरण यति अभितः—सर्वतः चारों ओर से—

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण ।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥'
[मु० उ० २।२।११]

अमृतस्वरूप ब्रह्म को ही आगे, पीछे, दायें, बायें, नीचे और ऊपर सब ओर से सर्वत्र फैला हुआ अनुभव करते हैं ॥ २६ ॥

---

१. अपने शरीर में स्वयं प्रकाशस्वरूप सर्वसाक्षी आत्मा को रागादि दोष-रहित महात्मा देखते हैं।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौसमौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥ २७ ॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ २८ ॥

अब—भगवान् परमार्थ के अन्तरंग साधन ध्यान योग का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जो विवेक-वैराग्य-सम्पन्न मननशील पुरुष—

'बहिःप्रज्ञाविषयान्बहिः' [ना० प० उ० ३।२६]

बाह्यस्पर्श शब्दादि विषयों को बाहर करके अर्थात् उनके चिन्तन से सर्वथा उपरत हो, इधर-उधर दृश्य को न देखता हुआ तीव्र मोक्ष की इच्छा से युक्त हो, दोनों नेत्रों को भृकुटी के मध्य में स्थिर करके तथा नासिका के भीतर विचरनेवाले प्राण और अपान को सम—साम्यावस्था में स्थित करके कुम्भक करता हुआ—

'इन्द्रियाणि मनोबुद्धिः कामक्रोधादिकं जितम्'[1]

[यो० शि० उ० १।३६]

इन्द्रिय, मन और बुद्धि को वश में करके तथा समाधि के विघ्न इच्छा, भय एवं क्रोध से मुक्त होकर सब व्यवहारों को दूर से ही छोड़कर केवल—

स्वरूपानुसंधानं विनान्यथाचारपरो न भवेत्'

[ना० प० उ० ५।१]

मोक्ष—स्वरूपानुसंधान के ही परायण रहता है अर्थात्—

'सर्वतः स्वरूपमेव पश्यञ्जीवन्मुक्ति मवाप्य प्रारब्ध प्रतिभासनाश पर्यन्तं स्वरूपानुसंधानेन वसेत्'[2]

[ना० प० उ० ७।२]

---

१. इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि एवं काम-क्रोधादि जीत लिये गये हैं [जिससे]

२. सब ओर अपने स्वरूप को ही देखता हुआ जीवन्मुक्ति को प्राप्त करके प्रारब्ध कर्मनाशपर्यन्त स्वरूप का चिन्तन करता हुआ काल को व्यतीत करे ।

जो सब ओर से स्वरूप को ही देखता, सुनता एवं समझता हुआ जीवन्मुक्ति को प्राप्त करके शरीर नाशपर्यन्त स्वरूपानुसंधान करता हुआ ही निवास करता है; वह सदा मुक्त ही है।

'तस्य कार्यं न विद्यते' [गी० ३।१७]

उसको मोक्ष के लिये कोई भी कर्तव्य अवशिष्ट नहीं है ॥ २७, २८ ॥

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ २९ ॥

जो ब्रह्मात्मैक्य दृष्टि संपन्न पुरुष मुझ सच्चिदानन्दैकरसस्वरूप परब्रह्म परमात्मा को संपूर्ण यज्ञ-तपों का भोक्ता—

'सर्वेषां भूतानामधिपतिः सर्वेषां भूतानां राजा'
[बृ० उ० २।५।१५]

'तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्' [श्वे० उ० ६।७]

सर्वभूतप्राणियों का अधिपति और राजा तथा सब लोकों के ईश्वरों का भी महान् ईश्वर तथा—

'भूतानां सुहृद' [श्री० भा० ११।२६।६]

'तत्सर्वप्राणि हृदयं सर्वेषां च हृदि स्थितम्'[1]
[हा० स्मृ० ७।७]

'सर्वभूतान्तरात्मा' [श्वे० उ० ६।११]

॥ पाँचवाँ अध्याय समाप्त ॥

---

१. जो सर्व प्राणियों का हृदय और सर्वप्राणियों के हृदय में स्थित है। सर्वभूत प्राणियों का सुहृद, अन्तरात्मा, सर्वान्तर्यामी, सर्वप्रकाशक और परमार्थ सत्य जानता है, वह शान्ति—विदेहमुक्ति को प्राप्त होता है ॥२९॥

छठवाँ अध्याय

•

आत्मसंयम योग

॥ ॐ ॥

छठवाँ अध्याय

आत्मसंयमयोग

परमार्थ ज्ञान का जो अन्तरङ्ग साधन—

'स्पर्शान्कृत्वाबहिः' [गी० ५।१७]

ध्यानयोग कहा गया है, उसीका विवेचन करने के लिए भगवान् आत्मसंयम-अभ्यासयोग नामक छठा अध्याय प्रारम्भ कर रहे हैं; परन्तु ध्यान योग का साधन है कर्मयोग जिसके बिना कोई भी पुरुष ध्यानयोग पर आरूढ़ अर्थात् ध्यान करने में समर्थ नहीं हो सकता। इसलिए उसमें अभिरुचि उत्पन्न करने के लिये भगवान् कर्मयोगी की संन्यासी और योगी शब्द से स्तुति करते हुए बोले।

श्री भगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥ १ ॥

जो कर्मफल से अनाश्रित अर्थात् चित्तशुद्धि के लिये कर्मफल न चाहता हुआ ईश्वरार्थ शास्त्रविहित कर्मों को करता है, वह साग्नि और सक्रिय ही संन्यासी और योगी है न कि निरग्नि और अक्रिय अर्थात् अग्निहोत्रादि तथा कर्मों का स्वरूपतः त्याग करनेवाला ॥ १ ॥

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥ २ ॥

जिसको संन्यास कहते हैं, उसी को तू कर्मयोग जान, क्योंकि बिना संकल्पों के त्याग के कोई भी योगी नहीं हो सकता।

'असंकल्पनमात्रैकसाध्ये सकलसिद्धिदे'

[म० उ० ४।६८]

केवल संकल्पहीनता रूपी एक साध्य से ही संपूर्ण सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार संन्यासी अपने निष्क्रियत्व एवं निःसंकल्पत्व में स्थित होकर सब कर्मों तथा उनके फलविषयक संकल्पों का 'जो कि संसार का मूल कारण है' त्याग करता है, उसी प्रकार कर्मयोगी भी कर्मफल विषयक संकल्पों का त्याग करता ही है, इसलिये भगवान् ने संकल्पों के त्याग की एकता—समानता होने से जो संन्यास है वही योग है, ऐसा कहा है। परन्तु जो—

'कामान्यः कामयते मन्यमानः'
स कामभिर्जायते तत्र तत्र।'[1]

[मु० उ० ३।२।२]

फलेच्छुक फलों की स्पृहा के कारण संकल्पों का त्याग नहीं कर सकता, वह मन की चंचलता—विक्षेप के कारण योगी नहीं हो सकता अर्थात् परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिये तू फलविषयक संकल्पों का त्याग करता हुआ कर्म ही कर ॥ २ ॥

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥

जो अशुद्ध अन्तःकरण पुरुष ध्यान में आरूढ़ अर्थात् ध्यान करने में समर्थ नहीं है, उसे ज्ञानयोग पर आरूढ़ होने के लिये अर्थात् ज्ञान की प्राप्ति के लिए कर्म ही कारण कहा गया है।

'आरुरुक्षुमतीनां तु कर्मज्ञानमुदाहृतम्'[2]

[ग० पु० १।२३५।४]

इसलिये अपक्व अन्तःकरण पुरुष को—

'तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता'

[श्री० भा० ११।२०।९]

तब तक ही कर्म करना चाहिए जब तक कि लोक लोकान्तर से वैराग्य न हो जाय, इस प्रकार जब वही पुरुष कर्मयोग के द्वारा चित्तशुद्धि को प्राप्त कर

---

१. भोगों का चिन्तन करनेवाला जो पुरुष भोगों की कामना करता है, वह उन कामनाओं के कारण वहाँ वहाँ पैदा होता है।

२. आरुरुक्षु बुद्धिवालों का ज्ञान कर्म ही कहा गया है।

विवेक, वैराग्य, शम, दमादि से युक्त हो जाय अर्थात् श्रवण, मनन, निदिध्यासन करने में समर्थ योग पर आरूढ़ हो जाय, तब उसको—

'आरूढयोगवृक्षाणां ज्ञानं त्यागं परमतम्'
[ग० पु० १।२३५।५]

'सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्य' [गी० ५।१३]

सब कर्मों का मन से त्याग ही सर्वात्मदर्शन का कारण—बतलाया गया है। अभिप्राय यह है कि वह—

'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो
भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति'
[बृ० उ० ४।४।२३]

शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु तथा समाहित होकर आत्मा में आत्मा को देखता हुआ—

'स्वरूपानुसंधानंविनान्यथा चारपरो न भवेत्'
[ना० प० उ० ५।१]

स्वरूपानुसंधान के बिना अन्य आचार—कर्म के परायण न हो, तभी उसे कैवल्य की प्राप्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं ॥ ३ ॥

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुपज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥

जिस काल में योगी अधिष्ठानस्वरूप परमात्मतत्त्व में अध्यस्त द्वैतप्रपञ्च का शुक्ति में रजतवत् अभाव देखने के कारण—

'यदि ते नेन्द्रियार्थश्रीः स्पन्दते हृदि वै द्विज।[२]
तदा विज्ञातविज्ञेया समुत्तीर्णो भवार्णवात्॥'
[म० उ० ५।१७४]

इन्द्रियों के अर्थों—शब्दादि विषयों तथा उनके साधन नित्य-नैमित्तिक, काम्य एवं निषिद्धादि कर्मों में आसक्त नहीं होता; तथा—

---

१. योग रूप वृक्ष पर आरूढ़ पुरुषों का त्याग ही परम ज्ञान कहा गया है।

२. यदि इन्द्रियों के विषयों की श्री तुम्हारे हृदय में स्फुरित नहीं होती, तो तुम विज्ञात विज्ञेय होकर भवसागर से उत्तीर्ण हो गये।

'स्वसंकल्पवशाद्बद्धो निःसंकल्पाद्विमुच्यते' [1]
[म० उ० २।७०]

'यस्य संकल्पनाशः स्यात्तस्य मुक्तिः करे स्थिता' [2]
[श्रुति]

सर्वसंकल्प के त्याग को मोक्ष समझकर असंग उदासीन तथा साक्षीरूप से अपने स्वरूप में स्थित रहता है ।

अथवा—

'सजातीय प्रवाहश्च विजातीय तिरस्कृतिः'
[ते० वि० उ० १।१८]

जिस काल में सजातीय प्रत्यय के अभ्यास एवं विजातीय प्रत्यय नाम-रूप के तिरस्कार के द्वारा सर्वत्र ब्रह्ममात्र दर्शन से संलग्न हो—

'निर्विकल्पा च चिन्मात्रा वृत्तिः प्रज्ञेति कथ्यते'
[अ० उ० ४४]

बुद्धि वृत्ति निर्विकल्प, चिन्मात्र सुस्थिर हो जाती है, तथा—

'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा [3]
सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ॥'
[श्वे० उ० १।१२]

भोक्ता, भोग्य, प्रेरक तथा द्रष्टा, दर्शन, दृश्य सबको ब्रह्ममात्र देखने के कारण इन्द्रियों के अर्थों—शब्दादि विषयों तथा उनके साधन कर्मों में आसक्त नहीं होता, उस काल में सर्वसंकल्पों का त्याग करनेवाला सर्वात्मदर्शी पुरुष योगारूढ—समाधिस्थ कहलाता है ॥ ४ ॥

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥

---

१. जीव अपने ही संकल्प के कारण बद्ध होता है और निःसंकल्प होने से मुक्त होता है ।

२. जिसके संकल्प का नाश हो गया है, मुक्ति उसके करतलगत है ।

३. भोक्ता—जीव, भोग्य—जगत् और प्रेरक-परमात्मा यह तीन प्रकार से कहा हुआ सब पूर्ण ब्रह्म ही है ।

अर्जुन ! इस देव दुर्लभ मोक्ष प्राप्ति के साधन मानव-शरीर को प्राप्त कर—

'भोगेच्छामात्रको बन्धस्तत्त्यागो मोक्ष उच्यते'

[म० उ० ५।६७]

'आत्मनात्मानमुद्धरेत्' [ना० प० उ० ५।२८]

भोगेच्छा को बंधन तथा उसके त्याग को मोक्ष समझकर अपने द्वारा अपना जन्म-मृत्यु रूप संसार-सागर से उद्धार कर लेना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि—

'मातापित्रोर्मलोद्भूतं मलमांसमयं वपुः।
त्यक्त्वा चाण्डालवद्दूरं ब्रह्मभूय[1] कृती भव ॥'

[अ० उ० ६]

माता-पिता के मल से सृष्ट इस मल मांसमय दुर्गन्धित शरीर को चाण्डालवत् दूर से ही त्याग कर अर्थात् शरीर के स्नेह तथा लोक-लोकान्तर के भोगों से पूर्णतया विरक्त हो—

'हस्तं हस्तेन संपीड्य दन्तैर्दन्तान्विचूर्ण्य च।
अङ्गान्यङ्गैः समाक्रम्य जयेदादौ स्वकं मनः ॥'

[मुक्ति० उ० २।४२]

हाथ से हाथ को मलकर, दाँत से दाँत को पीसकर एवं अंगों से अंगों को दबाकर अर्थात् अपनी पूरी शक्ति लगाकर पहले मन को वश में कर लेना चाहिये; क्योंकि—

'मनरेव जगत्' [यो० वा०]

[म० उ० ५।७६]

मन ही जगत् है।

'मनसो विजयान्नान्या गतिरस्ति भवार्णवे'

मन के विजय से भिन्न संसार-सागर को तरने का अन्य कोई उपाय नहीं है। इसलिये—

---

१. ब्रह्मभूत होकर कृतकृत्य हो जा।

'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वा'
[बृ० उ० ४।४।२३]

शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु तथा समाहित होकर—

'स्वसंकल्पवशाद्बद्धो निःसंकल्पाद्विमुच्यते'
[म० उ० २।७०]

स्वसंकल्प से मुक्त निःसंकल्प हो आत्मा में आत्मा को देखता हुआ—

'यद्यत्स्वाभिमतं वस्तु तत्त्यजन्मोक्षमश्नुते'[1]
[म० उ० ३।८८]

'पौरुषेण प्रयत्नेन बलात्संत्यज्य वासनाम्'[2]
[अन्न० उ० ४।७४]

स्वाभिमत वस्तु तथा वासनाओं को पौरुष से प्रयत्नपूर्वक त्याग करके ब्रह्मभूत हो, मोक्ष-सुख को भोगता हुआ तथा अपने आप्तकामत्व, पूर्णकामत्व एवं निर्विकारत्व में स्थित होकर संसार-सागर से मुक्त हो जा। अनात्म बाह्य विषयों में आसक्त होकर अर्थात्—

'विहितस्याननुष्ठानान्निन्दितस्य च सेवनात्।
अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छति॥'
[या० स्मृ० ३।५।२१६]

विहित के त्याग, निन्दित के सेवन तथा इन्द्रियों के अनिग्रह के द्वारा अपना नाश मत कर; क्योंकि जिसने सर्वात्मदर्शन के द्वारा—

'दृश्यासंभवबोधेन' [म० उ० ४।६२]

नाम-रूपात्मक विश्वप्रपञ्च का अभाव देखा है, वही जन्म-मृत्यु रूप महान् दुःखों से अपनी रक्षा करनेवाला अपना बन्धु—मित्र है और जो कामनाओं का उपासक कामुक विषयासक्त पुरुष अनात्मदर्शन के कारण—

'भोगेच्छामात्रको बन्धः' [म० उ० ५।९७]

---

१. जो जो भी इष्ट वस्तु है, उस उस को त्यागता हुआ मोक्ष प्राप्त करता है।

२. पौरुष से प्रयत्नपूर्वक वासनाओं को बलपूर्वक त्याग करके।

भोगेच्छा के द्वारा अपने बन्धन की गाँठ जन्म-मृत्यु को दृढ़ करता है, वह आत्म हत्यारा बार-बार जन्म-मृत्यु के द्वारा अपना हनन करने के कारण अपना शत्रु है ॥ ५ ॥

बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥

जिसने अपने मन को वश में कर लिया है, वह अपना मित्र है, उसने संपूर्ण ब्रह्माण्ड को जीत लिया, क्योंकि—

'मनरेंव जगत्' [यो० वा०]
'मनसो विजयान्नान्या गति रस्ति भवार्णवे'
[म० उ० ५।७६]

'मन ही जगत् है' मन के विजय से भिन्न भवसागर—जन्म-मृत्यु के तरने का अन्य कोई उपाय नहीं है। इसलिये जिसने मन पर विजय प्राप्त कर लिया, वही अपने अजरत्व, अमरत्व तथा निर्विकारत्व में स्थित अपना मित्र है और जो मिथ्या नाम-रूप का उपासक पुरुष—

'नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तः' [क० उ० १।२।२४]

दुश्चरित्रता के कारण मन को वश में नहीं कर सकता, वह अनात्मदर्शी बार-बार जन्म-मृत्यु के द्वारा अपने को शत्रुवत् व्यथित करता रहता है।
अभिप्राय यह है कि—

'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।'
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ॥'[1]
[ब्र० बिन्दु० उ० २]

मन ही मनुष्य के बन्धन और मोक्ष का कारण है, इसलिए पुरुष को संसारासक्ति से मुक्त हो विवेक, वैराग्य, शम दमादि से युक्त होकर श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन से सर्वात्मदर्शन के द्वारा संसार सागर से अपना उद्धार कर लेना चाहिए ॥ ६ ॥

---

१. मन ही मनुष्यों के बन्ध और मोक्ष का कारण है। विषयासक्त मन बंधन का और विषय संकल्प से रहित मन मोक्ष का कारण माना गया है।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ८ ॥

जो—

'आत्मैवेदं सर्वम्' [छा० उ० ७।२५।२]

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानीति'

[छा० उ० ३।१४।१]

'अयमात्मा ब्रह्म' [बृ० उ० २।५।१९]

'अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद परोक्ष ज्ञानमेव तत्'

[बृ० उ० २।४१]

'यह सब आत्मा ही है' 'यह सब ब्रह्म ही है, यह जन्म देनेवाला, लय करने वाला और चेष्टा करानेवाला है' 'यह आत्मा ब्रह्म है' इस प्रकार के परोक्ष शास्त्रीय ज्ञान से; तथा—

'अहमेवेदं सर्वम्' [छा० उ० ७।२५।१]
'मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति' [गी० ७।७]

'सर्वमिदमहं च ब्रह्मैव'
'अहं ब्रह्मेति चेद्वेद साक्षात्कारः स उच्यते'

[व० उ० २।४१]

'यह सब मैं ही हूँ' 'मुझसे भिन्न अणुमात्र भी नहीं है' 'यह सब और मैं ब्रह्म ही हूँ' इस अपरोक्ष ज्ञान-विज्ञान से जिसकी बुद्धि तृप्त—परिपूर्ण है, इसलिये जो—

'नित्यः सर्वगतो ह्यात्मा कूटस्थो दोषवर्जितः'

[अव० उ० ५।७५]

दोषरहित अपने नित्य निर्विकारत्व में स्थित रहता है, तथा जो सर्वात्मदृष्टि से विषयाभाव देखने के कारण जितेन्द्रिय है, तथा जो—

'द्वैतवर्जिता समालोष्टाश्मकाञ्चनाः'

[मि० उ० १]

'रागद्वेषविमुक्तात्मा समलोष्टाश्मकाञ्चनः'
[ना० प० उ० ३।३४]

द्वैताभाव देखनेवाला रागद्वेष से मुक्त समदर्शी पुरुष सर्वत्र ब्रह्मदर्शन के कारण हेयोपादेय बुद्धि से रहित मिट्टी के ढेले, पत्थर और स्वर्ण में समान है, वह पर वैराग्य से युक्त परमहंस परिव्राजक योगारूढ़ कहलाता है ॥ ८ ॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥

जो—

'समता चैव सर्वस्मिन्नेतन्मुक्तस्यलक्षणम्'
[ना० प० उ० ३।५४]

जीवन्मुक्त महात्मा सर्वत्र समदर्शन के कारण सुहृद—प्रत्युपकार न चाहकर उपकार करनेवाले में, मित्र—स्नेहवश उपकार करनेवाले में, उदासीन-सर्वत्र उपेक्षा करनेवाले में, मध्यस्थ—वादी-प्रतिवादी दोनों में सम रहनेवाले में-द्वेष्य—अप्रिय में, बन्धु—सम्बन्धी में, साधु—शास्त्रविहित कर्म करने वाले सदाचारी में, तथा पापी—शास्त्रनिषिद्ध कर्म करने वाले दुराचारी में, तथा अन्य—

'सर्वभूतसमः शान्तः स वै भागवतोत्तमः'[1]
[श्री० भा० ११।२।५२]

'यः समः सर्वभूतेषु जीवितं तस्य शोभते'[2]
[सं० उ० २।३६]

सर्वभूत प्राणियों में सम, शान्त बुद्धि रखने वाला अर्थात् सर्वत्र गुण-दोष बुद्धि से रहित—

'निर्दोषं हि समं ब्रह्म' [गी० ५।१९]

---

१. संपूर्ण भूतप्राणियों में जो सम और शान्त है, वह निश्चय ही श्रेष्ठ भागवत है ।

२. जिसकी संपूर्ण भूत प्राणियों में समदृष्टि हो गई है, उसीका जीवन शोभनीय है ।

निर्दोष समब्रह्म को देखनेवाला है, वह अन्य सब योगियों में श्रेष्ठ है, उसी का जीवन शोभनीय है।

अभिप्राय यह है कि समदर्शी ही जीवित-अजीवित दोनों अवस्थाओं में मोक्ष सुख लाभ करता है, विषमदर्शी नहीं। इसलिये मुमुक्षु को—

'शान्तोदान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वा'

[बृ० उ० ४।४।२३]

शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु तथा समाहित होकर नित्य ब्रह्मदर्शन के द्वारा समदृष्टि ही करनी चाहिये गुण-दोष की बुद्धि नहीं ॥ ९ ॥

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ १० ॥

इसलिये साम्यावस्था की प्राप्ति के लिये—

'संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः' [मु० उ० ३।२।६]

संन्यास योग से शुद्धान्तःकरण योगी ध्यान करने के लिये—

'एकास्तपो द्विरध्यायी'[1]

इस नियम से—

'एकान्तवासो लघुभोजनादि मौनं निराशा करणावरोधः।[2]
मुनेरसोः संयमनं षडेते चित्तप्रसादं जनयन्ति शीघ्रम् ॥'

'क्षीणेन्द्रिय मनोवृत्तिर्निराशो निष्परिग्रहः'[3]

[ना० प० उ० ३।७५]

'एकाकी चिन्तयेद्ब्रह्म मनोवाक्काय कर्मभिः'[4]

[ना० प० उ० ३।६०]

---

१. तप करनेवाला एक और अध्ययन करनेवाला दो होना चाहिये।

२. एकान्तवास, लघुभोजनादि, मौन, निराशा, इन्द्रियों का निग्रह और प्राणों का संयम—ये छः चित्त की प्रसन्नता को शीघ्र उत्पन्न करते हैं।

३. जिसकी इन्द्रिय और मन की वृत्ति क्षीण हो गई है, जो आशाओं से मुक्त हो गया है और जो अपरिग्रही है।

४. एकाकी रहकर मन, वाणी, शरीर और कर्म से ब्रह्म का ही चिन्तन करे।

'निद्राया लोकवार्तायाः शब्दादेरात्मविस्मृतेः ।'
क्वचिन्नावसरं दत्त्वा चिन्तयात्मानमात्मनि ॥'

[अ० उ० ५]

अकेला ही एकान्तवास लघु-आहार, मौन, निराशा का व्रत, इन्द्रिय तथा मनोनिग्रह और प्राणों का संयम करता हुआ तथा संग्रह-परिग्रह से मुक्त निःस्पृह होकर अर्थात् विवेक, वैराग्यादि साधन चतुष्टय संपन्न होकर निद्रा, लोकवार्ता तथा शब्दादि विषय से आत्मविस्मृति को लेशमात्र भी अवसर न देता हुआ—

'उपेक्षा सर्वभूतानामेतावद् भिक्षुलक्षणम्'[२]

[महा० शा० २४५।७]

नाम-रूपात्मक समस्त प्राणियों की उपेक्षा करके सच्चिदानन्द-स्वरूप परमात्मा के परायण होकर अर्थात्—

'दृश्यं ह्यदृश्यतां नीत्वा ब्रह्माकारेण चिन्तयेत्'[३]

[ते० बि० उ० १।५०]

दृश्य को अदृश्य—चिन्मयावस्था में लाकर—

'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति'

[छा० उ० ७।२४।१]

सर्वत्र ब्रह्म को ही देखता, सुनता एवं समझता हुआ, ब्रह्माकार बुद्धि से निरन्तर धारावाहिक रूप में—

'स्वरूपानुसंधानं विनान्यथा चारपरो न भवेत्'

[ना० प० उ० ५।१]

स्वरूपानुसंधान ही करता रहे, अन्य व्यापार के परायण न हो ॥ १० ॥

---

१. निद्रा, लोकवार्ता तथा शब्दादि विषयों से आत्मविस्मृति को कहीं भी अवसर न देकर अपने अन्तःकरण में निरन्तर आत्मा का चिन्तन करो।

२. सर्वभूतप्राणियों की उपेक्षा करना—इतना ही यति का मुख्य लक्षण है।

३. नाम रूपात्मक दृश्यप्रपञ्च को अदृश्य करके उसका ब्रह्मरूप से चिन्तन करो।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ ११ ॥

वह ध्यान का स्थान—

'समे शुचौ शर्करावह्निवालुका
विवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः ।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने
गुहा निवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥'[1]
[श्वे० उ० २।१०]

शुद्ध, कंकड़, अग्नि और बालू से रहित तथा शब्द, जल एवं आश्रयादि से भी शून्य, मनोनुकूल तथा नेत्रों को पीड़ित करनेवाला न हो—

'विविक्तदेशे च सुखासनस्थः'[2]
[कै० उ० १५]

ऐसे स्वाभाविकरूप से या झाड़ने-बुहारने से शुद्ध वैराग्योत्पादक तथा मच्छर सर्प एवं व्याघ्रादि जन्तुओं से रहित, वायुशून्य एकान्तस्थान में—

'स्थिर सुखमासनम्'[3] [यो० सू० २।४६]
'ततो द्वन्द्वानभिघातः' [यो० सू० २।४८]

द्वन्द्वों के अभिघातक—नाशक, स्थिर, सुखदायक अपने आसन को लगाना चाहिये, जो हिलने तथा गिरने आदि के भय से रहित, न अति ऊँचा हो और न शीतोष्ण तथा रगड़प्रदायक अति नीचा ही हो, जिस पर क्रम से कुश, मृदु मृग तथा व्याघ्र चर्म और मृदु वस्त्र बिछाया गया हो ॥ ११ ॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥ १२ ॥

---

१. जो सम, शुद्ध, कंकड़, अग्नि और बालू से रहित एवं शब्द, जल और आश्रयादि से भी रहित हो, मनोनुकूल हो तथा नेत्रों को पीड़ा न देनेवाला हो—ऐसे गुहादि वायुशून्य स्थान में मन को प्रयुक्त करे ।

२. एकान्त देश में सुखपूर्वक बैठकर ।

३. जिससे शरीर सुखपूर्वक स्थिर रहे, वही आसन है ।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ १३ ॥

ऐसे आसन पर स्थिरता से बैठकर मन को एकाग्र करके अर्थात्—

'विषयेभ्य इन्द्रियार्थेभ्यो मनो निरोधनं प्रत्याहारः'
[म० ब्रा० उ० १।१]

इन्द्रियों के अर्थ-विषयों से मन का निरोध—प्रत्याहार करके तथा चित्त एवं इन्द्रिय को वश में करके आत्मशुद्धि-बुद्धि की शुद्धि के लिए अर्थात् भूमिका-त्रय के जय द्वारा विवेक वैराग्यादि साधन चतुष्टय सम्पन्न होकर—

'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया'[1]
[क० उ० १।३।१२]

कुशाग्र, सूक्ष्मबुद्धि से अनात्म प्रत्ययों के निरोध द्वारा परमात्मतत्त्व को सर्वत्र विषय करने के लिये—

'समग्रीव शिरः शरीरः' [कै० उ० १।५]

काय, शिर और ग्रीवा को सम—अचल ठूँठवत् स्थिर करके अपनी नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि जमाकर अर्थात् लय, विक्षेप तथा विषयरहित निर्निमीलित नेत्र होकर अन्य दिशाओं को न देखता हुआ—

'ब्रह्माकार मनोवृत्ति प्रवाहोऽहंकृतिं विना।
संप्रज्ञात समाधिः स्याद्ध्यानाभ्यास प्रकर्षतः॥'
[मुक्ति० उ० २।५३]

चिरकालिक ध्यान के द्वारा अहंकार से मुक्त होकर धारावाहिक ब्रह्माकार मनोवृत्ति के द्वारा संप्रज्ञात समाधि का अभ्यास करे ॥ १२,१३]

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥ १४ ॥

इस प्रकार सविकल्प समाधि के परायण रहनेवाला राग-द्वेष से मुक्त, शान्त अन्तःकरण पुरुष—

'त्यजधर्ममधर्मं च' [महा० शा० ३२९।४०]

१. परमात्मा कुशाग्र सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा देखा जाता है।

'वेदानिमं लोकममुं च परित्यज्याऽऽत्मानमन्विच्छेत्'

[स्मृति]

धर्माधर्म, वेद, इहलोक तथा परलोक को त्यागकर आत्मा की इच्छा करता हुआ संग्रह-परिग्रह से मुक्त सर्वथा निर्भय हो—

'दर्शनं स्पर्शनं केलिः कीर्तनं गुह्यभाषणम् ॥[1]
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च।
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥
विपरीतं ब्रह्मचर्यमनुष्ठेयं मुमुक्षुभिः ।'

[क० रु० उ० ५।७]

'[इस श्रुति वचनानुसार] ब्रह्मचर्य व्रत में नित्य स्थित होकर तथा मन को संयम में करके अर्थात विषयाकार वृत्ति से शून्य बनाकर मच्चित्त—मुझ साक्षी सच्चिदानन्दघन ब्रह्म के चित्तवाला होकर तथा मत्पर—मेरे परायण होकर अर्थात् मैं—

'प्रकृतेः परः' [वि० पु० २।१४।२६]
'अहमेव परात्परः' [ते० वि० उ० ६।४४]

प्रकृति से पर सर्वोत्कृष्ट परमात्मा हूँ—

'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति'

[गी० ७।७]

'मुझसे भिन्न अणुमात्र भी नहीं है' ऐसी बुद्धि से युक्त होकर बैठे—स्थित रहे ॥ १४ ॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्ति निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ १५ ॥

---

१. स्त्रियों का दर्शन, स्पर्श, क्रीडा, चर्चा काम संबन्धी विषयों की वार्ता संकल्प, संभोग के लिए प्रयत्न और संभोग की क्रियानिर्वृत्ति—ये आठ प्रकार के मैथुन मनीषियों ने कहा है। इन उपरोक्त आठ प्रकार के मैथुन के त्यागरूप ब्रह्मचर्य का पालन साधकों को करणीय है।

इस प्रकार नियत मन वाला योगी तीव्र मोक्ष की इच्छा से युक्त हो—

'समाधौ क्रियमाणे तु विघ्नान्यायान्ति वै बलात् ।[1]
अनुसंधानराहित्यमालस्यं भोगलालसम् ॥
लयस्तमश्चविक्षेपस्तेजः स्वेदश्च शून्यता ।
एवं हि विघ्नबाहुल्यं त्याज्यं ब्रह्मविशारदैः ॥
भाववृत्त्या हि भावत्वं शून्यवृत्त्या हि शून्यता ।
ब्रह्मवृत्त्या हि पूर्णत्वं तथा पूर्णत्वमभ्यसेत् ॥'
[ते० वि० उ० १।४०-४२]

समाधि के इन नौ विघ्नों तथा भाववृत्ति और शून्यवृत्ति से रहित होकर—

'सर्वमिदमहं च वासुदेवः'

'यह सब और मैं वासुदेव ही हूँ' इस ब्रह्मवृत्ति ब्रह्मात्मैक्य दृष्टि से युक्त हो सर्वत्र मुझ पूर्ण अद्वितीय वासुदेव को नित्य निरन्तर देखता-सुनता एवं समझता हुआ—

'प्रशान्तवृत्तिकंचित्तं परमानन्द दायकम् ।[2]
असंप्रज्ञातनामायं समाधिर्योगिनां प्रियः ॥'
[मुक्ति० उ० २।५४]

चित्तवृत्तिविलासिनी तथा परमानन्दप्रदायिनी असंप्रज्ञात—निर्विकल्पसमाधि से युक्त हो, मुझ परमात्मा में स्थित परम निर्वाणदायिनी निरतिशय शान्ति को प्राप्त करता है । जैसा श्रुति भी कहती है—

---

१. समाधि के अभ्यास करने में अनुसंधानराहित्य, आलस्य भोग-लालसा लय, तम, विक्षेप, तेज और शून्यता आदि विघ्न निश्चय ही बलात् आ जाते हैं । इसलिये ब्रह्मविशारदों को इस प्रकार के विघ्नबाहुल्य का त्याग कर देना चाहिये । भाववृत्ति से भावत्व, शून्यवृत्ति से शून्यता एवं पूर्णवृत्ति से पूर्णत्व की प्राप्ति होती है, इसलिए पूर्णत्व का अभ्यास करे ।

२. जब चित्त की सारी वृत्तियाँ शांत हो जाती हैं, उस समय परमानन्द प्रदान करनेवाली असंप्रज्ञात नाम की समाधि होती है, जो योगियों को प्रिय है ।

'तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥'
[क० उ० २।२।१३]

जो धीर पुरुष हृदयस्थ परमात्मा को देख लेता है, वह अक्षय शान्ति को प्राप्त करता है ॥ १५ ॥

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ १६ ॥

अब योगी के आहार-विहार का दिग्दर्शन कराया जा रहा है। यह योग न अधिक खानेवाले का सिद्ध होता है और न बिल्कुल न खाने वाले का ही सिद्ध होता है। जैसा श्रुति भी कहती है—

'अत्याहारमनाहारं नित्यं योगी विवर्जयेत्'
[अ० ना० उ० २८]

'यद्वारमसंमितमन्नं तदवति न हिनस्ति-
यद्भूयो हिनस्ति तद्यत्कनीयो न तदवति'
[श्रुति]

योगी को अत्याहार और अनाहार का नित्य परित्याग कर देना चाहिये जो अन्न अपने शरीर की शक्ति के अनुकूल होता है, वह रक्षा करता है, कष्ट नहीं देता, जो अधिक होता है वह कष्ट देता है और जो परिमाण से कम होता है, वह रक्षा नहीं करता—

'आहारस्य च भागौ द्वौ तृतीयमुदकस्य च ।[1]
वायोः संचारणार्थाय चतुर्थमवशेषयेत् ॥'
[स० उ० २।५६]

'अर्धमशनस्य सव्यञ्जस्य तृतीयमुदकस्य च ।[2]
वायोः संचारणार्थं तु चतुर्थमवशेषयेत् ॥'

---

१. पेट का दो भाग आहार से, तीसरा भाग जल से पूर्ण करना चाहिये तथा चौथा भाग वायु के संचरण के लिए खाली रखना चाहिये।

२. पेट का आधा भाग साक, पातादि व्यञ्जनों सहित भोजन से और तीसरा भाग जल से पूर्ण करना चाहिये तथा चौथा भाग वायु के संचार के लिये खाली रखना चाहिये।

अथवा श्रुति एवं योगशास्त्र में कहे गये परिमाण से अधिक खानेवाले का योग सिद्ध नहीं होता। तथा ऐसे ही न अधिक सोनेवाले का सिद्ध होता है, न अधिक जागनेवाले का ही।

अभिप्राय यह है कि अधिक भोजन करने अथवा बिल्कुल न करने से तथा अति सोने और बिल्कुल न सोने से रज, तम की वृद्धि होने से इन्द्रियाँ शूल, निर्बलता, आलस्य, प्रमाद आदि दोषों से युक्त होने के कारण श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन के अयोग्य हो जाती हैं। इसलिये इस शास्त्रविरुद्ध क्रिया से दुःखनाशक योग की प्राप्ति नहीं होती। इससे सिद्ध हुआ कि योगियों को अपने अनुकूल परिमित आहार-विहार ही करना चाहिये, न्यूनाधिक नहीं ॥ १६ ॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ १७ ॥

यह दुःखों का नाश करनेवाला सुखस्वरूप योग—

'पूरयेदशनेनार्धं तृतीयमुदकेन तु।
वायोः संचरणार्थं तु चतुर्थमव शेषयेत ॥'[1]

योग शास्त्रानुसार युक्त—नियत शुद्ध सात्विक, परिमित एवं आयु तथा आरोग्यवर्द्धक आहार करनेवाले का, तथा—

'न गव्यूतेः परं गच्छेन्न ग्रामे नगरे वसेत्'

'दो कोस से अधिक न चले, ग्राम या नगर में न बसे' इस शास्त्रानुसार—नियमित रूप से विचरनेवाले का एवं प्रवचन, शौच तथा स्नानादि कर्मों में युक्त—नियत चेष्टा वाले का तथा रात्रि का तीन भाग करके मध्य में नियमित रूप से सोने तथा प्रथम और अन्त में योग के परायण होकर जागनेवाले का ही पूर्ण होता है, जो आध्यात्मिकादि एवं जन्मादि सर्व दुःखों के निःशेष निवृत्ति का कारण है ॥ १७ ॥

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ १८ ॥

---

१. पेट का आधा भाग भोजन से और तीसरा भाग जल से पूर्ण करना चाहिए और चतुर्थ भाग वायु के संचारणार्थ खाली रखना चाहिये।

जिस काल में परवैराग्य से विशेषरूप से वश में किया हुआ चित्त योगाभ्यास की प्रचुरता से सच्चिदानन्दघन प्रत्यगभिन्न ब्रह्म में सम्यग्रूपेण स्थित हो जाता है अर्थात् ब्रह्माकार वृत्ति से—

'दृश्यासंभवबोधेन' [म० उ० ४।६२]

दृश्य का आत्यन्तिक अभाव देखने से फिर कभी दृश्याकार नहीं होता, केवल—

'आत्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः'
[छां० उ० ७।२५।२]

आत्मा से ही रति, क्रीडा, मैथुन तथा आनन्द करता हुआ सर्वात्मदर्शन के कारण—

'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः'
[क० उ० २।३।१४]

सम्पूर्ण मनोगत कामनाओं—विषयवासनाओं से निःस्पृह पूर्णरूपेण मुक्त हो जाता है, उस काल में वह योगारूढ़ कहलाता है ॥ १८ ॥

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥ १९ ॥

जैसे वायुरहित स्थान में रखा हुआ दीपक विचलित-कम्पित नहीं होता, वैसे ही आत्मज्ञान के अभ्यास करनेवाले योगियों के निगृहीत चित्त की अर्थात् ब्रह्मात्मभाव से युक्त चित्त की स्थिति ब्रह्म में समाहित होने पर बताई गई है । तात्पर्य यह है कि उस काल में विषयवात का अभाव तथा अविचल ब्रह्म का भाव होने के कारण चित्त भी ब्रह्मस्वरूप होकर ब्रह्म में अविकल्प—निर्विकल्प रूप से स्थित रहता है । जैसा श्रुति भी कहती है—

'स्वानुभूति रसावेशाद्दृश्यशब्दाद्युपेक्षितुः ।
निर्विकल्पः समाधिः स्यान्निवातस्थित दीपवत् ।'
[स० र० उ० २८, २९]

'प्रमाणशून्यं मनः शून्यं बुद्धिशून्यं चिदात्मकम् ।
अतद्व्यावृत्तिरूपोऽसौ समाधिर्मुनि भावितः ॥

ऊर्ध्वपूर्णमधःपूर्णं मध्यपूर्णं शिवात्मकम्।
साक्षाद्विधिमुखो ह्येष समाधिः पारमार्थिकः ॥''[1]
[मुक्ति० उ० २।५५, ५६]

स्वानुभूतिरस के आवेश से दृश्य और शब्दादि की उपेक्षा करनेवाले साधक के हृदय में वायुशून्य प्रदेश में रखे हुए दीपक की भाँति अविचल निर्विकल्प समाधि होती है। उस अवस्था में कुछ भी भान नहीं होता, क्योंकि उस काल में मन एवं बुद्धि का अस्तित्व ही नहीं रहता, केवल चैतन्य सत्ता की ही स्थिति होती है। इस अवस्था में चित्त भी आलंबनशून्य कैवल्यावस्था में रहता है। इस अवस्था में ऊपर नीचे, तथा मध्य में सर्वत्र शिव सत्ता का ही अनुभव होता है ॥ १९ ॥

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ २० ॥

जब—

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' [यो० सू० १।२]

योगाभ्यास की प्रचुरता से अर्थात् सर्वत्र ब्रह्मदर्शन से विजातीय प्रत्ययों से निरुद्ध किया हुआ चित्त—

'दृश्यासंभवबोधेन' [मा० उ० ४।६२]

दृश्य-प्रपञ्च का आत्यन्तिक अभाव देखने के कारण अनात्मविषयों से सर्वथा उपरत होकर ध्याता, ध्यान के संबंध से रहित केवल ध्येयाकार-ब्रह्माकार हो जाता है, उस काल में मुमुक्षु रज-तम से रहित अपने विशुद्धान्तःकरण में चिदाकार रूप की बुद्धि वृत्ति पर आरूढ़ अद्वितीय सच्चिदानन्दघन परब्रह्म को स्वस्वरूप से देखता—साक्षात्कार करता हुआ—

'स मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा' [क० उ० १।२।१३]

मुदित—सन्तुष्ट हो जाता है ॥ २० ॥

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ २१ ॥

---

१. यह परमार्थ समाधि साक्षात् ब्रह्मा के मुख से उपदिष्ट है।

इस प्रकार जिस अवस्था विशेष में जीवन्मुक्त सूक्ष्मदर्शी योगी—

'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः'
[क० उ० १।३।१२]

केवल सूक्ष्मबुद्धि—आत्माकार वृत्ति से ग्राह्य, इन्द्रिय और विषयों के संबंध से रहित इन्द्रियातीत अवर्णनीय—

'भूमैव सुखम्' [छा० उ० ७।२३।१]

आत्यन्तिक—अक्षय भूमा सुख को स्वात्मानन्दरूप से जानकर सच्चिदानन्दैकरस स्वरूप परमात्मतत्त्व से कभी भी चलायमान—विचलित नहीं होता अर्थात्—

'चैत्यवर्जित चिन्मात्रे पदे परमपावने।[1]
अक्षुब्धचित्तोविश्रान्तः स जीवन्मुक्त उच्यते॥'
[म० उ० ४।२६]

चैत्यरहित परम पावन चिन्मात्र पद में अक्षुब्ध चित्त होकर सदैव विश्राम करता है ॥ २१ ॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥ २२ ॥

तथा जिस—

'स्वस्थं शान्तं सनिर्वाणमकथ्यं सुखमुत्तमम्।[2]
अजमजेन ज्ञेयेन सर्वज्ञं परिचक्षते॥'
[माण्डू० का० ३।४७]

'आत्मलाभान्न परं विद्यते'[3] [स्मृति]

---

१. चैत्य-दृश्यरहित चिन्मात्र परमपावन पद में जो निश्चलचित्त, शांत हो गया है, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है।

२. ब्राह्मी अवस्था में जो आनन्द प्राप्त होता है, उसको ब्रह्मवेत्ता लोग स्वस्थ, शान्त, निर्वाणयुक्त, अकथनीय, अत्यन्त सुखस्वरूप, अज, अजज्ञेय ब्रह्म से अभिन्न और सर्वज्ञ बतलाते हैं।

३. आत्मलाभ से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है।

अजन्य, स्वस्थ, शान्त, अवर्णनीय निरतिशय सुखस्वरूप आत्मा को निर्विकल्प समाधि के द्वारा प्राप्त करके अन्य किसी अनात्मविषयक लाभ को आत्मा से श्रेष्ठ नहीं मानता अर्थात् जो अपने को आत्मलाभ से ही कृतकृत्य—तृप्त समझता तथा जिस ब्रह्म-सुख में स्थित होकर अर्थात् सबको ब्रह्ममात्र देखने वाला होकर—

'अक्षुब्धा निरहंकारा द्वन्द्वेष्वननुपातिनी।'
प्रोक्ता समाधि शब्देन मेरोः स्थिरतरा स्थितिः॥[1]
[अन्न० उ० १।४६]

क्षोभ रहित, निरहंकार और द्वन्द्वातीत समाविस्थ पुरुष खड्गपात तथा आध्यात्मिकादि महान् दुःखों से भी विचलित नहीं किया जा सकता, फिर क्षुद्र दुःखों से कहना ही क्या ? ॥ २२ ॥

तं विद्याद्दुःख संयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ २३ ॥

उस—

'संयोगं योगमित्याहुर्जीवात्मपरमात्मनोः'
[यो० शा०]

आनन्दस्वरूप जीवात्मा और परमात्मा के संयोग रूपी योग को दुःखों के संयोग का वियोग ही समझो अर्थात् जैसे सूर्योदयमात्र से अन्धकार का अभाव हो जाता है, वैसे ही योग—ब्रह्मात्मैक्यदर्शन से दुःखों—भवतापों का आत्यन्तिक अभाव हो जाता है। इसलिये ऐसे महान् फलप्रदायक योग को निश्चित रूप से अत्यन्त धैर्य और प्रसन्नता के साथ आलस्य, प्रमाद तथा खिन्नता से रहित होकर साधने का प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि—

'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' [श्वे० उ० ६।१५]

दुःखों के नाश का इससे भिन्न अन्य कोई उपाय नहीं है ॥ २३ ॥

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥ २४ ॥

---

१. क्षोभ रहित, अहंकारशून्य और राग द्वेषादि द्वन्द्वों से रहित मेरु से भी स्थिरतर मन की स्थिति समाधि शब्द से कही जाती है।

संकल्प से उत्पन्न—

'इच्छामात्रमविद्येयं तन्नाशो मोक्ष उच्यते'
[म० उ० ४।११६]

कामनाओं—इच्छाओं को अविद्या, बन्धन का हेतु तथा उसके नाश को मोक्ष समझकर कामनाओं को संपूर्णता से त्यागकर अर्थात्—

'संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसंभवाः'[1]
[म० स्मृ० २।३]

'काम जानामि ते मूलं संकल्पात्त्वं हि जायसे ।[2]
न त्वां संकल्पयिष्यामि तेन मे न भविष्यसि ॥'
[महा० शा० १७७।२५]

'संकल्पमात्र संभवो बन्धः'[3] [नि० उ० १४६]

'निःसंकल्पाद्विमुच्यते' [म० उ० २।७०]

कामनाओं के मूल संकल्पों का निःशेषतः त्याग करके—

'संयमेच्चेन्द्रियग्राममात्मबुद्ध्या विशुद्धया'[4]
[त्रि० ब्रा० उ०]

मन से अर्थात् विवेक, वैराग्य युक्त विशुद्ध आत्मबुद्धि से चक्षु आदि इन्द्रिय समूह को सब विषयों से संयम में करके आत्मचिन्तन के परायण हो ॥ २४ ॥

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥ २५ ॥

धीरे-धीरे अभ्यासपूर्वक भूमिकात्रय के जय के द्वारा—

---

१. कामना का मूल संकल्प ही होता है और यज्ञ संकल्प से ही होते हैं ।

२. हे काम ! मैं तेरे मूलकारण को जानता हूँ, तू निश्चित रूप से संकल्प से ही उत्पन्न होता है । मैं तेरा संकल्प नहीं करूँगा, इसलिये तू मुझे नहीं होगा ।

३. संकल्पमात्र की उत्पत्ति ही बन्धन है ।

४. विशुद्ध आत्मबुद्धि के द्वारा इन्द्रिय समूह का संयम करे ।

'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया'
[म० उ० १।३।१२]

कुशाग्र, सूक्ष्म एवं सात्त्विक धैर्ययुक्त बुद्धि से मन को विषयों से उपरत करके तथा—

'भेददृष्टिरविद्येयं सर्वथा तां विसर्जयेत्'
[क० उ० ५।११३]

'अनित्याशुचिदुःखानात्मसुनित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या'
[यो० सू० २।५]

भेददृष्टि अथवा अनित्य, अशुचि दुःख और अनात्म पदार्थों में नित्य, शुचि, सुख एवं आत्मापन की भ्रांति को अविद्या, जन्म मृत्यु का हेतु समझकर उसका सर्वथा त्याग करके तथा—

'सर्वं ब्रह्मेति यस्यान्तर्भावना सा हि मुक्तिदा'
[म० उ० ५।११३]

'सब कुछ ब्रह्म ही है' इस अन्तर्दृष्टि को मुक्तिप्रद समझकर मन को आत्म-संस्थ आत्मा में स्थित करके—

'सर्वमिदमहं च ब्रह्मैव'

'यह सब और मैं ब्रह्म ही हूँ'—

'मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति' [गी० ७।७]

'मुझसे भिन्न अणुमात्र भी नहीं है' ऐसा अभेद चिन्तन करे, कभी भी भेदोत्पादक अनात्मवस्तु का चिन्तन न करे ॥ २५ ॥

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ २६ ॥

विषय-वासनाओं तथा रागादि से ग्रस्त होने के कारण यह चञ्चल और अस्थिर मन जिस जिस शब्दादि विषय के प्रति आत्मा का त्याग करके जाय, उस उस विषय से उसको रोककर अर्थात्—

'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' [श्रुति]

परमात्मा सत्, चित् आनन्द स्वरूप है और जगत् असत् जड़, दुःखस्वरूप है इससे केवल दुःख की ही प्राप्ति होती है।

'चित्ते चलति संसारो निश्चले मोक्ष उच्यते'

[यो० शि० उ० ६।५८]

'सर्वं ब्रह्मेति यस्यान्तर्भावना सा हि मुक्तिदा।
भेददृष्टिरविद्येयं सर्वथा तां विसर्जयेत् ॥'

[म० उ० ५।११३]

'चित्त—मन का चञ्चल होना ही संसार है और उसकी निश्चलता को ही मोक्ष कहते हैं', 'सब कुछ ब्रह्म है' ऐसी जिसकी अन्तर्भावना है वही मुक्तिदा है। भेददृष्टि अविद्या है, इसलिए इसका सर्वथा परित्याग कर देना चाहिये। क्योंकि—

'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवंतः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥'

[गी० ५।२२]

'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन'

[गी० ८।१६]

'इन्द्रियों के संस्पर्श से भोग दुःख की यानि तथा आदि-अंतवाले मिथ्या हैं, इनमें बुध—ज्ञानीजन रमण नहीं करते।' 'ब्रह्मलोक तक सब भुवन पुनरावर्ती—विनश्वर हैं' इस प्रकार वैराग्य से युक्त होकर—

'एकं ब्रह्म चिदाकाशं सर्वात्मकमखण्डितम्।
इति भावय यत्नेन चेतश्चाञ्चल्यशान्तये ॥'

[म० उ० ५।५६]

एक अद्वितीय, चिदाकाशस्वरूप, सर्वात्मक और अखंड ब्रह्म का ही मन की चञ्चलता की शान्ति के लिए प्रयत्नपूर्वक नित्य-निरन्तर भावना करनी चाहिए। अथवा—

'यत्र यत्र मनो याति ब्रह्मणस्तत्र दर्शनात्'

[ते० बि० उ० १।३५]

'दृष्टिं ज्ञानमयीं कृत्वा पश्येद्‌ब्रह्ममयं जगत्'

[ते० बि० उ० १।२६]

यह चञ्चल मन जहाँ जहाँ विषयों में जाय, वहाँ वहाँ ब्रह्मदर्शन के द्वारा अर्थात् 'सब कुछ ब्रह्म ही है' इस दिव्य दृष्टि के द्वारा इसको वश में करना चाहिए। अथवा—

'उपायेन निगृह्णीयाद्विक्षिप्तं कामभोगयोः।
सुप्रसन्नं लये चैव यथा कामो लयस्तथा॥
दुःखं सर्वमनुस्मृत्य कामभोगान्निवर्तयेत्।
अजं सर्वमनुस्मृत्य जातं नैव तु पश्यति॥'
[माण्डू० का० ३।४२,४३]

काम और भोगों में विक्षिप्त चित्त का प्रयत्नपूर्वक निग्रह करे और लयावस्था में अति प्रसन्नता को प्राप्त हुए चित्त का निरोध करे, क्योंकि जैसा हानिप्रद काम है वैसा ही लय भी है। 'समस्त द्वैत-प्रपञ्च दुःख रूप है'—ऐसा निरन्तर स्मरण करते हुए कामजनित भोगों से चित्त को निवृत्त करे। इस भाँति सर्वदा सबको अज ब्रह्मस्वरूप स्मरण करता हुआ फिर कोई जातपदार्थ नहीं देखता।

'लये संबोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः।
सकषायं विजानीयात्समप्राप्तं न चालयेत्॥
नास्वादयेत्सुखं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत्।
निश्चलं निश्चरच्चित्तमेकी कुर्यात्प्रयत्नतः॥'
[माण्डू० का० ३।४४, ४५]

जब चित्त सुषुप्ति में लीन होने लगे, तब उसे आत्मचिन्तन में प्रयुक्त करे, यदि विक्षिप्त हो जाय तो उसे पुनः शांत करे और यदि इन दोनों की मध्यावस्था में रहे तो उसे सकषाय—रागयुक्त समझे। तथा साम्यावस्था को प्राप्त हुए चित्त को चञ्चल न करे।

उस साम्यावस्था में प्राप्त सुख का रसास्वादन न करे, अपितु विशुद्ध बुद्धि के द्वारा उससे असंग रहे। पुनः यदि चित्त बाहर निकलने लगे तो उसे प्रयत्नतः निश्चल और एकाग्र करे।

'यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः।
अनिङ्गनमनाभासं निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा॥'
[माण्डू० का० ३।४६]

जब चित्त सुषुप्ति में लीन न हो और पुनः विक्षिप्त भी न हो तथा निश्चल और विषयाभास से रहित हो जाय, तब वह ब्रह्मरूप ही हो जाता है। *इस प्रकार सर्वात्मदर्शन से वश में किया हुआ मन स्वयं निर्विकल्पावस्था* को प्राप्त कर जाता है ॥ २६ ॥

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ २७ ॥

इस प्रकार सतत् आत्मचिन्तन के द्वारा जिसका मन पूर्णतया शान्त निर्विषयिक हो गया है तथा जिसका रजोगुण—राग भी शान्त हो चुका है *अर्थात् जो केवल सत्त्वगुण संपन्न निष्पाप है, वह—*

'न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलो यतिः।[1]
न वाक्चपलश्चैव ब्रह्मभूतो जितेन्द्रियः ॥'
[या० उ० १८]

पाणि, पाद, नेत्र और वाक् की चपलता से रहित—

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा'
[*श्री० भा०* २।६।३५]

अन्वय-व्यतिरेक दृष्टि से ब्रह्म से भिन्न कुछ न देखनेवाला प्रशान्त अन्तःकरण जितेन्द्रिय ब्रह्मभूत यति साधन की अपेक्षा से रहित स्वरूपभूत सच्चिदानन्दघन ब्रह्म के अनुत्तम—सर्वोत्तम नित्य निरतिशय अक्षयसुख को प्राप्त होता है। जैसा श्रुति भी कहती है—

'तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्'
[क० उ० २।२।१२]

जो धीर-विवेकी पुरुष हृदयस्थ आत्मतत्व को देखते हैं, उन्हीं को नित्य सुख प्राप्त होता है, इतर अधीर-अविवेकी अनात्मदर्शी को नहीं ॥ २७ ॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥

---

१. ब्रह्मभूत जितेन्द्रिय यति हाथ-पैर की चपलता से रहित, नेत्र की *चपलता से रहित तथा वाणी की चपलता से रहित शांत होता है।*

इस प्रकार विवेक-वैराग्य युक्त द्वैत-दर्शनरूप कल्मष से रहित निष्पाप विशुद्धसत्त्व बहिरंग एवं अन्तरंग साधन-संपन्न महात्मा सदा मन को परमात्मा में जोड़ता हुआ अर्थात्—

'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति'

[छा॰ उ॰ ७।२४।१]

आत्मतत्त्व से भिन्न कुछ न देखता, सुनता एवं समझता हुआ केवल स्वरूपानुसंधान के द्वारा सुखपूर्वक अनायास ही स्वतःसिद्ध स्वरूपभूत सच्चिदानन्दघन ब्रह्म के निरतिशय—अक्षयसुख को भोगता है अर्थात्

'जीवन्नेव सदा मुक्तः कृतार्थो ब्रह्मवित्तमः'

[आ॰ उ॰ २०]

वह कृतार्थ ब्रह्मवित्तम जीता हुआ ही सदा मुक्त होकर मोक्ष-सुख का अनुभव करता है ॥ २८ ॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २९ ॥

योगयुक्त—ब्रह्मभाव से युक्त समाहित अन्तःकरण सर्वत्र समदर्शन करने वाला योगी ब्रह्मात्मैक्य दृष्टि से—

'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
संपश्यन्ब्रह्म परमं याति नान्येन हेतुना ॥'

[कै॰ उ॰ १।१०]

ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त अध्यस्त सर्वभूतप्राणियों में स्थित अधिष्ठानस्वरूप अपनी आत्मा को देखता है और अधिष्ठानस्वरूप आत्मतत्त्व में अध्यस्त सर्वभूतप्राणियों को देखता है। अर्थात् जैसे जल की दृष्टि से तरंग जलमात्र है, मिट्टी की दृष्टि से घट मिट्टीमात्र है और शुक्ति की दृष्टि से रजत शुक्तिमात्र है, वैसे ही—

'उपादानं प्रपञ्चस्य ब्रह्मणोऽन्यन्न विद्यते ।
तस्मात्सर्वप्रपञ्चोऽयं ब्रह्मैवास्ति न चेतरत् ॥'

[यो॰ शि॰ उ॰ ४।३]

अधिष्ठान ब्रह्मदृष्टि से सर्वभूत प्राणी भी ब्रह्म ही है।

'न प्रत्यग्ब्रह्मणोर्भेदं कदापि ब्रह्मसर्गयोः ।[1]
प्रज्ञया यो विजानाति स जीवन्मुक्त उच्यते ॥'
[अ० उ० ४६]

लेशमात्र भी आत्मा, परमात्मा और जगत् में अन्तर नहीं है। इस प्रकार ब्रह्मदर्शी सर्वत्र समब्रह्मसत्ता को देखता है ॥ २६ ॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ३० ॥

इस प्रकार जो विशुद्धान्तःकरण सर्वात्मदर्शी—

'मामेव सर्वभूतेषु बहिरन्तरपावृतम् ।[2]
ईक्षेतात्मनि चात्मानं यथा खममलाशयः ॥'
[श्री० भा० ११।२९।१२]

मुक्त सर्वभूतान्तरात्मा सच्चिदानन्दघन ब्रह्म को आकाशवत् परिपूर्ण एवं आवरणशून्य अपने में तथा सर्वभूतप्राणियों में स्थित देखता है और सर्वभूत-प्राणियों को मुक्त सच्चिदानन्दघन ब्रह्म में देखता है अर्थात् जो—

'न प्रत्यग्ब्रह्मणोर्भेदं कदापि ब्रह्मसर्गयोः'
[अ० उ० ४६]

मुझमें और भूतप्राणियों में अभेद देखता है। तात्पर्य यह है कि—

'अधिष्ठानं समस्तस्य जगतः सत्यचिद्घनम् ।[3]
अहमस्मीति निश्चित्य वीतशोको भवेन्मुनिः ॥'
[क० रु० उ० ४८]

---

१. जो आत्मा-परमात्मा एवं आधार-आधेय, कारण-कार्य आदि के रूप में प्रतीत होनेवाले ब्रह्म और जगत् में निर्विकल्प चिन्मात्र बुद्धि के द्वारा भेद नहीं जानता है, उसे जीवन्मुक्त कहते हैं।

२. विशुद्धान्तःकरण पुरुष आकाश की भाँति बाहर-भीतर व्यास एवं निरावरण मुक्त परमात्मा को ही सम्पूर्ण भूतप्राणियों में तथा अपने अन्तःकरण में स्थित देखे।

३. संपूर्ण जगत् का अधिष्ठानसत्यस्वरूप चिद्घन परमात्मा है। मुनिजन उसे 'मैं परमात्मा ही हूँ' इस प्रकार निश्चय करके शोक रहित हो जाते हैं।

जो समदर्शी समस्त जगत् के अधिष्ठान सच्चिदानन्दघन ब्रह्म को आत्मरूप से जान लेता है उस एकत्वदर्शी—

'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः'

[गी० ७।१७]

'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' [गी० ७।१८]

अतिप्रिय आत्मस्वरूप ज्ञानी के लिये मैं परमानन्द स्वरूप ब्रह्म कभी भी अर्थात् चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते; सोते जागते सर्वत्र कभी भी किसी भी अवस्था में अदृश्य नहीं होता हूँ और न वह मुझसे ही कभी किसी अवस्था में अदृश्य होता है।

अभिप्राय यह है कि मैं परमात्मा—

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' [गी० ४।११]

[के सिद्धान्त से] सर्वात्मदर्शी के लिये सर्वात्मरूप से सर्वत्र स्थित रहता हूँ ॥ ३० ॥

सर्वभूत स्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ ३१ ॥

इस प्रकार जो अभेददर्शी अध्यस्त सर्वभूतप्राणियों में स्थित मुझ—

'एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन'

[अ० उ० ६३]

एक अद्वितीय अधिष्ठानस्वरूप सच्चिदानन्दघन ब्रह्म को—

'अहमेवेदं सर्वम्' [छा० उ० ७।२५।१]

'सर्वमिदमहं च ब्रह्मैव'

'यह सब मैं ही हूँ', 'यह सब और मैं ब्रह्म ही हूँ' इस अभेददृष्टि से भजता है अर्थात् जैसे मृत्तिका में कुंभ का एवं तन्तु में पट का अभाव है, वैसे ही मुझ सर्वाधिष्ठानस्वरूप ब्रह्म में अध्यस्त जगत् का अभाव देखता है।

अथवा जैसे—

'घटनाम्ना यथा पृथ्वी पटनाम्ना हि तन्तवः ।
जगन्नाम्ना चिदाभाति सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥'

[यो० शि० उ० ४।१७,१८]

घट नाम से पृथ्वी और पट नाम से तन्तु भासता है, वैसे ही जगत् नाम से ब्रह्म ही भास रहा है। इस—

'अन्वय व्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा'

[श्री० भा० २।६।३५]

अन्वय-व्यतिरेक दृष्टि से जो सर्वत्र निर्गुण ब्रह्मसत्ता को ही देखता, सुनता एवं समझता है, वह—

'निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः'[1]

गुणातीत ब्रह्मपथ पर विचरनेवाला विधि-निषेधातीत-सर्वात्मदर्शी पुरुष लोकदृष्टि से प्रारब्धानुसार विधि-निषेधात्मक सब प्रकार के कर्मों को करता हुआ भी अंतर्दृष्टि से मुझ वासुदेव से भिन्न कुछ न होने के कारण मुझ वासुदेव में ही वर्तता है अर्थात् अक्रिय ही रहता है।

अभिप्राय यह है कि वह कर्मबंधन से रहित नित्यमुक्त मुझमें स्थित वासुदेव ही है ॥ ३१ ॥

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ ३२ ॥

जो—

'आत्मवत्सर्वभूतानि पश्यन्' [ना० प० उ० ४।२१]

आत्मवत् सर्वभूतों को समझकर अर्थात्—

'प्राणा यथाऽऽत्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा ।
आत्मौपम्येन भूतेषु दयां कुर्वन्ति साधवः ॥'

[स्मृति]

---

१. गुणातीत ब्रह्मपथ पर विचरनेवाले पुरुष के लिये क्या विधि और क्या निषेध ?

जैसे प्राण अपने को अभीष्ट प्रिय है वैसे ही सर्वभूतों को भी अभीष्ट-प्रिय है, इस नियम से जो अपनी सदृशता से सर्वभूतप्राणियों के सुख-दुःख को सर्वत्र समरूप से देखता है अर्थात् जैसे मुझे सुख प्रिय है और दुःख अप्रिय है वैसे ही सर्वप्राणियों को भी सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है' ऐसा समझ कर जो अहिंसक कभी भी किसी प्राणी को शरीर, वाणी और मन से व्यथित-दुःखी नहीं करता; किन्तु सब पर दया ही करता है, वह सर्वत्र स्वरूपदर्शी पुरुष—

'ब्रह्मविदां वरिष्ठः' [मु० उ० ३।१।४]

अन्य सब योगियों में श्रेष्ठतम है ॥ ३२ ॥

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥ ३३ ॥

हे मधुसूदन ! आपने जो यह साम्यदर्शन रूप परमयोग कहा है, उसकी अचल स्थिति मन के चञ्चल होने के कारण नहीं देखता हूँ; क्योंकि यह एक क्षण भी योग में स्थित नहीं होता, प्रयत्न करने पर भी संसार का ही चिन्तन करता है, जो जन्म-मृत्यु का हेतु है ॥ ३३ ॥

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ ३४ ॥
'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृत्तिवाचकः।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ॥'
[गो० पू० उ० १।१]

'कृषि' [भूवाचक [सत्तावाचक] शब्द है और 'ण' आनन्दवाचक—उन दोनों का ऐक्य परब्रह्म कृष्ण कहा जाता है।' ऐसे सच्चिदानन्दघन परब्रह्म श्री कृष्णचन्द्र से अर्जुन बोला—हे कृष्ण ! यह मन बड़ा ही चंचल, प्रमथन स्वभाव वाला—

इंद्रिय तथा बुद्धि को विषय वासनाओं के द्वारा मथकर अपने वश में कर लेता है और विवेक-बुद्धि को नष्ट कर देता है। यह दृढ़ इतना है कि इसपर ब्रह्मास्त्र का भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता, सारे ब्रह्माण्ड पर अधिकार जमाये बैठा है।

'तं दुर्जयं शत्रुमसह्यवेगम्' [श्री० भा० ११।२३।४६]

सचमुच यह बहुत बड़ा प्रबल शत्रु है, इसका आक्रमण असह्य है। यह बाहरी शरीर को ही नहीं, बल्कि हृदयादि मर्म स्थानों को भी छेदता रहता है। इसलिये मैं इसका निग्रह—वश में करना वायु की तरह अति कठिन समझता हूँ।

अभिप्राय यह है कि—

'अप्यब्धिपानान्महतः सुमेरून्मूलनादपि ।
अपि वह्न्यशनाद्ब्रह्मन्विषमश्चित्त निग्रहः ॥'

[म० उ० ३।२०]

समुद्र के पान से महान्, सुमेरु पर्वत के उखाड़ने से तथा अग्नि के भक्षण से भी मन-चित्त का रोकना कठिन है। इसलिए हे सर्वज्ञ! आप कोई ऐसा उत्तम उपाय बतलाइये जिससे यह सब अनर्थों का मूल मन वश में हो जाय ॥ ३४ ॥

श्री भगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ ३५ ॥

इस पर भगवान् श्री कृष्ण बोले—हे महाबाहो! सचमुच यह मन बड़ा ही चञ्चल और कठिनता से वश में होनेवाला है, परन्तु—

'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः'

[यो० सू० १।१२]

अभ्यास एवं वैराग्य के द्वारा इसको वश में किया जा सकता है। जैसा श्रुति भी कहती है—

'न शक्यते मनो जेतुं विना युक्तिमनिन्दिताम् ।
अंकुशेन विना मत्तो यथा दुष्ट मतङ्गजः ॥

अध्यात्म विद्याधिगमः साधुसंगतिरेव च।
वासना संपरित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम् ॥
एतास्ता युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तजये किल।
सतीषु युक्तिष्वेतासु हठान्नियमयन्ति ये ॥
चेतसो दीपमुत्सृज्य विचिन्वन्ति तमोऽञ्जनैः ॥'
[मुक्ति० उ० २।४२-४६]

जैसे दुष्ट मदमत्त हाथी अंकुश के बिना वश में नहीं होता, वैसे ही अनिन्दित—शास्त्रीय युक्ति के बिना मन को जीतना संभव नहीं। अतः उसको वश में करने के लिये अध्यात्म विद्या का ज्ञान, सत्संगति, वासनाओं का परित्याग तथा प्राण का निरोध अर्थात् प्राणायाम—ये चित्त को जीतने में निश्चित शास्त्रीय प्रबल उपाय हैं। इन श्रेष्ठ युक्तियों के रहते हुये भी जो अन्य उपायों से हठपूर्वक चित्त को निरुद्ध करने की चेष्टा करते हैं, वे दीपक को छोड़कर अन्धकार में भटकते हैं। क्योंकि—

"मनसो विजयान्नान्या गतिरस्ति भवार्णवे"
[म० उ० ५।७६]

मन के विजय से भिन्न भवसागर को तरने की अन्य कोई गति नहीं है।

इसी प्रकार

"तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम्।
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः ॥"
[यो० वा०]

सच्चिदानन्दघन ब्रह्म के चिन्तन, उसी के कथन, उसी के परस्पर बोधन तथा उस एक अद्वितीय सत्ता के निरन्तर परायण रहने रूप ब्रह्माभ्यास से—

अथवा—

"सर्गादावेव नोत्पन्नं दृश्यं नास्त्येव तत्सदा।
इदं जगदहं चेति बोधाभ्यासं विदुः परम् ॥"
[यो० वा०]

यह दृश्य जगत् और मैं सृष्टि के आदि काल में ही उत्पन्न नहीं हुआ और न त्रिकाल में ही है—इस श्रेष्ठ ब्रह्माभ्यास से—

अथवा

अत्यन्ताभावसंपत्तौ ज्ञातुर्ज्ञेयस्य वस्तुनः।
युक्त्या शास्त्रैर्यतन्ते ये तेऽप्यत्राभ्यासिनःस्थिताः॥"
[यो० वा०]

ज्ञाता और ज्ञेय वस्तु के अत्यन्ताभाव की प्रतीति के लिये शास्त्र तथा युक्ति के द्वारा सतत अभ्यास से—

अथवा

"दृश्यासंभवबोधेन रागद्वेषादितानवे।
रतिर्नवोदिता याऽसौ ब्रह्माभ्यासः स उच्यते॥"
[यो० वा०]

दृश्य के असंभव बोध से राग-द्वेष के पूर्णतया क्षीण हो जाने पर विषयों में रति के उदय न होने रूप ब्रह्माभ्यास से—

"स्वात्मन्येव सदा स्थित्या मनो नश्यति योगिनः।
युक्त्या श्रुत्या स्वानुभूत्या ज्ञात्वा सार्वात्म्यमात्मनः॥"
[अ० उ० ४]

योगियों का मन परावरैकत्वविज्ञान रूप स्वानुभव से पूर्णरूपेण सम्पन्न हो आत्मा के सर्वात्मत्व को जानकर अपने स्वरूप में सदा स्थित होकर अर्थात् अपने को ही सर्वत्र देखता, सुनता एवं समझता हुआ नष्ट हो जाता है। क्योंकि—

"यावद्विलीनं न मनो न तावद्वासना क्षयः।
न क्षीणा वासना यावच्चित्तं तावन्न शाम्यति॥
यावन्न तत्त्वविज्ञानं तावच्चित्त शमः कुतः।
यावन्नचित्तोपशमो न तावत्तत्त्ववेदनम्॥
यावन्न वासनानाशस्तावत्तत्त्वा गमः कुतः।
यावन्न तत्त्वसंप्राप्तिर्न तावद्वासना क्षयः॥"
[अन्न० उ० ४।७८-८०]

जब तक मन का विलय अर्थात् मनोनाश नहीं होता, तब तक वासनाओं का क्षय नहीं होता, वैसे ही जब तक वासनायें क्षीण नहीं होती, तब तक

चित्त भी शांत नहीं होता। तथा जब तक तत्त्व ज्ञान नहीं होता तब तक चित्त की शांति कहाँ? जब तक चित्त की शांति नहीं तब तक तत्त्व ज्ञान भी नहीं होता है। जब तक वासना का क्षय नहीं होता तब तक तत्त्व ज्ञान की प्राप्ति कहाँ से हो सकती है? वैसे ही जब तक तत्त्वज्ञान नहीं होता तब तक वासना का भी क्षय नहीं होता है। फिर वासना नाश का दूसरा प्रकार बताया जा रहा है।

"असङ्गव्यवहारत्वाद्भवभावन वर्जनात्।
शरीरनाशदर्शित्वाद्वासना न प्रवर्तते॥
वासनासंपरित्यागाच्चित्तं गच्छत्यचित्तताम्॥"

[मुक्ति० उ० २।२८]

अनासक्त होकर व्यवहार करने से, संसार का चिन्तन छोड़ देने से अर्थात् आत्मचिन्तन करने से और शरीर की विनश्वरता का दर्शन करते रहने से, वासना उत्पन्न नहीं होती और वासना का भलीभाँति त्याग हो जाने पर चित्त अचित्तता को प्राप्त होता है अर्थात् उसकी वासनात्मिका प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है।

'अवासनत्वात्सततं यदा न मनुते मनः।
अमनस्ता तदोदेति परमोपशमप्रदा॥'

[मुक्ति० उ० २।२९]

इस प्रकार सतत निर्वासनिक होने से जब मन का मनस्त्व नष्ट हो जाता है, तब उस काल में परम शान्ति प्रदान करनेवाली अमनी अवस्था उदय होती है, जिसको साक्षी अवस्था भी कहते हैं।

अब वैराग्य के द्वारा मन को वश में करने का उपाय बताया जा रहा है।

'त्वङ्मांसरुधिर स्नायुमज्जामेदोस्थि संहतौ।
विण्मूत्रपूये रमतां क्रिमीणां कियदन्तरम्॥
क्व शरीरमशेषाणां श्लेष्मादीनां महाचयः।
क्वाङ्गशोभा सौभाग्य कमनीयादयो गुणाः॥
मांसासृक्पूयविण्मूत्रस्नायु मज्जास्थि संहतौ।
देहे चेत्प्रीतिमान्मूढो भविता नरकेऽपि सः॥'

[ना० प० उ० ४।२६-२८]

चमड़ा, मांस, रक्त, नाड़ी, मज्जा, मेद और हड्डियों के समूहरूप इस शरीर में रमण करनेवाले पुरुषों तथा मल-मूत्र एवं पीव में रमण करनेवाले कीड़ों में कितना अंतर है? कहाँ संपूर्ण कफादि घृणित वस्तुओं की महाराशि रूप यह शरीर और कहाँ अंगशोभा, सौन्दर्य और कमनीय तादि गुण। जो मूर्ख मांस रक्त, पीव, विष्ठा, मूत्र, नाड़ी, मज्जा और हड्डियों के समुदायरूप इस शरीर में प्रीति करता है, उसकी नरक में भी अवश्य प्रीति होगी।

'स्वदेहाशुचिगन्धेन न विरज्येत यः पुमान्।[1]
विरागकारणं तस्य किमन्यदुपदिश्यते॥'
[मुक्ति० उ० २।६६]

'मातापित्रोर्मलोद्भूतं मलमांस मयं वपुः।
त्यक्त्वा चाण्डालवद्दूरं ब्रह्मभूय कृतीभव॥'
[अ० उ० ६]

माता-पिता के मल से सृष्ट इस मलमांसमय दुर्गन्धित शरीर को चाण्डालवत् दूर से ही त्याग कर ब्रह्मभूत हो जा अर्थात सर्वात्मदर्शन करके कृतकृत्य हो जा—

'विरज्यसर्वभूतेभ्य आविरिञ्चिपदादपि।
घृणां विपाट्य सर्वस्मिन्पुत्रमित्रादिकेष्वपि॥'
[ना० प० उ० ६।१६]

कल्याणकामी पुरुष संपूर्ण ब्रह्माण्ड को बंधन का हेतु समझकर घृणा को प्राप्त कर ब्रह्मलोक तक सर्वभूतों से विरक्त हो जाय, स्त्री, पुत्र, धनादि किसी से भी प्रेम न करे, केवल मोक्ष के ही साधन में तत्पर रहे।

इस प्रकार—

'संसार दोषदृष्ट्यैव विरक्तिर्जायते सदा।
विरक्तस्य तु संसारात्संन्यासः स्यान्न संशयः॥'
[ना० प० उ० ६।२७]

---

१. जो पुरुष अपने देह के अशुचि गन्ध से वैराग्य को नहीं प्राप्त होता, उसको वैराग्योत्पादक अन्य कौन सा उपदेश दिया जा सकता है।

विनश्वर संसार के दोष को बार-बार देखने से अर्थात् जन्म-मृत्यु, जरा व्याधिग्रस्त व्यष्टि-समष्टि शरीर के दोषों को देखने से विरक्ति उत्पन्न होती है और जो संसार से विरक्त हो जाता है, वही निश्चित रूप से संन्यास को प्राप्त करता है। इस प्रकार सर्वात्मदर्शन के अभ्यास और वैराग्य के द्वारा मन को वश में कर लेना चाहिये। क्योंकि—

"तावन्मनो निरोधव्यं हृदि यावद्गतं क्षयम्।[1]
एतज्ज्ञानं च मोक्षं च शेषान्ये ग्रन्थविस्तराः॥"
[मैत्रा० उ० ६।२४]

मन का निरुद्ध हो जाना ही ज्ञान और मोक्ष है, शेष केवल ग्रन्थ का विस्तार मात्र है।

देखो, जितना ही परमात्मचिन्तन का अभ्यास होगा उतना ही वैराग्य होगा और जितना ही वैराग्य होगा उतना ही परमात्मचिन्तन का अभ्यास होगा। इसका फल होगा कैवल्य, जिसकी प्राप्ति पर—

"तत्र को मोहः कः शोक" [ई० उ० ७]

शोक-मोह पूर्णतया नष्ट हो जाते हैं॥ ३५॥

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥ ३६॥

परन्तु जो—

'नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥'
[क० उ० १।२।२४]

दुश्चरित्रता से विरत नहीं हुआ है, तथा जिसकी इन्द्रियाँ शांत नहीं हैं और जिसका चित्त असमाहित एवं अशान्त यानी असंयत—वश में नहीं है अर्थात् जो अभ्यास वैराग्यशून्य है, उसको योग-सर्वात्मदर्शन की प्राप्ति कठिन है।

---

१. तब तक ही मन को रोकने का प्रयत्न करना चाहिए जब तक वह हृदय में विलीन न हो जाय। यह मन की विलीनावस्था ही ज्ञान और मोक्ष है, शेष केवल ग्रंथ का विस्तारमात्र है।

"विषयं ध्यायतः पुंसो विषये रमते मनः"
[यो० शि० उ० ३।२४]

क्योंकि जो असंयत पुरुष विषयों का चिन्तन करता है, उसका मन विषयों में आसक्त हो जाता है। इसलिये उसको योग दुष्प्राप्य है, यह गुरु. विष्णु का अटल मत है।

"यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः।[१]
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति॥"
[क० उ० १।३।७]

परन्तु जिसका मन वश में है अर्थात् जो अभ्यास-वैराग्यादि साधन चतुष्टय से सम्पन्न है, उस प्रयत्नशील पुरुष को यह साम्यदर्शनरूप योग सुगमता से प्राप्त हो जाता है। क्योंकि—

"शमेन शान्ताः शिवमाचरन्ति शमेन नाकं मुनयोऽन्वविन्दन्"
[म० ना० उ० २२।१]

'शम से शांत होकर कल्याण प्राप्त करते हैं, शम से मुनि नाक ब्रह्म को प्राप्त हुये' इस नियम से—

"मनसो विजयान्नान्या गतिरस्ति भवार्णवे"
[म० उ० ५।७६]

मनको जीतने से भिन्न भवसागर को तरने का अन्य कोई उपाय नहीं है। इसलिये जो—

"यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते॥"
[क० उ० १।३।८]

"मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते"[२]
[श्री० भा० ११।१४।२७]

---

१. जो अविज्ञानवान्, मनोनिग्रहशून्य एवं अशुद्ध रहनेवाला होता है, वह उस वैष्णव परम पद को प्राप्त नहीं करता, प्रत्युत संसार को ही प्राप्त होता है।

२. मेरा स्मरण करनेवाले का चित्त मुझमें विलीन हो जाता है।

विज्ञानवान् संयतचित्त, पवित्रात्मा मेरा अनन्यरूपेण चिन्तन करता है, वह उस परम पद को प्राप्त करता है, जहाँ से फिर पुनरावर्तन को प्राप्त नहीं होता ॥ ३६ ॥

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥ ३७ ॥

हे कृष्ण ! जो मन्द वैराग्ययुक्त श्रद्धालु साधक अभ्यास-प्रयत्न की शिथिलता के कारण, अथवा—

"श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति महतामपि"

'श्रेय में महापुरुषों को बहुत विघ्न होते हैं' इस नियमानुसार विघ्नों से योग की पूर्ण सिद्धि को न प्राप्त करने के कारण, अथवा—

"मनोहराणां भोज्यानां युवतीनां च वाससाम् ।
वित्तस्याऽपि च सान्निध्याच्चलेच्चित्तं सतामपि ॥"

'मनोहर भोजन, युवती स्त्री, सुंदर वस्त्र तथा धन के सम्पर्क से सत्पुरुषों का भी चित्त चलायमान हो जाता है' इस न्याय से इनके संसर्ग से बहिर्मुख होने के कारण योग से विचलित मनवाला हो गया है, वह किस गति को प्राप्त होता है ? सुगति को अथवा दुर्गति को ? ॥ ३७ ॥

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ३८ ॥

हे महाबाहो ! मूढ़ पुरुष ब्रह्ममार्ग में—सम्यग्दर्शनरूप योगनिष्ठा में पूर्ण स्थिति को न प्राप्त कर अर्थात् उससे पतित होकर क्या बादल की भाँति लौकिक तथा पारलौकिक इन दोनों सुखों से भ्रष्ट तो नहीं हो जाता ? ॥३८॥

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ ३९ ॥

हे कृष्ण ! मेरे इस संशय को सम्पूर्णता से छेदन करने के लिये आप ही समर्थ हैं; क्योंकि आप सबके गुरु, सर्वज्ञ विष्णु ही देवता तथा ऋषियों के

आदिमूल कारण हैं। इसलिये आप के अतिरिक्त अन्य कोई देवता या ऋषि इस संशय का छेदन नहीं कर सकता ॥ ३६ ॥

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ॥ ४० ॥

इस पर भगवान् बोले—हे पार्थ! उस योग भ्रष्ट का इस लोक तथा परलोक में कहीं भी नाश नहीं होता, क्योंकि कोई भी कल्याण—शुभ कर्म करनेवाला योगी दुर्गति को नहीं प्राप्त होता, बल्कि सद्‌गति को ही प्राप्त होता है। जैसा श्रुति भी कहती है—

"तद्य इह रमणीयचरणा अभ्यासो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिय योनिं वा वैश्य योनिं वा"
[छा० उ० ५।१०।७]

वे जो यहाँ सुंदर आचरण करते हैं, वे शीघ्र ही रमणीय ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य योनि को प्राप्त होते हैं ॥ ४० ॥

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥

वह योग भ्रष्ट योगी इस थोड़े से योग साधन से ही—

ऋतं तपः सत्यं तपः श्रुतं तपः शान्तं तप.' [श्रुति]

'ऋत तप है, सत्य तप है, श्रवण तप है, शांत तप है।'

'शमेन शान्ताः शिवमाचरन्ति शमेन नाकं मुनयोऽन्वविन्दन् तस्माच्छमं परमं वदन्ति'
[म० ना० उ० २२।१]

'शम से शांत होकर कल्याण करते हैं, शम से मुनि नाक-ब्रह्म को प्राप्त हुए, इसलिये शम को परम कहते हैं'।

'दमेन दान्ताः किल्बिषमवधून्वन्ति दमेन ब्रह्मचारिणः सुवरगच्छन् दमो भूतानां दुराधर्षम्'
[म० ना० उ० २२।१]

'दम से दांत होकर किल्विष को नष्ट करते हैं, दम से ब्रह्मचारी स्वर्ग को प्राप्त हुए, दम भूतों का दुराधर्ष है।'

'सत्यं परं परं सत्यं सत्येन न सुवर्गाल्लोकाच्च्यवन्ते
कदाचन सतां हि सत्यम्' [म० ना० उ० २१।१]

'सत्य पर है, सत्य से स्वर्ग लोक से कभी गिरते नहीं हैं, सत्पुरुषों का सत्य है।'

'मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्येकाग्र्यं परमं तपः'
[स्मृति].

'मन और इंद्रियों की एकाग्रता ही परम तप है।'

'अश्वमेध सहस्राणि वाजपेय शतानि च।
एकस्य ध्यानयोगस्य कलां नाऽर्हन्ति षोडशीम्॥'
[ग० उ० उ० १]

हजार अश्वमेध और सौ वाजपेय ध्यान योग की एक कला के बराबर नहीं है।

'अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव ब्रह्मलोकं
निगच्छति ब्रह्मचर्यैकनिष्ठया' [स्मृति].

'जो यज्ञ कहा जाता है, वह ब्रह्मचर्य ही है। ब्रह्मचर्य की एक निष्ठा से ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है।'

'सत्यं तीर्थं क्षमातीर्थं तीर्थमिन्द्रियनिग्रहः।
सर्वभूत दया तीर्थं तीर्थमार्जवमेव च॥'
[स्क० पु०].

'सत्य तीर्थ है, क्षमा तीर्थ है, इन्द्रियों का निग्रह तीर्थ है, सर्वभूतों पर दया तीर्थ है और आर्जव भी तीर्थ है।'

'अहिंसा परमो धर्मो यया याति त्रिविष्टपम्'

अहिंसा परम धर्म है, जिससे स्वर्ग को जाता है। इन उपरोक्त महान् पुण्य कर्मों के द्वारा अश्वमेधादि करनेवाले पुण्यवानों के स्वर्गादि महान् लोकों को प्राप्त करके तथा वहाँ अनन्त वर्षों तक अर्थात् बहुत काल तक

निवास कर, वहाँ के भोगों को भोग कर, भोगों के क्षय होने पर अजातशत्रु, तथा जनकादिवत् शुद्धश्री सम्पन्न सम्राटों के घर जन्म लेता है ॥ ४१ ॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ४२ ॥

अथवा वह विवेक-वैराग्य संपन्न पुरुष भोगवासनाओं में तुच्छत्व, बंधकत्व तथा मिथ्यात्व बुद्धि के कारण पुण्यवानों के स्वर्गादि लोकों को न प्राप्त करके सीधे दरिद्र, बुद्धिमान् योगियों के कुल में ही जन्म लेता है। यद्यपि शुद्ध श्री सम्पन्न पुरुषों के घर में भी जो प्रथम योगभ्रष्ट का जन्म है, वह भी अनेक जन्म के सुकृत के फलस्वरूप ही दुर्लभ है, परन्तु यह जो दरिद्र योगियों के यहाँ शुकादिवत् दूसरा जन्म है, वह पर वैराग्य से युक्त मोक्ष का साक्षात् हेतु होने के कारण अत्यन्त दुर्लभ है ॥ ४२ ॥

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥ ४३ ॥

हे कुरुनन्दन ! वहाँ वह ज्ञानवान् योगियों के कुल में जन्म लेकर पूर्व देह में योगाभ्यासकृत बुद्धि संयोग-संस्कारों को अनायास ही प्राप्त हो जाता है, जिसकी सहायता से सोकर जगे हुए मनुष्य की भाँति फिर योग की सिद्धि के लिए सतत सावधान होकर प्रयत्न करता है ॥ ४३ ॥

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ४४ ॥

वह योगभ्रष्ट पुरुष भोगवासनाओं में आसक्त—परवश होने पर भी—

'ते प्राक्तनाभ्यासबलेन भूयो युञ्जन्ति योगम्'
[श्री० भा० ११।२८।२६]

पूर्वजन्म के अभ्यास के द्वारा बलात् योग की ओर खींचा जाता है। तत्पश्चात् वह विवेक वैराग्यादि साधन चतुष्टय सम्पन्न हो—

'वेदानिमं लोकममुं च परित्यज्याऽऽत्मानमन्विच्छेत्'
[स्मृति]

वेद, इस लोक और परलोक का त्याग करके योग—परमात्मा का जिज्ञासु भी शब्दब्रह्म—वेद का अर्थात् वेद प्रतिपादित कर्म का अतिक्रमण करके,

'अध्यारोपापवादाभ्यां कुरुते ब्रह्मचिन्तनम्'

[ग० पु०]

अध्यारोप तथा अपवाद दृष्टि के द्वारा ब्रह्मचिन्तन का अधिकारी होता है, फिर जो योग में स्थित होकर सतत उसका अभ्यास करता है उसका कहना ही क्या ! ॥ ४४ ॥

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्ध किल्बिषः ।

अनेक जन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ४५ ॥

इस प्रकार—

'जन्मान्तरसहस्रेषु यदा क्षीणं तु किल्बिषम् ।

तदा पश्यन्ति योगेन संसारोच्छेदनं महत् ॥'

[यो० शि० उ० १।७८,७६]

सहस्रों जन्मों में अर्जित इस महान् योगाभ्यास रूप पुण्य के संचय से जिसके संपूर्ण पाप नष्ट हो चुके है, वह प्रयत्नशील विवेक-वैराग्यादि साधन चतुष्टय संपन्न पुरुष—

'त्यक्त्वा लोकांश्च वेदांश्च विषयानिन्द्रियाणि च ।

आत्मन्येव स्थितो यस्तु स याति परमां गतिम् ॥'

[मा० प० उ० ४।१]

'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वा'

[बृ० उ० ४।४।२३]

लोक, वेद तथा इन्द्रियों के विषयों का त्यागकर शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु और समाहित होकर श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन के द्वारा आत्मा में सम्यक्रूपेण स्थित होकर सर्वात्मदर्शन करता हुआ परमगति—परमात्मतत्त्व को प्राप्त होता है ॥ ४५ ॥

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।

कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ ४६ ॥

साम्यदर्शन-निष्ठयोगी कृच्छ्रचान्द्रायणादि तप के परायण रहनेवाले तपस्वियों से श्रेष्ठ है, शास्त्रज्ञानियों से श्रेष्ठ है तथा अग्निहोत्रादि कर्म करने वालों से भी श्रेष्ठ है, क्योंकि उन सबका फल अन्तवान है, परन्तु परावरे-तत्त्वदर्शी का फल मोक्ष अनन्त है। इसलिये हे अर्जुन! तू योगी हो ॥४६॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ ४७ ॥

संपूर्ण योगियों में अर्थात् वसु रुद्रादिक देवताओं के उपासकों में भी *अथवा यम, नियमादि के परायण रहनेवाले योगियों में भी* जो अतिशय श्रद्धा-भक्ति से मुझमें मद्गत-आसक्तचित्त होकर अनन्य रूपेण उत्कण्ठित सच्चे हृदय से मुझ परमेश्वर को भजता है वह मुझ सर्वज्ञ विष्णु के मत में अति श्रेष्ठ है। इसलिये तू मेरा भक्त हो। ऐसे ही भगवान् ने श्री मद्भागवत और ब्रह्मवैवर्त पुराण में भी कहा है:—

"भजन्त्यनन्यभावेन ते मे भक्ततमा मताः"
[श्री० भा० ११।११।३३]

"साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ॥"
[श्री० भा० ६।४।६८]

"अहं प्राणश्च भक्तानां भक्ताः प्राणाः ममापि च"
[ब्र० वै० पु०]

जो अनन्यभाव से मुझे भजते हैं, वे मेरे मत में अतिश्रेष्ठ भक्त हैं, मेरे अनन्य प्रेमी भक्त मेरे हृदय हैं और मैं उन अनन्य प्रेमियों का हृदय हूँ, क्योंकि वे मुझसे भिन्न कुछ और नहीं जानते और मैं उनसे भिन्न कुछ और नहीं जानता।

मैं भक्तों का प्राण हूँ और भक्त मेरे प्राण हैं ॥ ४७ ॥

॥ छठवाँ अध्याय समाप्त ॥

सातवाँ अध्याय

ज्ञानविज्ञानयोग

॥ ॐ ॥

सातवाँ अध्याय

इस प्रकार भगवान पिछले अध्याय के अन्त में—

"योगिनामपि सर्वेषाम्' [गी० ६।४७]

'जो अन्तरात्मा से मुझे भजता है, वह अतिशय श्रेष्ठ है' ऐसा कहा। इसलिये अर्जुन ! तुझे भी मुझे तत्वतः जानकर वैसे ही भजन करना चाहिए। अतः उस भजन का प्रकार बतलाने के लिए भगवान् 'ज्ञान-विज्ञानयोग' नामक सातवाँ अध्याय प्रारम्भ करते हुये बोले।

श्री भगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथाज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥

हे पार्थ ! तू संपूर्ण विषय वासनाओं से रहित हो, मेरे में आसक्त मन-वाला होकर अर्थात् मेरे रूप, नाम, गुणादि के स्मरण, कीर्तन और श्रवण में सर्वदा तल्लीन रहकर तथा—

'सर्वाश्रयोऽहमेव' [त्रि० म० उ० ८।१]

सर्वाश्रयस्वरूप सच्चिदानन्दघन मुझ वासुदेव के ही आश्रित रहकर अर्थात् अनन्यरूप से मेरे शरणापन्न हो, योग से युक्त होकर—

'ईश्वरानुग्रहादेव पुंसामद्वैतवासना'

मुझ ईश्वर के अनुग्रह से अद्वैतवासना का अधिकारी हो जिस प्रकार विभूति, बल ऐश्वर्यादि-सम्पन्न मुझ विष्णु के स्वरूप को निःसन्देह संपूर्णता से जानेगा, उस प्रकार मैं परमेश्वर तेरी उपासना से प्रसन्न होकर कहता हूँ, तुम उसको ध्यानस्थ होकर सुनो।

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥

मैं तुझे—

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' [छा० उ० ३।१४।१]

'आत्मैवेदं सर्वम्' [छा० उ० ७।२५।२]

'अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद परोक्षज्ञानमेव तत्'

[व० उ० २।४१]

'यह सब कुछ ब्रह्म ही है', 'यह सब आत्मा ही है' इस शास्त्रीय परोक्ष-ज्ञान को, तथा—

'सर्वमिदमहं च ब्रह्मैव'

'अहमेवेदं सर्वम्' [छा० उ० ७।२५।१]

'अहं ब्रह्मेति चेद्वेद साक्षात्कारः स उच्यते'

[व० उ० २।४१]

'यह सब और मैं ब्रह्म ही हूँ' 'यह सब मैं ही हूँ', इस विज्ञान-अपरोक्ष ज्ञान को संपूर्णता से कहूँगा—

'यस्मिन्विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति'

[शा० उ० २]

जिसके ज्ञात हो जाने पर यह सब कुछ ज्ञान हो जाता है। अथवा, जिस अधिष्ठानस्वरूप परमात्मतत्त्व में, शुक्ति में रजतवत् अध्यस्त विश्वप्रपञ्च का अभाव देखने के कारण—

'नैतद् विज्ञाय जिज्ञासोर्ज्ञातव्यमवशिष्यते'

[श्री० भा० ११।२६।३२]

जिज्ञासु के लिये इस मोक्ष मार्ग में फिर कुछ भी जानने योग्य अवशिष्ट नहीं रह जाता—

'येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्'

[छा० उ० ६।१।३]

अर्थात् उसके लिये अश्रुत, श्रुत, अमत, मत और अविज्ञात, विज्ञात हो जाता है।

अभिप्राय यह है कि तू ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न होकर—

'यज्ज्ञानेन कृतार्थो भवति' [श्रुति]

प्रत्यगभिन्न परमात्मतत्त्व को अन्वय-व्यतिरेक दृष्टि से सर्वत्र देखता, सुनता एवं समझता हुआ कृतकृत्य हो जायेगा ॥ २ ॥

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ ३ ॥

हजारों-लाखों शास्त्रज्ञों तथा कर्म करने की योग्यता रखनेवाले मनुष्यों में कोई एक ही—

'सत्कर्म परिपाकतो बहूनां जन्मनामन्ते नृणां मोक्षेच्छाजायते'[1] [वै० उ० २।१]

अनेक जन्मों के अंत में सत्कर्म के परिपाक से, विवेक-वैराग्य से सम्पन्न होकर मोक्ष की सिद्धि के लिए प्रयत्न करता है और उन लाखों-करोड़ों प्रयत्न करने वालों में भी कोई एक विरला पुरुष ही ईश्वर, गुरु तथा आत्मा की कृपा से युक्त होकर—

'सजातीय प्रवाहश्च विजातीय तिरस्कृतिः' [ते० बि० उ० १।१८]

धाराबाहिक रूप से सजातीय प्रत्ययों के चिन्तन के द्वारा विजातीय प्रत्ययों का तिरस्कार करके मुझे तत्त्वतः आत्मरूप से जानता है कि—

'सर्वमिदमहं च वासुदेवः'

'यह सब और मैं वासुदेव ही हूँ' ॥ ३ ॥

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥

भूमि शब्द से गन्ध तन्मात्रावाली कारणस्वरूपा सूक्ष्म पृथ्वी कही गई है, स्थूल पृथ्वी नहीं, वैसे ही जल से रस तन्मात्र, तेज से रूप तन्मात्र, वायु से स्पर्श तन्मात्र, और आकाश से शब्द तन्मात्र ग्रहण किया गया है। और मन से उसका कारणभूत अहंकार, बुद्धि से उसका कारणभूत महत्तत्त्व और

१. शुभ कर्म के परिपाक से अनेक जन्मों के अंत में मनुष्यों को मोक्ष की इच्छा होती है।

अहंकार से उसकी कारणभूता अविद्या-मूल प्रकृति ग्रहण की गई है। इस प्रकार गुण महेश्वर—

'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्'

[श्वे० उ० ४।१०]

की माया शक्ति 'जो संपूर्ण प्राणियों की योनि है' आठ प्रकार से विभक्त हुई है, जो क्षेत्राध्याय में—

'महाभूतान्यहंकारः' [गी० १३।५]

पद से चौबीस तत्त्वों के रूप में कही गई है ॥ ४ ॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥

हे महाबाहो ! यह पूर्वोक्त अष्टधा अपरा प्रकृति है जो कि निकृष्ट, जड़ अशुद्ध तथा संसार-बन्धनरूपा है और इस अपरा—क्षेत्ररूपा से भिन्न दूसरी मेरी परा प्रकृति है, जो कि शुद्ध जीवरूपा और चैतन्यात्मिका है।

'अनेनैव जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत्'[1]

[छा० उ० ६।३।२]

जिसने जीवरूप से प्रविष्ट होकर सारे ब्रह्माण्ड को सत्ता स्फूर्ति देकर धारण कर रखा है, उसको तू श्रेष्ठ, क्षेत्रज्ञस्वरूपा, आत्मरूपा मेरी परा प्रकृति जान ॥ ५ ॥

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥

'परा' क्षेत्रज्ञरूपा और 'अपरा' क्षेत्ररूपा—ये दोनों ही प्रकृतियाँ ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त संपूर्ण प्राणियों की योनि—कारण हैं, परन्तु मैं इनका भी कारण हूँ। इसलिये मैं—

'एष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्'[2]

[मा० उ० ६]

---

१. इस जीवात्मरूप से ही अनुप्रवेश कर नाम रूप का व्याकरण किया।
२. यह सबका कारण है, क्योंकि संपूर्ण भूतप्राणियों की उत्पत्ति एवं प्रलय का स्थान है।

संपूर्ण जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय का एकमात्र कारण हूँ। जैसा कि शास्त्र और श्रुतियाँ भी कहती हैं—

'जन्माद्यस्य यतः' [ब्र० सू० १।१।२]

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति।'

'यत्प्रयन्त्यभि संविशन्ति। तद्ब्रह्म।' [तै० उ० ३।१]

'येन प्रकाशते विश्वं यत्रैव प्रविलीयते। तद्ब्रह्म'

[प० ब्र० उ० २०]

'अक्षराद्विविधाः सौम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति'

[मु० उ० २।१।१]

'जिससे विश्व की सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय होता है।' 'जिससे यह संपूर्ण भूतवर्ग उत्पन्न होते हैं, जिससे उत्पन्न होकर जीते हैं और अन्त में विनाशोन्मुख होकर जिसमें ये लीन होते हैं, वह ब्रह्म है, जिससे विश्व प्रकाशित होता है और जिसमें विलीन होता है वह ब्रह्म है।' 'अविनाशी ब्रह्म से नाना प्रकार के मूर्तामूर्त पदार्थ अभिन्न रूप से उत्पन्न होते हैं और उसी में विलीन हो जाते हैं' ॥ ६ ॥

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥

इस प्रकार मुझ परमात्मा से परतर—अतिरिक्त अन्य कोई भी विश्व का कारण नहीं है अर्थात् मैं ही संपूर्ण ब्रह्मांड का एक मात्र अभिन्न निमित्तोपादान कारण हूँ, क्योंकि—

'मद्व्यतिरिक्तं सर्वं बाधितम्' [त्रि० म० उ० ८।१]

मुझसे अतिरिक्त सब बाधित है। जैसा श्रुति भी कहती है—

'यस्मिन्निदं सर्वमोतप्रोतं यस्मादन्यन्न परं किंचनास्ति'

[अ० शि० उ० ६]

'जिस परमात्मा में यह सब ओतप्रोत होने के कारण उससे भिन्न किंचित् मात्र भी नहीं है।'

'यस्मात्परं नापरमस्ति किंचित्'

[श्वे० उ० ३।६]

तात्पर्य यह है कि यदि जल से रस, सूर्य-चन्द्र से प्रकाश, वेदों से ओंकार, आकाश से शब्द एवं पुरुषों से पौरुष निकाल लिया जाय तो क्रमशः जल का जलत्व, सूर्य-चन्द्र का सूर्यत्व-चन्द्रत्व, वेदों का वेदत्व, आकाश का आकाशत्व और पुरुषों का पुरुषत्व नष्ट हो जायेगा। इसलिये इन सब रूपों में इनके कारण रूप से केवल मैं ही सर्वत्र सर्वदा स्थित हूँ ॥ ८ ॥

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ६ ॥

मैं पृथ्वी में पवित्र गन्ध हूँ अर्थात् मैंने पृथ्वी को सुगन्धरूप से पिरो रखा है तथा मैंने अग्नि को प्रकाश रूप से पिरो रखा है।

'यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्'

[गी० १५।१२]

मैंने भूतप्राणियों को जीवन—आयु रूप में पिरो रखा है और तपस्वियों को तप रूप से पिरो रखा है। अभिप्राय यह है कि मैं ही इन सब रूपों में स्थित हूँ ॥ ६ ॥

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ १० ॥

हे पार्थ! तू सर्वभूतों का सनातन अविनाशी बीज—मूल कारण मुझे ही जान, क्योंकि—

'आत्मन आकाशः संभूतः । आकाशाद्वायुः ।[१]
वायोरग्निः । अग्नेरापः । अद्भ्यः पृथ्वी ।
पृथिव्या ओषधयः । ओषधीभ्योऽन्नम् । अन्नात्पुरुष ।

[तै० उ० २।१]

मुझ आत्मस्वरूप परमात्मा से ही आकाशादि की सृष्टि हुई है। परन्तु—

'न चास्य कश्चिज्जनिता' [श्वे० उ० ६।६]

---

१. आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से ओषधियाँ, ओषधियों से अन्न और अन्न से पुरुष उत्पन्न हुआ।

[इस मन्त्र से] मेरा कोई कारण नहीं है। तथा मैं बुद्धिमानों की बुद्धि हूँ अर्थात् मैं ही ज्ञानियों का ज्ञान हूँ और तेजस्वियों का अप्रतिहत तेज हूँ ॥१०॥

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥ ११ ॥

बलवानों का जो कामना और आसक्ति से रहित बल है, वह मैं हूँ अर्थात् विषय-वासना शून्य महात्माओं के शरीर का जो बल केवल मेरे भजन के लिए है, वह विशुद्ध सात्विक बल मैं हूँ। तथा हे भरतश्रेष्ठ! प्राणियों की जो वर्णाश्रम धर्म से युक्त शास्त्रानुकूल कामना—इच्छा है, वह भी मैं ही हूँ। अभिप्राय यह है कि जैसे घट मिट्टी में मिट्टी रूप से स्थित है, वैसे ही संपूर्ण विश्व मुझमें मेरे रूप से स्थित है। अथवा जैसे—

'घटनाम्ना यथा पृथ्वी पटनाम्ना हि तन्तवः।
जगन्नाम्ना चिदाभाति सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥'
[यो० शि० उ० ४।१७,१८]

घटनाम से पृथ्वी और पट नाम से तन्तु भासता है, वैसे ही जगत् नाम से केवल मैं ब्रह्म ही भास रहा हूँ ॥ ११ ॥

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥ १२ ॥

जो अन्तःकरण के सात्विक शम, दमादि और राजस हर्ष, विषादि एवं तामस शोक-मोहादि त्रिगुणात्मक संपूर्ण भूतप्राणियों के भाव अपने कर्मानुसार होते हैं, उन सबको तू मुझ कारणस्वरूप परमात्मा से ही उत्पन्न हुआ जान। अर्थात्—

'सुवर्णाज्जायमानस्य सुवर्णत्वं च शाश्वतम्।
ब्रह्मणो जायमानस्य ब्रह्मत्वं च तथा भवेत् ॥'
[यो० शि० उ० ४।७]

जैसे स्वर्ण से जायमान केयूरादि स्वर्णरूप ही हैं, वैसे ही मुझ ब्रह्म से जायमान जगत् भी ब्रह्मस्वरूप—मद्रूप ही है, परन्तु ऐसा होने पर भी मैं—

'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' [त्रि० म० उ० ३।१]
'असङ्गोह्ययं पुरुषः' [बृ० उ० ४।३।१५]

एक अद्वितीय, असंग परमात्मा रज्जु में सर्पवत्—

'इदं सर्वं मिथ्या मायाकार्यत्वात् ऐन्द्रजालिकवत्'[1]

इन्द्रजाल के समान माया मात्र मिथ्या इन द्वैतभावों में नहीं हूँ, क्योंकि—

'न तु तद्द्वितीयमस्ति' [बृ० उ० ४।३।२३]

'नेह नानास्ति किंचन' [बृ० उ० ४।४।१६]

मुझमें द्वितीयत्व—नानात्व का अभाव है, परन्तु वे मुझ अधिष्ठानस्वरूप परमात्मा की सत्ता से सत्तावान होने के कारण मुझमें है।

अथवा—

'प्रधान क्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः'[2] [श्वे० उ० ६।१६]

मैं इनका साक्षी हूँ, इसलिये भी जीव की भाँति इनके वश में नहीं हूँ, परन्तु ये मुझमें अर्थात् मेरे वश में हैं ॥ १२ ॥

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥ १३ ॥

अर्जुन ! यद्यपि मैं परमात्मा ही सबका आत्मा, सब रूपों में स्थित हूँ, परन्तु खेद है कि त्रिगुण के इन राग-द्वेषादि भावों के कारण—

'मायया मोहितं जगत्'[3] [कृ० उ० १०]

सम्पूर्ण जगत् मोहित, सत्-असत् के विवेक से शून्य अंधा हो रहा है अर्थात् त्रिगुण के कार्य देह-बुद्धि से युक्त होने के कारण आवरणशून्य, अहंरूप से सर्वदा प्रकाशित तथा सुषुप्ति में सुख रूप से प्रत्यक्ष भासमान आत्मस्वरूप मुझपर—गुणातीत, निर्विकार, आनन्दस्वरूप एवं अविनाशी परमात्मा को नहीं जानता अर्थात् 'मैं सुखस्वरूप निर्विकार आत्मा हूँ' इस प्रकार अपने को विषय नहीं करता ॥ १३ ॥

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ १४ ॥

---

१. माया का कार्य होने के कारण यह सब इन्द्रजाल के समान मिथ्या है।

२. परमात्मा ही प्रकृति और पुरुष का पति, गुणों का ईश है।

३. माया से संपूर्ण जगत् मोहित है।

क्योंकि—

'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्'

[श्वे० उ० ४।१०]

'अजेया वैष्णवी माया' [कु० उ० ५].

मुझ महेश्वर की त्रिगुणमयी दैवी अजेया वैष्णवी माया अत्यन्त दुस्तर है—

'एतां महामायां तरन्त्येव ये विष्णुमेव भजन्ति'

नान्ये तरन्ति कदाचन'[1] [त्रि० म० उ० ४।१];

इसलिए जो बुद्धिमान भक्त इस रहस्य को जानकर मुझ मायापति वासुदेव के शरणागत हो निखिल सौन्दर्य-माधुर्य निधि मेरे पादपद्म का अनन्यरूपेण अव्यभिचारी भक्ति से ध्यान करते हैं, वे मुझ विष्णु के कृपा कटाक्ष से दुस्तर माया को सुगमता से गोवत्सवत् तर जाते हैं अर्थात्—

'भक्त्या विना ब्रह्मज्ञानं कदापि न जायते'[2]

[त्रि० म० उ० ८।१]

इस न्याय से भक्ति के द्वारा एकत्वदर्शन रूप ब्रह्मज्ञान को प्राप्तकर शोक-मोह से मुक्त हो जाते हैं ॥ १४ ॥

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥ १५ ॥

परन्तु जो दुष्कर्मी विवेकशून्य और पतित हैं तथा जिनका ज्ञान माया के द्वारा विपरीत दर्शन के कारण छीन लिया गया है अर्थात् जो देहात्मवादी हिंसा के परायण—

'दम्भो दर्पोऽतिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च'

[गी० १६।४]

दम्भ, दर्प, अतिमान, क्रोध तथा पारुष्यादि आसुरी भावों से युक्त हैं, वे अधम हत्यारे दुर्भाग्यवश मुझ परमेश्वर के शरण में नहीं आते अर्थात् मेरा भजन नहीं करते ॥ १५ ॥

---

१. इस महामाया को वे ही तरते हैं, जो विष्णु को ही भजते हैं अन्य कदापि नहीं।

२. भक्ति के बिना ब्रह्म ज्ञान कभी भी नहीं उत्पन्न होता।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ १६ ॥

हे भारत ! जो पूर्व अनेक जन्मों तथा इस जन्म में पुण्यकर्म करनेवाले हैं वे चार प्रकार से मेरा भजन करते हैं। जिनमें आर्त—द्रौपदी और गजेन्द्रवत् सांसारिक दुखों से मुक्त होने की इच्छा से; जिज्ञासु—ज्ञानार्थी उद्धव तथा श्रुतदेववत् मेरे स्वरूप को जानने की इच्छा से, अर्थार्थी—विभीषण, सुग्रीव, ध्रुव तथा उपमन्यु आदिवत् इस लोक तथा परलोक के सुख की प्राप्ति की इच्छा से तथा ज्ञानी—नारद, प्रह्लाद, शुक-सनकादिवत् ब्रह्मात्मैक्य दर्शन से नित्य युक्त हो, सर्व कामनाओं से मुक्त होकर मेरा भजन करते हैं ॥ १६ ॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ १७ ॥

उन उपर्युक्त चार प्रकार के भक्तों में ज्ञानी सर्व कामनाओं से शून्य ब्रह्मात्मैक्य दर्शन से युक्त—

'अभेददर्शनं ज्ञानम्'[1] [स्क० उ० ११]

अभेद दर्शन रूप श्रुति से सम्पन्न—

'एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन'

सर्वत्र सत्, एक, अद्वितीय भूमा—आत्मतत्व के देखने, सुनने एवं समझने के कारण—

'न प्रत्यग्ब्रह्मणोर्भेदं कदापि ब्रह्म सर्गयोः'

[अ० उ० ४६]

आत्मा, परमात्मा और जगत् में भेद नहीं मानता तथा द्वैतदर्शन से रहित हो मुझे ही अपना अन्तरात्मा समझकर भजता है इसलिये वह श्रेष्ठ है। क्योंकि—

'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति'[2]

[बृ० उ० २।४।५]

---

१. अभेद दर्शन को ही ज्ञान कहते हैं।
२. आत्मा के लिए ही सब प्रिय होते हैं।

सबको अपना आत्मा प्रिय होता है, इसलिये इस नियमानुसार वह मेरा आत्मा होने के कारण मुझे अत्यन्त प्रिय है और मैं उसका आत्मा होने के कारण उसे अति प्रिय हूँ ॥ १७ ॥

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥ १८ ॥

यद्यपि ये शेष तीन भी अन्य देवताओं की अपेक्षा मेरा भजन करने के कारण श्रेष्ठ मुझे प्रिय हैं, परन्तु ज्ञानी सदा समाहितचित्त होकर अपने आत्मस्वरूप मुझ सच्चिदानन्दघन ब्रह्म के चिन्तन के परायण होकर—

'अहमेवाक्षरं ब्रह्म वासुदेवाख्यमद्वयम्'
[ना० उ० उ० ३।१०]

यह अनुभव करता है कि 'मैं ही वासुदेव संज्ञक अद्वय अक्षर ब्रह्म हूँ, मुझसे भिन्न अणुमात्र भी नहीं है' इस अभेद दर्शन से युक्त होने के कारण मुझे प्रिय ही नहीं किन्तु मेरा आत्मा भी है। इसलिये वह मुझ विष्णु की सर्वोत्तम गति में सर्वोत्तम रूप से स्थित है अर्थात् मेरा स्वरूप ही है ॥१८॥

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ १९ ॥

बहुत जन्मों के अभ्यास के पश्चात् अर्थात् पूर्वकृत संपूर्ण सुकृतकर्मों के परिपाक से अविद्या एवं उसके कार्य कामादि प्रतिबन्धकों की निःशेष निवृत्ति हो जाने के परिणामस्वरूप अन्त के जन्म में विशुद्धान्तःकरण ज्ञानी पुरुष सम्यग्रूपेण मेरे शरणापन्न होकर—

'ब्रह्मा नारायणः । शिवश्च नारायणः शक्रश्च नारायणः ।
दिशश्च नारायणः । विदिशश्च नारायणः । कालश्च नारायणः ।
कर्माखिलं च नारायणः । मूर्तामूर्तं च नारायणः ।
कारणात्मकं सर्वं कार्यात्मकं सकलं नारायणः ।
तदुभय विलक्षणो नारायणः ।' [त्रि० म० उ० २।१]

'नारायण ही ब्रह्मा है, नारायण ही शिव है, नारायण ही इन्द्र है, नारायण ही दिशायें हैं, नारायण ही विदिशारूप हैं, नारायण ही काल है, नारायण ही समस्त कर्म हैं, नारायण ही मूर्त एवं अमूर्त रूप हैं, नारायण ही समस्त कारण रूप तथा संपूर्ण कार्यस्वरूप हैं तथा उन दोनों से विलक्षण भी *नारायण ही है।'*

'स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्।
स एव विष्णुः स प्राणः स कालोग्निः स चन्द्रमाः॥
स एव सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यं सनातनम्।'
[कै० उ० १।८, ९]

वही ब्रह्मा है, वही शिव है, वही इन्द्र है, वही अक्षर—अविनाशी परमात्मा है, वही विष्णु है, वह प्राण है अग्नि है, वह चन्द्रमा है तथा जो कुछ भूत, भविष्य एवं वर्तमान हैं सब वही है।'

'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा
सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्॥'
[श्वे० उ० १।१२]

'चिदेव पञ्चभूतानि चिदेव भुवनत्रयम्' [यो० वा०]
'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' [छा० उ० ३।१४।१]
'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' [बृ० उ० २।५।१]
'आत्मैवेदं सर्वम्' [छा० उ०७।२५।२]
'ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्'
[मु० उ० २।२।११]

'भोक्ता, भोग्य एवं प्रेरक तीन प्रकार से ब्रह्म ही कहा गया है' चैतन्य ही पञ्चभूत है, तीनों भुवन चैतन्य स्वरूप ही है, यह सब निश्चय ब्रह्म ही है, यह सब ब्रह्म ही है, यह सब आत्मा ही है, यह श्रेष्ठ ब्रह्म ही जगत्स्वरूप है, इन उपर्युक्त श्रुतियों के अनुसार—

'अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा'
[श्री० भा० २।९।३५]

अन्वय-व्यतिरेक दृष्टि से कार्य-कारणात्मक संपूर्ण ब्रह्मांड को वासुदेव स्वरूप समझता है अर्थात्—

'सर्वमिदमहं च वासुदेवः'

'यह सब और मैं वासुदेव ही हूँ' इस सर्वात्मदृष्टि से जो—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥
[मु० उ० २।२।८]

सम्पूर्ण हृदय ग्रन्थियों, संपूर्ण संशयों तथा सम्पूर्ण कर्मों से मुक्त परावरैकत्व विज्ञान सम्पन्न हो,

'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति' [मु० उ० ३।२।६]

'ब्रह्मरूपतया पश्यन्ब्रह्मैव भवति स्वयम्'

[अध्य० उ० २।१४]

वासुदेव रूप से वासुदेव को वासुदेव होकर देखता है, वह नैष्कर्म्यावस्था को प्राप्त आप्तकाम, पूर्णकाम सर्वत्र ब्रह्ममात्रदर्शी ब्रह्मविद्वरिष्ठ जीवन्मुक्त महात्मा इस लोक में शुकादिवत् अत्यन्त दुर्लभ है ॥ १६ ॥

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्य देवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥ २० ॥

अर्जुन ! कितने खेद की बात है कि मुझ वासुदेव से भिन्न कुछ न होने पर भी जिनका विवेक-विज्ञान लोक-परलोक के भोग के कारण नाना कामनाओं के द्वारा नष्ट हो चुका है, वे कामुक लोग पुत्र-पौत्रादि की इच्छा से युक्त हो अपनी प्रकृति से बलात् प्रेरित होकर मुझसे अन्य इन्द्रादि देवताओं की फलसिद्धि में उपयुक्त शास्त्रोक्त उन उन नियमों का आश्रय लेकर शरण ग्रहण करते हैं अर्थात् उनकी उपासना करते हैं ॥ २० ॥

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ २१ ॥

उनमें से जो जो भक्त जिस जिस देवता के स्वरूप का पूर्व संस्कारानुसार श्रद्धा और भक्ति से अर्चन—पूजन करना चाहता है, उस उस भक्त की उस उस देवता के प्रति श्रद्धा को मैं अन्तर्यामी परमात्मा ही स्थिर करता हूँ ॥ २१ ॥

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥ २२ ॥

वह मुझसे स्थिर की हुई श्रद्धा से युक्त होकर देवताओं की आराधना करता है, तत्पश्चात् उन देवताओं के द्वारा मुझ सर्वज्ञ परमेश्वर से अपने निश्चित किये हुए इष्ट भोगों को प्राप्त करता है ॥ २२ ॥

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ २३ ॥

उन क्षुद्र बुद्धिवाले सकामी पुरुषों का वह फल अन्तवान्—नाशवान् ही होता है। देवताओं के उपासक—

'देवो भूत्वा देवानप्येति'[1] [बृ० उ० ४।१।२]

देवताओं को प्राप्त होते हैं और मेरे आर्त अर्थार्थी और जिज्ञासु सकाम भक्त—

'मामेव प्राप्स्यसि' [त्रि० म० उ० ८।१]

मुझ अविनाशी परमात्मा को प्राप्त होते हैं अर्थात् मेरी प्रसन्नता से अभीष्ट कामनाओं को प्राप्तकर अन्त में उपासना की परिपक्वता से मुझ अनन्त आनन्दघन परमात्मा को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार सकामता में साम्य होने पर भी फल की दृष्टि से मेरे भक्तों और देवताओं के भक्तों में महान् अन्तर है। इसलिये पुरुष को मेरा ही भजन करना चाहिए ॥ २३ ॥

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ २४ ॥

परन्तु ऐसा होने पर भी—

'मूर्खो देहाद्यहं बुद्धिः'[2] [श्री० भा० ११।१६।४२]

देहाभिमानी मूर्ख मुझ अव्यक्त प्रपञ्चातीत, सदा एकरस रहनेवाले निर्विकार सच्चिदानन्दघन वासुदेव को जन्म धारण करने वाला सामान्य मनुष्य मानकर मेरे शरणापन्न नहीं होते; क्योंकि वे मेरे वास्तविक निरुपाधिक सर्वोत्कृष्ट और अविनश्वर परम भाव को नहीं जानते।

अभिप्राय यह है कि वे मुझे न मानकर अपना ही नाश करते हैं। जैसे कुण्डल यदि स्वर्ण को मान्यता न दे तो वह अपने अस्तित्व को खो बैठेगा, वैसे ही—

'असन्नेव स भवति। असद्ब्रह्मेति वेद चेत्'
[तै० उ० २।६]

मुझ अधिष्ठानस्वरूप परमात्मा को मान्यता न देनेवाले देहात्मवादी विपरीतदर्शी पुरुष अपने अस्तित्व को खो बैठते हैं अर्थात् स्वरूप दर्शन नहीं कर पाते ॥ २४ ॥

---

१. देवता होकर देवताओं को प्राप्त होता है।
२. देहादि में अहंबुद्धि रखनेवाला मूर्ख है।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥ २५ ॥

अर्जुन ! मैं नित्य प्रत्यक्ष प्रकाशस्वरूप परमात्मा त्रिगुणमयी योगमाया के द्वारा अपने को छिपा रखा हूँ। इसलिये मैं भक्तों को छोड़कर देहाभिमानी अनात्मदर्शी सब प्राणियों के सामने प्रकट नहीं होता हूँ।

'एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते'[1]
[क० उ० १।३।१२].

अतः—

'कर्तृत्वाद्यहंकारभावारूढो मूढः'[2] [नि० उ०]

ये कर्तृत्वादि अहंकार से युक्त मूढ़ प्राणी विपरीतदर्शन के कारण मुझ जन्मरहित, अनादि, अनंत परमात्मा को नहीं जानते।

अभिप्राय यह है कि जब तक देहाभिमान रहेगा तब तक मुझ परमात्मा का त्रिकाल में भी दर्शन नहीं हो सकता ॥ २५ ॥

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥ २६ ॥

अर्जुन !

'न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्'
[बृ० उ० ४।३।३०]

मुझ सर्वाधिष्ठानस्वरूप अविनाशी विज्ञाता के विज्ञान का लोप न होने के कारण मैं सर्वदा सब अवस्थाओं में भूत, वर्तमान और भविष्य में होनेवाले संपूर्ण प्राणियों को जानता हूँ; परन्तु मुझे भक्तों को छोड़कर कश्चन—कोई भी अभक्त नहीं जानता।

'स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता'[3]
[ना० प० उ० ६।१४]

---

१. संपूर्ण भूतों में छिपा हुआ यह आत्मा प्रकाशमान नहीं होता।

२. कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि अहंकार की भावना पर आरूढ़ अर्थात् देहाभिमानी पुरुष मूढ़ है।

३. वह संपूर्ण वेद्य वस्तुओं को जानता है, परन्तु उसको जाननेवाला कोई नहीं है।

'अहं विजानामि विविक्तरूपो न चास्ति वेत्ता मम चित्सदाहम्'[1]
[कै० उ० १।२१]

इसलिये मेरे शरणापन्न होकर मेरा भजन भी नहीं करते ॥ २६ ॥

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥ २७ ॥

क्योंकि हे भारत ! ये देहाभिमानी इच्छा-द्वेष—रागद्वेष से उत्पन्न सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से मोहित होने के कारण लोक लोकान्तर को सत्य मानकर—

'इदं रम्यमिदं नेति बीजं ते दुःखसंततेः'
[अन्न० उ० ५।७०]

दुःख-सन्तति के बीज रम्य-अरम्य वस्तुओं में आसक्तचित्त होने के कारण—

'ज्ञानं नोत्पद्यते पुंसां पापोपहतचेतसाम्' [स्मृति]

स्वरूपभूत मुझ परमात्मतत्व का ज्ञान नहीं कर पाते हैं, इसलिये विवेकशून्य सभी प्राणी पूर्व संस्कारानुसार इच्छा द्वेष के वशीभूत होकर मोह-अज्ञानयुक्त ही जन्म धारण करते हैं, जिसके फलस्वरूप मेरा भजन भी नहीं करते ॥२७॥

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥ २८ ॥
जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥ २९ ॥

परन्तु जिन पुण्यकर्मा पुरुषों के—

'धर्मेण पापमपनुदन्ति' [म० ना० उ० २२।१]

पाप समाप्त प्राय हो चुके हैं अर्थात् जिनका अन्तःकरण—

'तपसा किल्बिषं हन्ति'[2] [श्रुति]

---

१. मैं ही बुद्धि से पृथक होकर जानता हूँ, मुझको जाननेवाला कोई नहीं है, मैं सदा चैतन्य स्वरूप हूँ ।

२. तप से पाप को नष्ट करता है ।

स्वधर्माचाररूप तप के द्वारा विशुद्ध हो चुका है, वे राग द्वेष से सुख सुख दुःखादिक द्वन्द्वों से मुक्त हो दृढ़व्रती होकर अर्थात् इन्द्रिय मन को वश में करके—

'न हि मरणप्रभव प्रणाशहेतुर्मम चरण स्मरणादतेऽस्ति किंचित्'
[व० उ० ३।१२]

तथा यह समझकर कि मेरे चरण के स्मरण से भिन्न किंचित् मात्र भी जन्म-मृत्यु से मुक्त होने का अन्य कोई उपाय नहीं है। इसलिये जरा-मरण से मुक्त होने के लिये मुझ आनन्दकन्द सच्चिदानन्दघन वासुदेव के अनन्यरूपेण शरणापन्न होकर तैलधारावत् अविच्छिन्न रूप से सतत भजन करते हैं, वे सर्वज्ञ उस ब्रह्म को, समस्त अध्यात्म को और समस्त कर्म को जानते हैं ॥ २८, २९ ॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥ ३० ॥

इसी प्रकार जो परिपक्व अभ्यास से युक्त महात्मा मुझ परमेश्वर को अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ के सहित जानते हैं, वे समाहित चित्त योगी मरणकाल में भी मुझे जानते हैं अर्थात् मृत्युकाल की असह्य पीड़ा में भी मेरी कृपा से मेरी विस्मृति को नहीं प्राप्त होते।

तात्पर्य यह है कि वे मुझे सर्वात्मरूप से सम्यग्रूपेण जानते हैं ॥ ३० ॥

॥ सातवाँ अध्याय समाप्त ॥

आठवाँ अध्याय

अक्षर ब्रह्मयोग

॥ ॐ ॥

आठवाँ अध्याय

भगवान् ने पिछले अध्याय में यह कहा कि जो द्वन्द्वातीत दृढ़व्रती महात्मा मेरे शरणापन्न होकर जन्म-मृत्यु से मुक्त होने के लिये प्रयत्नपूर्वक केवल मुझे ही भजते हैं, वे ब्रह्म को, समस्त अध्यात्म को एवं समस्त कर्म को जानते हैं तथा मुझ परमेश्वर को अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ के सहित जानते हैं तथा मुझे मृत्युकाल में भी जानते हैं। इसलिये अर्जुन ने इनका रहस्य समझने के लिये भगवान् से पूछा।

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ २ ॥

अर्जुन बोला—हे पुरुषोत्तम! वह ब्रह्म क्या है? अध्यात्म क्या है? कर्म क्या है? अधिभूत क्या है? और अधिदैव क्या है? हे मधुसूदन, इस शरीर में अधियज्ञ कौन है? और कैसे रहता है? तथा आप समाहित-चित्त योगियों के द्वारा असह्य वेदनायुक्त मृत्युकाल में भी किस प्रकार जाने जाते हैं? हे करुणावरुणालय सर्वज्ञ परमात्मन्! मुझ शरणापन्न के प्रति कहने की कृपा कीजिये ॥ १, २ ॥

श्री भगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥

जिसका कभी विनाश नहीं होता उसे अक्षर कहते हैं।

'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत'
[बृ० उ० ३।८।९]

हे गार्गि ! इस अक्षर के ही प्रशासन में सूर्य और चन्द्रमा विशेष रूप से धारण किये हुए स्थित हैं।

'एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति'
[बृ० उ० ३।८।८]

हे गार्गि ! उस इस तत्त्व को ब्रह्मवेत्ता अक्षर कहते हैं।

'एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च'
[बृ० उ० ३।८।११]

हे गार्गि ! निश्चय इस अक्षर में ही आकाश ओत-प्रोत है।

'येन प्रकाशते विश्वं यत्रैव प्रविलीयते तद्ब्रह्म'
[प० ब्र० उ० २०]

जिससे यह विश्व प्रकाशित होता है और जिसमें विलीन होता है, वह ब्रह्म है।

'आकाशो वै नाम नाम रूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म'
[छा० उ० ८।१४।१]

आकाश नाम से प्रसिद्ध आत्मा नाम और रूप का निर्वाह करनेवाला है, वे [नाम और रूप] जिसके अन्तर्गत हैं; वह ब्रह्म है।

'जाग्रत्स्वप्न सुषुप्त्यादि प्रपञ्चं यत्प्रकाशते तद्ब्रह्म'
[कै० उ० १।१७]

जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति आदि प्रपञ्च जिससे प्रकाशित होते हैं, वह ब्रह्म है।

'आदिमध्यान्त शून्यं ब्रह्म' [त्रि० म० उ० १।१]
'मायातीत गुणातीतं ब्रह्म' [त्रि० म० उ० १।१]

'ब्रह्म आदि, मध्य एवं अन्त से रहित है' 'ब्रह्म मायातीत और गुणातीत है'—

'कालत्रयावाधितं ब्रह्म' [त्रि० म० उ० १।१]
'अनन्तमप्रमेयाखण्डपरिपूर्णं ब्रह्म'
[त्रि० म० उ० १।१]

['भूत, वर्तमान एवं भविष्य] तीनों कालों से जो अबाधित है, वह ब्रह्म है, 'ब्रह्म अनन्त प्रमाणों से अज्ञेय अखंड और परिपूर्ण है'

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्ब्रह्म' [तै० उ० ३।१].

'जिससे निश्चय ही ये सब भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होने पर जिसके आश्रय से जीवित रहते हैं और अन्त में विनाशोन्मुख होकर जिसमें ये लीन होते हैं, वह ब्रह्म है।'

जो ब्रह्म से लेकर स्तम्बपर्यन्त सर्वभूत प्राणियों का शरीर की दृष्टि से स्वभाव—आत्मा है, परन्तु परमार्थतः ब्रह्म ही है उसे अध्यात्म कहते हैं।

'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥'
[म० स्मृ० ३।७६]

[अग्नि में भलीभाँति दी हुई आहुति सूर्य में स्थित होती है, सूर्य से वर्षा होती है, वर्षा से अन्न होता है और अन्न से प्रजा उत्पन्न होती है।']

इस प्रकार जो सर्वभूतप्राणियों के लिए देवताओं के उद्देश्य से अग्नि में आहुति का विसर्ग—त्याग करना है, उस त्याग रूप यज्ञ को कर्म कहते हैं ॥३॥

अधिभूतं क्षरोभावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ ४ ॥

जो भूतों के संमिश्रण से बने हुये—

'क्षरः सर्वाणि भूतानि' [*यो० शि० उ० ३।१६*].

नाशवान् उत्पत्तिशील सब भूतवर्ग है, वे अधिभूत हैं। तथा जो पुरुष—पुरुषाकार होने के कारण पुरुष कहलाता है अर्थात् हिरण्यगर्भ—

'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य'[1]
[ऋ० सं० १०।१२१।१].

'आदिकर्ता स भूतानां ब्रह्माऽग्रे समवर्तत' [श्रुति].

---

१. हिरण्यगर्भ सब भूतों के अग्रगण्य थे।

जो कि सब भूतों के आदि कर्ता, सृष्टि के आदि में हुये थे, वे अधिदेव हैं। हे ! देहधारियों में श्रेष्ठ अर्जुन ! इस शरीर में—

'यज्ञो वै विष्णुः' [तै० सं० १।७।४]

अधियज्ञ मैं स्वयं विष्णु ही हूँ, जिसमें—

'तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे' [क० उ० २।३।१]

सारा ब्रह्माण्ड प्रतिष्ठित है।

'यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्' [बृ० उ० ३।७।१५]

'यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयति'[1]

[बृ० उ० ३।७।१५]

जो सब भूतों में स्थित होकर सबका नियमन करता है, तथा जो—

'सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' [श्वे० उ० ६।११]

सर्वव्यापी सर्वभूतप्राणियों का अन्तरात्मा है। तथा जो अध्यात्म, कर्म एवं अधिदैवादि नाना रूपों में स्थित है।

'अध्यात्म योगाधिगमेन देवं[2]
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥'

[क० उ० १।२।१२]

जिसको जानकर विवेकी शोक मोह से मुक्त हो जाते हैं वह नित्य अधियज्ञ मैं ही हूँ ॥ ४ ॥

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
य. प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ५ ॥

जो पुरुष—

'सगुण निर्गुणस्वरूपं ब्रह्म'[3]

[त्रि० म० उ० १।१]

---

१. जो अन्तर्यामी रूप से सबके भीतर रहकर संपूर्ण भूतों का नियमन करता है।

२. उस देव को अध्यात्मयोग की प्राप्ति द्वारा जानकर धीर पुरुष हर्ष-शोक को त्याग देता है।

३. ब्रह्म सगुण-निर्गुण स्वरूप है।

मुक्त अधियज्ञस्वरूप सगुण ब्रह्म का मरणकाल में अहंता-ममता का त्याग कर अनन्य रूपेण चिन्तन करता हुआ शरीर का त्याग करता है, वह अर्चिमार्ग के द्वारा ब्रह्मलोक को प्राप्तकर तथा वहाँ के भोगों को भोगकर मेरे भाव—मेरे निरुपाधिक स्वरूप को प्राप्त होता है। अथवा जो मुक्त अधियज्ञ स्वरूप निर्गुण निर्विशेष ब्रह्म का केवल चिदाकार वृत्ति से युक्त हो—

'सर्वमिदमहं च वासुदेवः'

'यह सब और मैं वासुदेव ही हूँ'—

'मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति'

[गी० ७।७]

मुझसे भिन्न अणुमात्र भी नहीं है। इस प्रकार सर्वत्र ब्रह्मात्मैक्य दृष्टि से मेरा सर्वदा अनुसंधान करता हुआ शरीर का त्याग करता है, वह—

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः'

[मु० उ० २।२।८]

सर्वसंशयरहित परावरैकत्व विज्ञानदर्शी लोकदृष्टि से शरीर का त्याग कर जाता हुआ भी परमार्थदृष्टि से—

'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति'[1] [बृ० उ० ४।४।६]
'अत्रैव समवलीयन्ते'[2] [बृ० उ० ४।४।६]

प्राण के उत्क्रमण के अभाव के कारण गति के अभाव होने से—

'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति'[3] [बृ० उ० ४।४।६]

यहीं ब्रह्म ही होकर ब्रह्म को प्राप्त होता है। जैसा श्रुति भी कहती है कि—

'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' [मु० उ० ३।२।९]

ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्मस्वरूप होता है, इसमें लेशमात्र भी संशय नहीं है। इसलिये जिज्ञासुओं को संशय से मुक्त होकर सदैव मेरा भजन ही करना चाहिये ॥ ५ ॥

---

१. उस सर्वात्मदर्शी के प्राण उत्क्रमण नहीं करते।
२. यहीं विलीन कर जाते हैं।
३. ब्रह्म ही होकर ब्रह्म को प्राप्त होता है।

'यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ ६ ॥

क्योंकि हे कुन्तीपुत्र !

'देहावसानसमये चित्ते यद्यद्विभावयेत् ।[1]
तत्तदेव भवेज्जीव इत्येवं जन्मकारणम् ॥'
[यो० शि० उ० १।२१]

प्रयाणकाल में यह जीव भ्रमर कीट न्याय से—

'यत्र यत्र मनो देही धारयेत् सकलंधिया ।[2]
स्नेहाद् द्वेषाद् भयाद् वापि याति तत्तत्सरूपताम् ॥'
[श्री० भा० ११।६।२२]

स्नेह, द्वेष अथवा भय से—

'यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।[3]
तं तमेव समाप्नोति नान्यथा श्रुतिशासनम्॥'
[ना० प० उ० ५।१]

जिस जिस पूर्वाभ्यस्त भाव का अर्थात् जिस किसी देवता अथवा मुझ परमात्मा का तन्मयता से नित्य-निरन्तर चिन्तन करता हुआ उस ध्येय की भावना से युक्त होकर शरीर का त्याग करता है, वह सतत स्मरण किये हुए ध्येयस्वरूप को ही प्राप्त होता है, अन्य को नहीं।

अभिप्राय यह है कि मृत्यु के पूर्व चिरकाल तक मनुष्य जिस किसी भावना से युक्त होता है, वही भावना मृत्युकाल में भी हठात् मूर्तिमान होकर सामने खड़ी हो जाती है। इसलिये विवेकी पुरुषों को चाहिए कि कभी भी

---

१. जीव देहावसान काल में चित्त में जो जो भावना करता है, वह वही वही हो जाता है, इस प्रकार यही उसके जन्म का कारण है।
२. प्राणी स्नेह से, द्वेष से या भय से जिस किसी का भी तन्मयतापूर्वक चिन्तन करता है वह उसी स्वरूप को प्राप्त हो जाता है।
३. मनुष्य जिस जिस भाव का तन्मयतापूर्वक चिन्तन करते हुए प्रयाणकाल में शरीर का त्याग करता है, वह उस उस को ही प्राप्त होता है—यह बात अन्यथा नहीं है, यह श्रुति का उपदेश है।

जन्म-मृत्यु प्रदान करने वाली असत् भावना से युक्त न हों, प्रत्युत् अमृतत्व प्रदान करने वाली मुझ अविनाशी परमात्मा की ही भावना से सदैव युक्त रहे ॥ ६ ॥

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पित मनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयः ॥ ७ ॥

अर्जुन ! इसलिये तू सर्वदा मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव का—

'एकाग्र मनसा यो मां ध्यायते हरिमव्ययम् ।'
हृतपङ्कजे च स्वात्मानं स मुक्तो नात्रसंशयः॥'
[वा० उ० १]

एकाग्रमन से स्मरण—चिन्तन कर और युद्ध भी कर ! क्योंकि बिना स्वधर्म के चित्त शुद्धि नहीं होगी और चित्तशुद्धि के बिना मेरा सतत स्मरण भी नहीं हो सकता है। इसलिए चित्तशुद्धि के द्वारा सतत स्मरण करने के लिये स्वधर्मरूप युद्ध कर। इस प्रकार तू मन और बुद्धि को मेरे अर्पण करके अर्थात् मन, बुद्धि से मुझ सगुण या निर्गुण ब्रह्म का सर्वदा चिन्तन करता हुआ निश्चित रूप से मुझे ही प्राप्त करेगा ॥ ७ ॥

अभ्यासयोग युक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ ८ ॥

हे पार्थ ! इस प्रकार योगी सतत अभ्यास और योग—एकाग्रमन से युक्त अनन्यगामी—समाहितचित्त के द्वारा चिन्तन करता हुआ अर्थात्—

'सजातीय प्रवाहश्च विजातीय तिरस्कृतिः'
[तै० वि० उ० १।१८]

सजातीय—ब्रह्माकार वृत्ति से विजातीय—अनात्माकार वृत्ति का तिरस्कार करता हुआ सर्वात्मदर्शन के द्वारा—

'वासना संपरित्यागाचित्तं गच्छत्यचित्तताम्'
[मुक्ति० उ० २।२८]

---

१. जो एकाग्रमन से मुझ अविनाशी हरि का हृदय कमल में स्वात्मरूप से ध्यान करता है, वह मुक्त है, इसमें संशय नहीं है।

वासनाओं से मुक्त हो अमनी अवस्था को प्राप्तकर मुक्त परम पुरुष परमेश्वर को प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ९ ॥

प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ १० ॥

जो योगी सर्वज्ञ, अनादि, संपूर्ण ब्रह्माण्ड के शासक—

'भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः ।[१]
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥'
[क० उ० २।३।३]

'अणोरणीयान्' [क० उ० १।२।२०]

अणु से भी अति सूक्ष्म—

'सर्वस्य धातारमचिन्त्यशक्तिम्'
[ना० प० उ० ९।१६]

सबके धारण-पोषण करनेवाले, अचिन्तनीय—

'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्'
[श्वे० उ० ३।८]

सूर्यवर्ण वाले नित्य, चेतन, प्रकाशस्वरूप और मोहात्मक अज्ञानरूपी अंधकार से सर्वथा अतीत ज्ञानस्वरूप सच्चिदानन्दघन ब्रह्म का तीव्र मोक्ष की इच्छा और वैराग्य से युक्त होकर प्राणान्तकाल में दुःसह दुःखों का ध्यान न करता हुआ अनन्य भक्ति एवं योगबल की सहायता से मन को अचल—समाहित

१. इस ब्रह्म के ही भय से अग्नि तपती है, इसी के भय से सूर्य तपता है तथा इसी के भय से इन्द्र, वायु और पाँचवाँ मृत्यु अपना अपना व्यापार करते हैं।

करके ऊर्ध्वगामिनी सुषुम्ना नाड़ी के द्वारा चित्त की शुद्धि करता हुआ भ्रकुटी के मध्य में प्राणों को भलीभाँति स्थापित करके चिन्तन करता है, वह—

'परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्'

[मु० उ० ३।२।८]

दिव्य परम पुरुष परमात्मा को प्राप्त होता है ॥ ६, १० ॥

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ ११ ॥

जिस नाशरहित अक्षर ब्रह्म को वेदवादी ब्रह्मनिष्ठ याज्ञवल्क्यादि—

'एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा[1]
अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्'

[बृ० उ० ३।८।८]

ब्राह्मण अस्थूल, अनणु, अह्रस्व और अदीर्घ कहते हैं—

'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्'

[क० उ० १।२।१४]

तथा जो धर्म-अधर्म से विलक्षण है।

'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥'

[क० उ० १।२।१५

'सारे वेद जिस परम पद का वर्णन करते हैं, समस्त तपों को जिसकी प्राप्ति का साधन कहते हैं, जिस परम पद की इच्छावाले ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते हैं, उस परम पद को संक्षेप से तुमसे कहता हूँ, 'ॐ' यही वह पद है।' तथा जिस अक्षर संज्ञक ब्रह्म में—

---

१. हे गार्गि ! निश्चय ही इस अक्षर को ब्राह्मण, अस्थूल, अनणु, अह्रस्व और अदीर्घ कहते हैं।

'संप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः'
कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः।
ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा
युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति ॥'

[मु० उ० ३।२।५].

आसक्तिशून्य, वीतराग, जितेन्द्रिय और प्रशान्त मननशील समदर्शी महात्मा प्रवेश करते हैं।

तथा जिस अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति की इच्छा से ब्रह्मचारी—

'ब्रह्मचर्येण नित्यम्' [मु० उ० ३।१।५].

ब्रह्मचर्यव्रत का नित्य पालन करते हैं, उस अक्षर नामक परम पद को संक्षेप से कहूँगा ॥ ११ ॥

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥ १२ ॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ १३ ॥

इस प्रकार जब योगी सब इन्द्रिय द्वारों को संयम में करके अर्थात् विवेक-वैराग्य-संपन्न बाह्य-विषयों के चिन्तन से मुक्त होकर संकल्प-विकल्पात्मक मन को हृदय में रोककर तथा प्राणों को मस्तक में स्थापित करके योग-धारणा के परायण हो अर्थात्—

'समाधि सिद्धिरीश्वर प्रणिधानात्'[2]

[यो० सू० २।४५].

समाधि सिद्धि के लिये ईश्वर के शरणापन्न होकर—

---

१. इस आत्मतत्व को प्राप्त होकर ऋषिगण ज्ञानतृप्त, कृतकृत्य, वीतराग और प्रशान्त हो जाते हैं। वे धीर-पुरुष उस सर्वगत् ब्रह्म को सब ओर से प्राप्तकर मृत्युकाल में समाहित चित्त से सर्वस्वरूप ब्रह्म में ही प्रवेश कर जाते हैं।

२. ईश्वर प्रणिधान से समाधि की सिद्धि होती है।

'प्रणवात्मकं ब्रह्म'[1] [त्रि० म० उ० १।१]

'तस्य वाचकः प्रणवः'[2] [यो० सू० १।२७]

'तज्जपस्तदर्थं भावनम्'[3] [यो० सू० १।२८]

'ॐ' इस प्रणवात्मक एकाक्षर ब्रह्म का उच्चारण करता हुआ तथा उसके अर्थस्वरूप मुझ तुरीयातीत परमात्मा का चिन्तन—भावना करता हुआ शरीर का त्याग करता है, वह देवयान मार्ग से क्रम से परम गति को प्राप्त होता है, जहाँ से फिर पुनरावर्तन नहीं होता ॥ १२, १३ ॥

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ १४ ॥

जो—

'शान्तो दान्त उपरतः' [बृ० उ० ४।४।२३]

शान्त, दान्त, उपरत समाहित पुरुष नाम-रूप की उपेक्षा करके सच्चिदानन्द के परायण होकर केवल—

'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति'
[छा० उ० ७।२४।१]

सर्वत्र आत्मतत्त्व को देखता, सुनता एवं समझता हुआ अनन्यरूपेण निरन्तर जीवनपर्यंत—

'स्वरूपानुसंधानं विनान्यथाचारपरो न भवेत्'
[ना० प० उ० ५।१]

स्वरूपानुसंधान के बिना अन्य आचार के परायण नहीं होता अर्थात्—

'निमिषार्धं न तिष्ठन्ति वृत्तिं ब्रह्ममयीं विना'
[ते० बि० उ० १।४७]

निमिषार्ध मात्र भी ब्रह्ममयी वृत्ति के बिना नहीं स्थित रहता।

अभिप्राय यह है कि जो—

---

१. ब्रह्म प्रणवस्वरूप है।
२. ओंकार उसका वाचक है।
३. प्रणव का जप और उसके अर्थ की भावना करनी चाहिये।

'मच्चिन्तनं मत्कथनमन्योन्यं मत्प्रभाषणम् ।
मदेक परमो भूत्वा कालं नय महामते ॥'¹
[व० उ० २।४६]

केवल मेरे चिन्तन, कथन तथा दूसरों के प्रति मेरा प्रबोधन कराने में ही—

'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' [त्रि० म० उ० ३।१]

मुझ एक अद्वितीय सच्चिदानंदघन परब्रह्म के शरणापन्न होकर समय व्यतीत करता है, उस नित्य ब्रह्मात्मैक्यदृष्टि से युक्त सर्वात्मदर्शी योगी के लिये मैं अत्यन्त सुलभ हूँ अर्थात् आसन, प्राणायाम आदि के क्लेश से रहित सुखपूर्वक सर्वत्र सर्वदा प्राप्त होने के योग्य हूँ । इसलिये योगियों को नित्य जीवनपर्यन्त समाहितचित्त होकर मेरा अनन्य चिन्तन ही करना चाहिये ॥ १४ ॥

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ १५ ॥

क्योंकि मुझ सर्वस्वरूप सच्चिदानन्दघन परमात्मा से अभेदभाव से युक्त हो महात्मागण मोक्षरूपी सर्वोत्कृष्ट सिद्धि को प्राप्तकर विनश्वर जन्म-मृत्यु आदि दुःखों के भंडार पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होते ।

'न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते'²
[छा० उ० ८।१५।१]

अर्थात्—

'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः'
[ई० उ० ७]

एकत्वदर्शन के द्वारा शोक-मोह से मुक्त हो सदा के लिए अमर हो जाते हैं ॥ १५ ॥

---

१. हे महामते ! मेरा चिन्तन, मेरा कथन और परस्पर मेरी चर्चा करो; तथा मुझ एक अद्वितीय परमात्मा के परायण होकर कालक्षेप करो ।

२. वह पुनरावर्तन को नहीं प्राप्त होता; पुनरावर्तन को नहीं प्राप्त होता ।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥

अर्जुन !

'ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं मृषामात्रा उपाधयः'
[अ० उ० १६]

ब्रह्मलोक तक अर्थात् ब्रह्मलोक सहित संपूर्ण लोक पुनरावर्ती—विनाशशील, जन्म-मृत्यु को प्राप्त होने वाले—

'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्'
[छा० उ० ६।१।४]

वाचारम्भणमात्र—मिथ्या हैं। जैसे शुक्ति के अज्ञान के कारण ही रजत की प्रतीति होती है उसके ज्ञान से नहीं, वैसे ही मुझ अधिष्ठानस्वरूप परमात्मतत्त्व के अज्ञान से ही अध्यस्त लोक-लोकान्तर की प्रतीत हो रही है; परन्तु—

'रज्जुखण्डे परिज्ञाते सर्परूपं न तिष्ठति ।[1]
अधिष्ठाने तथा ज्ञाते प्रपञ्चे शून्यतां गते ॥'
[ना० वि० उ० २७, २८]

अधिष्ठान—आत्मदृष्टि से इसका नितान्त अभाव है। जैसे रज्जु में त्रिकाल में भी सर्प नहीं है, वैसे ही—

'अजकुक्षौ जगन्नास्ति ह्यात्मकुक्षौ जगन्नहि'
[ते० बि० उ० ६।६६]

'निर्विकारे निराकारे निर्विशेषे भिदाकुतः[2]
[अ० उ० २२]

'न तु तद्द्वितीयमस्ति' [बृ० उ० ४।३।२३]

---

१. जैसे रज्जु खण्ड के सम्यक् परिज्ञान हो जाने पर सर्प का रूप नहीं रहता, वैसे ही अधिष्ठान आत्मतत्त्व का सम्यक् ज्ञान हो जाने पर प्रपञ्च शून्यता को प्राप्त हो जाता है।

२. निर्विकार, निराकार एवं निर्विशेष अद्वैत सत्ता में भेद कहाँ ?

अन एक, अद्वितीय, निराकार, निर्विकार, निर्विशेष आत्मा में द्वैताभाव होने के कारण—

'इदं प्रपञ्चं नास्त्येव नोत्पन्नं नोस्थितं क्वचित्'

[तै० बि० उ० ५।३१]

प्रपञ्च की त्रिकाल में भी सत्ता नहीं है। अतः विवेकी पुरुष जन्म-मृत्यु प्रदान करने वाले इस मिथ्या संसार से विरक्त हो—

'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वा'

[बृ० उ० ४।४।२३]

शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु और समाहित होकर—

'उपेक्षा सर्वभूतानाम्' [महा० शा० २४५।७]

नाम रूपात्मक सर्वभूतप्राणियों की उपेक्षा करके मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव के परायण होकर अर्थात्—

'सजातीय प्रवाहश्च विजातीय तिरस्कृतिः'

[तै० बि० उ० १।१८]

सजातीय—ब्रह्माकार वृत्ति से विजातीय—जगदाकार वृत्ति का निर्मूलन कर द्वैत प्रपञ्च का आत्यन्तिक अभाव देखते हुए मुझे आत्मरूप से प्राप्तकर—

'भूयस्ते न निवर्तन्ते परावरविदो जनाः'

[कु० उ० २२]

फिर पुनरावर्तन—जन्म-मृत्यु को नहीं प्राप्त होते अर्थात् अमृतत्व—कैवल्य लाभ करते हैं ॥ १६ ॥

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ १७ ॥

जो योगी —

'चतुर्युगं सहस्राणि ब्रह्मणो दिवा भवति ।[1]
तावता कालेन पुनस्तस्य रात्रिर्भवति ॥'

[त्रि० म० उ० ३।१]

१. सहस्र चतुर्युगों का ब्रह्मा का एक दिन होता है और इतने ही काल की पुनः उनकी रात्रि भी होती है।

'दैविकानां युगानां च सहस्रपरिसंख्यया।[१]
ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावती रात्रिरेव च॥'
[म० स्मृ० १।७२]

चतुर्मुख ब्रह्मा के दिन सहस्र युग की अवधिवाला तथा उनकी रात्रि भी सहस्रयुग की अवधि वाली है, ऐसा जानते हैं वे दिन-रात के रहस्य को जाननेवाले हैं।

अभिप्राय यह है कि काल से सीमित होने के कारण ब्रह्मलोक तक समस्त लोक पुनरावर्ती—नाशवान् हैं। इसलिये विवेकी पुरुषों को चाहिये कि इनकी विनश्वरता को समझकर जन्म-मृत्यु से मुक्त होने के लिये मुझ त्रिकालातीत, नित्य, निर्विकार परमात्मा की ही उपासना करें॥ १७॥

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥ १८॥

अव्यक्त कारणस्वरूप ब्रह्मा के दिन के आरम्भ काल में—

'ब्रह्मणा तन्यते विश्वं मनसैव स्वयंभुवा'
[म० उ० ४।५०]

अर्थात् जाग्रत अवस्था में यह स्थावर-जङ्गमात्मक समस्त विश्व स्वयंभू-ब्रह्मा के मानसिक संकल्प से ही कार्यरूप में प्रकट होता है और दिन भर सहस्रयुग-पर्यन्त स्थित रहता है तथा फिर—

'यदिदं दृश्यते सर्वं जगत्स्थावर जङ्गमम्।
तत्सुषुप्ताविव स्वप्नः कल्पान्ते विनश्यति॥'
[म० उ० ४,४४]

रात्रि के आने पर यह संपूर्ण दृश्यमान स्थावर-जंगमात्मक जगत् सुषुप्ति में स्वप्नवत् कल्प के अन्त में उस अव्यक्त संज्ञक ब्रह्मा में ही विलीन हो जाता है॥ १८॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वाभूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥ १९॥ —

---

१. हजार दैविक युगों का ब्रह्मा का एक दिन होता है और इतनी ही उनकी रात्रि भी होती है।

इस प्रकार यह समस्त स्थावर-जंगमात्मक भूत समुदाय—

'सूर्यचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्।[१]
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥'
[म० ना० उ० ५।७]

पूर्व कल्पानुसार प्रकृति के वश में होकर ब्रह्मा के दिन के आरम्भकाल में प्रत्येक कल्प में बार-बार उत्पन्न हो होकर रात्रि के आरम्भकाल में अर्थात् कल्प के अन्त में—

'सर्गप्रलयावश्नुतेऽवशः'[२] [श्री० भा० ११।३।७]

परवश कर्म आदि से परतन्त्र होकर न चाहने पर भी लय नाश को प्राप्त होता है। और फिर घटीयंत्र की नाईं दिन के आरंभकाल में विवश होकर उत्पन्न होता है। इस प्रकार अज्ञानी पुरुष जन्म-मृत्यु के दुःसह दुःखों को ही बार-बार प्राप्त होते रहते हैं, कभी भी जन्म-मृत्यु से छुटकारा नहीं पाते॥ १६॥

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥ २०॥

परन्तु उपर्युक्त चराचर के कारणभूत अव्यक्त से —

'अव्यक्तात्पुरुषः परः' [क० उ० १।३।११]

भिन्न, जो उसका भी कारणभूत दूसरा नित्य, अक्षर, अप्रमेय परमात्मभाव है, वह सर्वथा विलक्षण—उत्कृष्ट है; क्योंकि—

'न तस्य प्रतिमा अस्ति' [श्वे० उ० ४।१६]
'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते' [श्वे० उ० ६।८]

'उसकी प्रतिमा नहीं है' उसके समान और उससे अधिक भी कोई नहीं है। इसीलिये वह—

'नित्यः सर्वगतो ह्यात्मा कूटस्थो दोषवर्जितः॥'
[अध० उ० ५।७५]

---

१. विधाता ने सूर्य, चन्द्रमा, द्युलोक, पृथ्वी और अन्तरिक्ष की रचना पूर्व सृष्टि-क्रम के अनुसार की है।

२. यह जीव परतन्त्र होकर उत्पत्ति और प्रलय को प्राप्त होता रहता है।

'एकमेवाद्वितीयम्' [छा० उ० ६।२।१]
अधिष्ठानस्वरूप नित्य, सर्वगत, निर्विकार, एक, अद्वितीय, अविनाशी परमात्मभाव श्रेष्ठ है, जो कि अध्यस्त हिरण्यगर्भ सहित संपूर्णभूतप्राणियों के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता। जैसे कुण्डल और तरंग के नाश होने से स्वर्ण तथा जल नष्ट नहीं होता; अथवा जैसे वायु के आकाश में विलीन होने से असंसर्गी आकाश का कुछ भी नहीं बिगड़ता, वैसे ही समस्तभूत-प्राणियों के नाश होने से—

'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' [बृ० उ० ४।३।१५]
'असङ्गो न हि सज्यते' [बृ० उ० ३।६।२६]

असंसर्गी परमात्मा नाश को नहीं प्राप्त होता अर्थात् सदैव नित्य, निर्विकार ही रहता है ॥ २० ॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ २१ ॥

क्योंकि जिसको नाश रहित, इन्द्रियातीत, अव्यक्त, अक्षर कहा गया है, उसी को—

'अव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परागतिः ॥'
[क० उ० १।३।११]
'तामाहुः परमां गतिम्' [क० उ० २।३।१०]

अव्यक्त से पर—सर्वोत्कृष्ट परम गति कहते हैं, जिस—

'यत्र गत्वा न निवर्तन्ते योगिनः'[1]
[ना० प० उ० ६।२०]

परम, नित्य निर्विकार भाव को शम, दमादि संपन्न योगी प्राप्त होकर फिर संसार में नहीं लौटते, अर्थात् शरीर धारण नहीं करते—

'तद्विष्णोः परमं पदम्'[2] [ना० प० उ० ६।२०]

वही मुझ विष्णु का सर्वोत्कृष्ट परम धाम है ॥ २१ ॥

---

१. योगी जन जहाँ जा कर फिर नहीं लौटते।
२. यह विष्णु का परम पद है।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥ २२॥

जिसमें—

'यस्मिन्नोतमिदं विश्वम्' [श्री० भा० ११।६।२०]

समस्त जड़-चैतन्य भूतवर्ग स्थित है अर्थात्—

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' [तै० उ० ३।१]

जिससे समस्त विश्व सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय को प्राप्त होता है, तथा—

'येनेदं सततं व्याप्तम्'[1] [तै० उ० १।२३]
'येनावृतं नित्यमिदं हि सर्वम्'[2] [श्वे० उ० ६.२]
'ईशावास्यमिदं सर्वम्'[3] [ई० उ० १]
'एकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्'[4] [श्वे० उ० ३।६]

जिस एक अद्वितीय पुरुष से यह सब व्याप्त—आच्छादित है, वह—

'यच्च किंचिज्जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा।[5]
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः॥'

[म० ना० उ० १३।५]

अन्तर्बाह्य व्याप्त सर्वस्वरूप परम पुरुष परमात्मा केवल अनन्य भक्ति से ही प्राप्त होने योग्य है। इसलिए मुमुक्षु को चाहिए कि वह प्रथम शम, दमादि से युक्त हो—

'साक्षिभूते समे स्वच्छे निर्विकल्पे चिदात्मनि।[6]
निरिच्छं प्रतिबिम्बन्ति जगन्ति मुकुरे यथा॥'

[म० उ० ५।५५]

---

१. जिससे यह संपूर्ण ब्रह्माण्ड सतत व्याप्त है।
२. जिससे यह सब जगत् नित्य आच्छादित है।
३. यह सब जगत् ईश्वर के द्वारा आच्छादनीय है।
४. उस एक पुरुष के द्वारा संपूर्ण जगत परिपूर्ण है।
५. जो कुछ भी यह संपूर्ण जगत् देखने अथवा सुनने में आता है, उस सबको बाहर भीतर से व्याप्त करके एक नारायण ही स्थित है।
६. साक्षिभूत, सम, स्वच्छ, निर्विकल्प दर्पण जैसे चिदात्मा में यह त्रैलोक्य बिना इच्छा के ही प्रतिबिम्बित हो रहा है।

निषेधमुख से साक्षिभूत, सम, स्वच्छ, निर्विकल्प चिदात्मा में दर्पण में प्रतिबिम्ब के समान केवल आभास रूप से स्थित इस मिथ्या नाम-रूपात्मक जगत् की उपेक्षा करके—

'सजातीय प्रवाहश्च विजातीय तिरस्कृतिः'
[तै० वि० उ० १।१८].

ब्रह्माकार वृत्ति के द्वारा विजातीय अब्रह्माकार वृत्ति का निरास करके, विधि रूप से—

'सर्पादौ रज्जुसत्तेव ब्रह्मसत्तैव केवलम्।
प्रपञ्चाधाररूपेण वर्ततेऽतो जगन्नहि॥'
[श्रा० प्र० उ० १२].

सर्पादि में रज्जुसत्तावत् प्रपञ्चाधार रूप से केवल ब्रह्मसत्ता को ही देखता हुआ *जगत् के आत्यन्तिक अभाव का अनुभव करे।*

तात्पर्य यह है कि शुद्ध सत्त्व होकर *अनन्यभक्ति के द्वारा*—

'अन्वय व्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा'
[श्री० भा० २।६।३५].

अन्वय-व्यतिरेक दृष्टि से सर्वत्र सर्वदा परमात्मतत्त्व को ही देखता, सुनता एवं समझता हुआ स्थित रहे अर्थात् ब्रह्मात्मैक्य अभेद भक्ति से ही सदैव युक्त रहे॥ २२॥

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ॥ २३॥

जिस उत्तरायण—देवयानमार्ग से गये हुए कालान्तर में मुक्त होनेवाले अरण्यवासी श्रद्धा, तप के उपासक वानप्रस्थी, संन्यासी तथा नैष्ठिक ब्रह्मचारी पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होते और जिस दक्षिणायन—पितृयानमार्ग से गये हुए इष्ट-पूर्तादि के करने वाले कर्मी गृहस्थ पुनर्जन्म को प्राप्त होते हैं, उस मार्ग को मैं तुमसे कहूँगा, ध्यानस्थ होकर सुनो॥ २३॥

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥ २४॥

अरण्यवासी वानप्रस्थी, संन्यासी और नैष्ठिक ब्रह्मचारी सगुणोपासक तथा प्रतीकोपासक ब्रह्मवेत्तागण प्राणप्रयाण के पश्चात् अग्नि—ज्योति के अभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं और उससे दिवसाभिमानी देवता को और दिवसाभिमानी देवता से शुक्लपक्षाभिमानी देवता को और शुक्लपक्षाभिमानी देवता से उत्तरायण के छः महीने के अभिमानी देवता को प्राप्त कर क्रम से ब्रह्म को प्राप्त होकर पुनरावर्तन को प्राप्त नहीं होते। जैसा श्रुति भी कहती है कि—

> 'ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषम-
> भिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्य-
> माणपक्षाद्यान्षडुदङ्ङेति मासाँ स्तान्।
> मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं
> चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान्ब्रह्म
> गमयत्येष देवयानः पन्था इति॥'
>
> [छा० उ० ५।१०।१;२]

'ये जो कि वन में श्रद्धा और तप की उपासना करते हैं, वे प्राणान्त के पश्चात् अर्चि के अभिमानी देवताओं को प्राप्त होते हैं; अर्चि के अभिमानी देवताओं से दिवसाभिमानी देवताओं को, दिवसाभिमानी देवताओं से शुक्लपक्षाभिमानी देवताओं को, शुक्लपक्षाभिमानी देवताओं से जिनमें सूर्य उत्तरायण होता है, उन छः महीनों को, उन छः महीनोंसे संवत्सर को, संवत्सर से आदित्य को, आदित्य से चन्द्रमा को और चन्द्रमा से विद्युत को प्राप्त होते हैं। वहाँ एक अमानव पुरुष है, वह उन्हें ब्रह्म [कार्यब्रह्म] को प्राप्त करा देता है। यह देवयान मार्ग है।'

> 'एष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना
> इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते नावर्तन्ते'
>
> [छा० उ० ४।१५।५]

'यह देवयान—ब्रह्ममार्ग है, इससे जाने वाले पुरुष इस मानव मंडल में नहीं लौटते, नहीं लौटते।'

> 'तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये
> शान्ताविद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः।
> सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति
> यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा॥'
>
> [मु० उ० १।२।११]

'जो शान्त और विद्वान् भिक्षाचर्या करते हुए वनों में तप और श्रद्धा सहित निवास करते हैं, वे रजोगुण रहित सूर्यद्वार से उस स्थान को जाते हैं, जहाँ अमृत और अव्यय पुरुष रहता है।'

परन्तु जो सम्यक् ज्ञानी हैं अर्थात् जिनकी दृष्टि में आत्मा से भिन्न कुछ भी नहीं है, वे इस मार्ग का अवलंबन नहीं करते; क्योंकि—

'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति
अत्रैव समवलीयन्ते' [बृ० उ० ४।४।६]

उनके प्राण उत्क्रमण नहीं करते, ब्रह्म के साथ ब्रह्म होकर यहीं लीन हो जाते हैं ॥ २४ ॥

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥ २५ ॥

परन्तु जो इष्ट-पूर्तादि के उपासक कर्मयोगी गृहस्थ हैं, वे प्राणान्त के पश्चात् धूमाभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं और उससे रात्रि के अभिमानी देवता को और रात्रि के अभिमानी देवता से, कृष्णपक्षाभिमानी देवता को और कृष्णपक्षाभिमानी देवता से दक्षिणायन के छः महीने के अभिमानी देवता को और उससे चंद्रमा की ज्योति का अर्थात् कर्मफल भोग को प्राप्तकर, उसको भोगने के पश्चात् फिर पुनर्जन्म को प्राप्त होते हैं। जैसा कि श्रुति भी कहती है—

य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते
ते धूममभिसंभवन्ति धूमाद्रात्रिं रात्रेरपरपक्षम-
परपक्षाद्यान्षड्दक्षिणैति मासा स्तान्नैते संवत्सर-
मभिप्राप्नुवन्ति। मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाका-
शमाकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं
तं देवा भक्षयन्ति।' [छा० उ० ५।१०।३,४]

ये जो ग्राम में इष्ट, पूर्त और दत्त—ऐसी उपासना करते हैं, वे धूम को प्राप्त होते हैं; धूम से रात्रि को; रात्रि से कृष्णपक्ष को; कृष्णपक्ष से उन छः महीनों को प्राप्त होते हैं; जिनमें सूर्य दक्षिणायन को प्राप्त होता है; ये संवत्सर को प्राप्त नहीं होते। दक्षिणायन के मासों से पितृलोक को; पितृलोक

से आकाश को, आकाश से चन्द्रमा को प्राप्त होते हैं। यह चन्द्रमा राजा सोम है, यह देवों का अन्न है, उसे देव भोगते हैं।

'तस्मिन्यावत्संपातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते'

[छा० उ० ५।१०।५]

'उस लोक में कर्मक्षय पर्यन्त निवास करके पूर्ववत् इसी मार्ग से पुनः लौट आते हैं।'

'नाकस्यपृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वे-
मं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥'

[मु० उ० १।२।१०]

वे स्वर्गलोक के उच्च स्थान में अपने सुकृत फलों का अनुभव कर इस मानव लोक अथवा इससे भी हीनतर योनि में प्रवेश करते हैं॥ २५ ॥

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥ २६ ॥

ब्रह्म प्राप्ति का हेतु होने से श्रेष्ठ ज्ञानयुक्त और प्रकाशमय शुक्ल—देवयान मार्ग और संसार का हेतु होने से निकृष्ट अज्ञानयुक्त तमोमय कृष्ण-पितृयान मार्ग—ये जगत् के दो सनातन मार्ग हैं, जिनमें शुक्लमार्गावलंबी पुरुष—

'न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते'

[छा० उ० ८।१५।१]

पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होता और—

'अयने दक्षिणे प्राप्ते प्रपञ्चाभिमुखं गतः'[१]

[त्रि० ब्रा० उ० १५]

कृष्णमार्गावलम्बी पुरुष पुनर्जन्म को प्राप्त होता है॥ २६ ॥

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥ २७ ॥

हे पार्थ! इन उपर्युक्त दोनों मार्गों को जानने वाला कोई भी योगी मोह को प्राप्त नहीं होता अर्थात् कृष्णमार्ग को बंधन और शुक्लमार्ग को

१. दक्षिणायन को प्राप्त होने पर जीव प्रपञ्चाभिमुख होता है।

मोक्ष का हेतु समझकर कभी भी बंधन के हेतुभूत कृष्णमार्ग का अवलंबन नहीं करता, केवल शुक्लमार्ग के ही परायण रहता है। इसलिये हे अर्जुन! तुम भी मोक्ष को प्राप्त करने के लिये—

'निद्राया लोकवार्तायाः शब्दादेरात्मविस्मृतेः।
क्वचिन्नावसरं दत्त्वा चिन्तयात्मानमात्मनि ॥'

[अ० उ० ५]

निद्रा, लोकवार्ता तथा शब्दादिक विषयों से आत्मविस्मृति को लेशमात्र भी अवकाश न देते हुए सदैव तत्पर होकर सर्वकाल में अर्थात् आहार-विहार, शयनादि सर्वकाल में नित्य-निरन्तर जीवनपर्यन्त—

'स्वरूपानुसंधानं विनान्यथाचारपरो न भवेत्'

[ना० प० उ० ५।१]

केवल स्वरूपानुसंधान रूप योग के ही परायण होओ, बाह्य अनात्म बुद्धि का अवलंबन मत करो ॥ २७ ॥

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥ २८ ॥

साङ्गोपाङ्ग नियमतः वेदाध्ययन करने पर अश्वमेधादि यज्ञों का विधिवत् अनुष्ठान करने पर कृच्छ्रचांद्रायणादि व्रतों का संपूर्णता से पालन करने पर या देश, काल एवं पात्रानुसार दान देने पर उन पुण्य कर्मों के करने वालों को—

'कर्मणा पितृलोको विद्यया देव लोकः'[1]

[बृ० उ० १।५।१६]

'यज्ञैर्देवत्वमाप्नोति तपोभिर्ब्रह्मणः पदम्।[2]
दानेन विविधान्भोगाञ्ज्ञानान्मोक्षमवाप्नुयात् ॥

[स्मृति]

---

१. कर्म से पितृलोक तथा विद्या से देव लोक प्राप्त होता है।

२. पुरुष यज्ञों के द्वारा देवत्व को प्राप्त करता है, तप से ब्रह्मलोक, दान से नाना प्रकार के भोग और ज्ञान से मोक्ष प्राप्त करता है।

जो जो स्वर्गादि फल प्राप्त होता है, उन सब लोकों के सुखों का मेरे द्वारा निर्णीत —

'अक्षरं ब्रह्म परमम्' [गी० ८।३]

आदि इन सात प्रश्नों के रहस्य को समझकर सम्यक् अनुष्ठान करने वाला समाहितचित्त ध्याननिष्ठ योगी सुखातिशयता के कारण अतिक्रमण कर जाता है। तथा फिर ज्ञानी होकर—

'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' [श्रुति]

आदि मूल कारण ब्रह्म के परम पद को प्राप्त होता है अर्थात् कैवल्य लाभ करता है ॥ २८ ॥

॥ आठवाँ अध्याय समाप्त ॥

नवाँ अध्याय

राजविद्या-राजगुह्य योग

॥ ॐ ॥

नवाँ अध्याय

आठवें अध्याय में भगवान् ने शुक्ल—देवयानमार्ग से कालांतर में मुक्त होने वालों की अपुनरावृत्ति-गति को बतलाया; परन्तु अब इस राजविद्या राजगुह्य योग नामक नवें अध्याय में साक्षात् मोक्ष—सद्योमुक्ति का साधन बतलाने के लिये बोले।

श्री भगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १ ॥

श्री भगवान् बोले—अर्जुन! तुझ अनसूया—दोषदृष्टि रहित अत्यन्त श्रद्धालु शुद्धान्तःकरण शिष्य के लिये वेदों के गुह्यतम—गोपनीय अतिरहस्य-युक्त विज्ञान—अपरोक्षानुभवसहित साक्षात् मोक्षप्राप्ति के साधन इस सम्यक् ज्ञान को कहूँगा अर्थात्—

'द्वितीयाद्वै भयं भवति' [बृ० उ० १।४।२]

द्वैत दर्शन से भय होता है और—

'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः'
[ई० उ० ७]

अद्वैत दर्शन से निर्भयता प्राप्त होती है।

'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेह नानास्तिकिंचन'
[त्रि० म० उ० ३।१]

ब्रह्म एक अद्वितीय ही है, इसमें नानात्व किंचित् मात्र भी नहीं है—

'सर्वमिदमहं च ब्रह्मैव'
'अहमेवेदं सर्वम्' [छां० उ० ७।२५।१]
'मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति' [गी० ७।७]

'यह सब और मैं ब्रह्म ही हूँ', 'यह सब मैं ही हूँ', 'मुझसे भिन्न अणुमात्र भी नहीं है'—इस अपरोक्षानुभव युक्त विज्ञान सहित ज्ञान को कहूँगा, जिसको जानकर तू अशुभ—सब दुःखों के हेतु भूत संसार से शीघ्र ही मुक्त हो जायेगा ॥ १ ॥

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥

यह ज्ञान—

'अध्यात्मविद्या विद्यानाम्' [गी० १०।३२]
तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं यतः[1]
[म० स्मृ० १२।८५]

समस्त विद्याओं में सर्वोपरि है अर्थात्—

'अन्यविद्या परिज्ञानमवश्यं नश्वरं भवेत्'[2]
[शु० र० उ० ३।१४]

अन्य वेद शास्त्रादि बंधनकारक, नश्वर विद्याओं की अपेक्षा—

'ब्रह्मविद्यापरिज्ञानं ब्रह्मप्राप्तिकरं स्थितम्'[3]
[शु० र० उ० ३।१४]

ब्रह्मविद्या ब्रह्मप्राप्ति का हेतु होने के कारण श्रेष्ठ है। तथा यह ज्ञान राजगुह्य है अर्थात्—

'सर्वेषां चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम्'[4]
[म० स्मृ० १२।८५]

समस्त गोप्यों से भी अति गोप्य—श्रेष्ठ है।

तथा इस ज्ञान—

'नास्ति ज्ञानात्परं किंचित्पवित्रं पाप नाशनम्'
'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'
[गी० ४।३८]

---

१. समस्त विद्याओं में भी अध्यात्मविद्या ही सबसे उत्कृष्ट है, क्योंकि उसी से अमृतत्व की प्राप्ति होती है।
२. अन्य विद्याओं का परिज्ञान अवश्य ही नश्वर होता है।
३. ब्रह्मविद्या का परिज्ञान निश्चय ही ब्रह्मप्राप्ति करानेवाला है।
४. इन सब साधनों से आत्मज्ञान ही उत्कृष्ट कहा गया है।

के सदृश पापनाशक अन्य कोई भी साधन नहीं है, क्योंकि—

'सर्वेषां कैवल्यमुक्तिर्ज्ञानमात्रेणोक्ता ।
न कर्म सांख्य योगोपासनादिभिः ॥'

[मुक्ति० उ० १।५६]

सबकी कैवल्य मुक्ति ज्ञान मात्र से ही कही गई है, कर्म, सांख्य, योग, उपासना आदि से नहीं।

तात्पर्य यह है कि यह ज्ञान अनेक जन्म के संचित सर्वपापों को क्षणमात्र में ही भस्म करने में समर्थ है। इसलिये अत्यंत पवित्र है एवं उत्तम भी है। साथ ही यह ज्ञान विवेकियों से प्रत्यक्ष अनुभव में आनेवाला है तथा यह सभी वर्णाश्रमावलंबियों के धर्मानुकूल है, इसलिए भी सबसे प्राशस्त्य है। तथा विशुद्धांतःकरण पुरुषों के द्वारा सुख से—अनायास ही अनुभव करने योग्य है। तथा यह मोक्षरूपी अक्षय फल प्रदान करने के कारण अव्यय है। इसलिये मुमुक्षुओं को इस सर्वोत्कृष्ट ज्ञान की प्राप्ति के लिये—

'शान्तोदान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वा'

[बृ० उ० ४।४।२३]

शम, दमादि से संपन्न होकर अतिशय श्रद्धा-भक्ति पूर्वक इसका अनुष्ठान करना चाहिये ॥ २ ॥

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

परन्तु जो अशुद्धांतःकरण पुरुष इस ज्ञान संज्ञक धर्म की श्रद्धा से रहित है अर्थात् जो आसुरी वृत्ति से युक्त होने के कारण मोक्ष प्राप्ति के श्रेष्ठ साधन ज्ञान का मूढ़तावश तिरस्कार करते हैं, वे अनात्मदर्शी मुझ ज्ञान स्वरूप परमात्मा को न प्राप्त कर द्वैतदर्शन के कारण मृत्यु से व्याप्त संसार-मार्ग में-

'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति'

[बृ० उ० ४।४।१६]

मृत्यु से मृत्यु को अर्थात्—

'असुर्या नाम ते लोकाः' [ई० उ० ३]

आसुरी तिर्यगादि नारकी योनियों को बार-बार प्राप्त होते रहते हैं ॥ ३ ॥

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ४ ॥

मुझ अव्यक्त परमात्मा—

'ईशावास्यमिदं सर्वम्' [ई० उ० १]

के द्वारा यह समस्त जड़ चैतन्य जगत् स्वर्ण से कुण्डलवत् आच्छादित—परिपूर्ण है अर्थात्—

'यथा मृदि घटो नाम कनके कुण्डलाभिधा ।¹
शुक्तौ हि रजतख्यातिर्जीव शब्दस्तथा परे ॥'
[यो० शि० उ० ४।१४]

जैसे स्वर्ण में कुण्डल की केवल प्रतीतिमात्र है, वस्तुतः कुण्डल नाम की कोई वस्तु नहीं; केवल स्वर्ण ही कुण्डलाकार होकर भासता है, वैसे ही मुझ परमात्मा में—

'प्रतिभासत एवेदं न जगत्परमार्थतः'
[म० उ० ५।१०८]

नाम रूपात्मक जगत् की केवल प्रतीतिमात्र है, परमार्थतः जगत् नाम की कोई वस्तु नहीं—

'जगन्नाम्ना चिदाभाति सर्वं ब्रह्मैव केवलम्'
[यो० शि० उ० ४।१८]

केवल मैं ही जगदाकार होकर भास रहा हूँ। वस्तुतः—

'निर्विकारे निराकारे निर्विशेषे भिदा कुतः'
[अ० उ० २२]

मुझ निर्विकार, निराकार, निर्विशेष सत्ता में जगत् प्रपञ्च का अभाव है। इसलिये—

---

१. जिस प्रकार मृत्तिका में घट, कनक में कुण्डल और शुक्ति में रजत नाम मात्र को है, उसी प्रकार परब्रह्म में जीव शब्द भी कल्पित नाम मात्र है।

'व्याप्यव्यापकता मिथ्या सर्वमात्मेति शासनात्'[१]

[यो० शि० उ० ४।४]

व्याप्य-व्यापक भाव भी मिथ्या है, क्योंकि सब कुछ ब्रह्म ही है। परंतु ऐसा होने पर भी मूढ़ों को नाम-रूपात्मक जगत् के सत्यत्व की प्रतीति होती है, इसलिये कहता हूँ कि मुझमें यह समस्त भूतवर्ग स्वर्ण में कुण्डलवत्, रज्जु में सर्पवत् और शुक्ति में रजतवत् स्थित है। तात्पर्य यह है कि भूत प्राणियों की दृष्टि से ही मैं उनका अधिष्ठान हूँ। जैसे स्वर्ण, रज्जु और सीपी के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान न होने के कारण ही कुण्डल, सर्प और रजत् की प्रतीति होती है, वस्तुतः उनके ज्ञान से कुण्डलादि का अभाव है; वैसे ही मुझ परमात्मतत्त्व का ज्ञान न होने के कारण ही मिथ्या भूतप्राणियों की प्रतीति हो रही है, परंतु —

'अधिष्ठाने तथा ज्ञाते प्रपञ्चे शून्यतां गते'

[ना० वि० उ० २८]

अधिष्ठान परमात्म-दृष्टि से भूतप्राणियों का आत्यंतिक अभाव है, इसलिये मैं इनमें स्थित नहीं हूँ। वस्तुतः—

'उपादानं प्रपञ्चस्य ब्रह्मणोऽन्यन्न विद्यते।
तस्मात्सर्वं प्रपञ्चोऽयं ब्रह्मैवास्ति न चेतरत् ॥'

[यो० शि० उ० ४।३]

'मद्व्यतिरिक्तमणुमात्रं न विद्यते'

[त्रि० म० उ० ८।१]

मुझ उपादानस्वरूप परमात्मा के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं, इसलिए उन भूतप्राणियों का वास्तविक स्वरूप भी मैं ही हूँ। परंतु मूढ़ों को भेद-दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है कि मैं उनमें स्थित हूँ। इसलिये अभेद दृष्टि से व्याप्य व्यापक भाव मिथ्या होने के कारण कहता हूँ कि मैं उन भूतों में स्थित नहीं हूँ।

दूसरे—

'आकाशवत्सर्वगतश्च पूर्णः' [श्रुति]

---

१. सब कुछ आत्मा ही होने से व्याप्य—व्यापक भाव मिथ्या है, ऐसा श्रुति का उपदेश है।

'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' [बृ० उ० ४।३।१५]

'आलेपकं सर्वगतं यदद्वयम्'[1] [मुक्ति० उ० २।७३]

मैं सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमात्मा आकाशवत् सर्वगत, पूर्ण एवं असंग होने के कारण भी उन भूतों में स्थित नहीं हूँ ॥ ४ ॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ५ ॥

चूँकि मुझ—

'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' [बृ० उ० ४।३।१५]

'एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन'
[अ० उ० ६३]

'उपादानं प्रपञ्चस्य ब्रह्मणोऽन्यन्न विद्यते ।
तस्मात्सर्वं प्रपञ्चोऽयं ब्रह्मैवास्ति न चेतरत् ॥'
[यो० शि० उ० ४।३]

सत् एक, अद्वितीय, असंग, उपादानस्वरूप परमात्मा से भिन्न अद्वितीय नाम की कोई वस्तु नहीं है, इसलिये मुझ—

'निर्विकारे निराकारे निर्विशेषे भिदा कुतः'
[अ० उ० २२]

निर्विकार, निराकार, निर्विशेष परमात्मा में भूतवर्ग स्थित नहीं है अर्थात् मैं विश्व का आधाराधेय नहीं हूँ। परंतु फिर भी मेरी सर्वाश्चर्यमयी ईश्वरीय योगमाया और ऐश्वर्य को ज्ञानचक्षु से देख कि मैं सब भूतों में तथा सब भूत मुझमें प्रतीत होते हैं। तथा मैं प्रपंचाधार रूप आरोपित सर्वभूतों को सत्ता प्रकाश देनेवाला और स्वरूपभूत उनका भरण-पोषण करने वाला होने पर भी उन भूतों में स्थित नहीं हूँ। तात्पर्य यह है कि—

'सर्पादौ रज्जुसत्तेव ब्रह्मसत्तैव केवलम् ।
प्रपञ्चाधाररूपेण वर्ततेऽतो जगन्न हि ॥'
[आ० प्र० उ० १२]

---

१. जो अद्वितीय ब्रह्म सर्वगत् निर्लेप है ।

जैसे रज्जु में सर्प एवं शुक्ति में रजत का अभाव है; अथवा जैसे—

> 'यथा वन्ध्यासुतो नास्ति यथा नास्ति मरौ जलम्।[1]
> यथा नास्ति नभोवृक्षस्तथा नास्ति जगत्स्थितिः॥'
> [यो० शि० उ० ४।१८,१६]

वन्ध्या-पुत्र नहीं है, मरु में जल नहीं है और आकाश में वृक्ष नहीं है, वैसे ही—

> 'अजकुक्षौ जगन्नास्ति ह्यात्मकुक्षौ जगन्नहि।'
> [ते० बि० उ० ६।६६]

मुझ एक, अद्वितीय, अज परमात्मसत्ता में जगत् का अभाव है, परंतु ऐसा होने पर भी नाम-रूपात्मक जगत् की प्रतीति होती है, इसलिए कहता हूँ कि *भूतों को उत्पन्न तथा भरण पोषण करता हुआ भी परमार्थदृष्टि से मैं असंग* सच्चिदानंदघन ब्रह्म भूतों में स्थित नहीं हूँ ॥ ५ ॥

> यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
> तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥

जैसे सर्वत्र विचरनेवाले महान् वायु के सदा आकाश में स्थित रहने पर भी अर्थात् सृष्टि, स्थिति एवं लय का प्राप्त होते रहने पर भी असंसर्गी आकाश उससे निर्लिप्त ही रहता है, वैसे ही—

> 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' [श्रुति]
> 'असङ्गो न हि सज्यते' [बृ० उ० ३।६।२६]

मुझ सर्वगत् और असंसर्गी परमात्मा में सम्पूर्ण भूत निर्लिप्तरूप से स्थित हैं; ऐसा जान ॥ ६ ॥

> सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
> कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

हे कुन्ती पुत्र ! सम्पूर्ण प्राणी प्रलयकाल में—

---

१. जिस प्रकार वन्ध्या का पुत्र नहीं है, जिस प्रकार मरुस्थल में जल नहीं है तथा जैसे आकाश का वृक्ष नहीं है, उसी प्रकार जगत् की सत्ता नहीं है।

'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्'
[श्वे० उ० ४।१०]

मेरी त्रिगुणात्मिका अपरा प्रकृति में लीन हो जाते हैं और फिर मैं उन प्राणियों को पूर्ववत् उनके संस्कारानुसार सृष्टि के आदि काल में रचता हूँ।

जैसा मनुजी ने भी कहा है—

'आसीदिदं तमो भूतम्' [म० स्मृ० १।५]
'सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्' [म० स्मृ० १।८]

'पहले यह सब तम रूप था' 'उस परमेश्वर ने ध्यान करके सृष्टि के आदि में अपने शरीर-संकल्प से सबकी रचना की' ॥ ७ ॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥

इस प्रकार मैं परमेश्वर

' मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्"
[श्वे० उ० ४।१०]
"अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्"[1] [श्वे० उ० ४।६]

अपनी वैष्णवी प्रकृति का अवलम्बन कर चुम्बकवत् जड़ प्रकृति को चेतनता प्रदान करके केवल संकल्प मात्र से इस संपूर्ण भूतवर्ग को 'जो कि राग, द्वेष तथा कर्मादि से परतन्त्र प्रकृति के वश में हो रहा है' बारम्बार रचता हूँ ॥ ८ ॥

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

हे धनंजय ! इन भूतप्राणियों के सृष्टि, स्थिति एवं प्रलयादि कर्म—

"निरिच्छत्वादकर्ताऽसौ"[2] [म० उ० ४।१४]
"नात्मानं माया स्पृशति" [नृ० पू० उ० १।५।१]

---

१. इस माया से मायावी—ईश्वर इस विश्व की रचना करता है।
२. यह ब्रह्म इच्छारहित होने के कारण अकर्ता है।

मुझ निरिन्द्र, अकर्ता, मायातीत ईश्वर को बन्धन में नहीं डालते, क्योंकि मैं—

"निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्" [श्वे० उ० ६।१६]

"असङ्गो न हि सज्यते" [वृ० उ० ३।६।२६]

"साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च"[श्वे० उ० ६।११]

निष्कल, निष्क्रिय, शान्त तथा असंग हूँ। मैं सूर्यवत् तथा आकाशवत् भूतप्राणियों की सृष्टि आदि कर्मों में कर्तृत्वाभिमान एवं फलासक्ति से रहित अनासक्त, उदासीनवत्, साक्षी रूप से स्थित रहता हूँ, क्योंकि उनकी सृष्टि तो उनके पूर्व कर्मानुसार प्रकृति से ही होती है, मुझ—

"अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता"[1] [ना० प० उ० ६।८]

"निर्दोषं हि समं ब्रह्म" [गी० ५।१६]

अनन्त, अकर्ता, निर्दोष सम ब्रह्म का उनसे कोई भी राग-द्वेष नहीं। इस प्रकार जो कोई भी कर्तृत्वाभिमान एवं फलासक्ति से रहित राग-द्वेष शून्य पुरुष अपने को इन्द्रियातीत—

"स्वमसङ्गमुदासीनं परिज्ञाय नभो यथा।[2]
न श्लिष्यते यतिः किंचित्कदाचिद्भावि कर्मभिः"॥

[अ० उ० ५१]

आकाशवत् असंग, उदासीन एवं साक्षी समझकर कर्म करता है, उसे भी त्रिगुणात्मक इन्द्रियों के कर्म किंचित् मात्र कभी भी बाँधते नहीं ॥ ६ ॥

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥ १० ॥

हे कुन्तीपुत्र।

'प्रकृतिर्ह्यस्योपादानमाधारः पुरुषः परः'[3]

[श्री० भा० ११।२४।१६]

---

१. यह आत्मा अनन्त, विश्वरूप एवं अकर्ता है।

२. यति अपने को आकाशवत् असंग और उदासीन जानकर भावी कर्मों के द्वारा किंचित् मात्र कभी भी लिपायमान नहीं होता।

३. इस जगत् का उपादान कारण प्रकृति और आधार पर पुरुष परमात्मा है।

मुझ परमेश्वर की अध्यक्षता—साक्षित्व में ही—

'ईश्वरस्य महामाया तदाज्ञावशवर्तिनी'

[त्रि० म० उ० ४।१]

'एषा माया भगवतः सर्गस्थित्यन्तकारिणी'[1]

[श्री० भा० ११।३।१६]

मेरी आज्ञा के अनुसार उपादानस्वरूप महामाया प्रकृति मुझसे चेतनता को प्राप्त करके जीवों के कर्मानुसार समस्त चराचर जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय करती है; परन्तु मैं—

'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च'

[श्वे० उ० ६।११]

केवल साक्षी रूप से स्थित रहता हूँ। इस प्रकार इस हेतु से अर्थात् मुझ साक्षी के सन्निधि मात्र से ही प्रकृति के द्वारा समस्त जगत् बार-बार सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय को प्राप्त होता रहता है ॥ १० ॥

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥ ११ ॥

मूढ—

'मूर्खो देहाद्यहं बुद्धिः'

[श्री० भा० ११।१६।४२]

देहात्मबुद्धि से युक्त अविवेकी पुरुष मुझ सर्वाधिष्ठानस्वरूप—

'महतो महीयान्' [श्वे० उ० ३।२०]

'तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्' [श्वे० उ० ६।७]

सर्वलोकमहेश्वर के—

'प्रकृतेः परः' [वि० पु० २।१४।२६]

'सा काष्ठा सा परागतिः' [क० उ० १।३।११]

परम—सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मभाव को न जानकर अर्थात् 'मैं ईश्वर ही समस्त विश्व के सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय का एक मात्र कारण हूँ' इस रहस्य को न

---

१. भगवान् की यह माया सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय करने वाली है ।

जानकर मुझे मनुष्य शरीरधारी सामान्य पुरुष समझ कर मेरा तिरस्कार करते हैं ॥ ११ ॥

> मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
> राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥ १२ ॥

अर्जुन ! जो राक्षसी, आसुरी और बुद्धिनाशक तमोगुणी प्रकृति के आश्रित रहनेवाले देहाभिमानी केवल काम-भोग के ही परायण हैं, तथा जिनके—

> 'अग्निहोत्रं च वेदाश्च राक्षसानां गृहे गृहे'।
> दया सत्यं च शौचं च राक्षसानां न विद्यते ॥[1]

घर-घर में अग्निहोत्र और वेद होते हैं, परन्तु जो दया, सत्य और शौच से शून्य हैं, वे इन्द्रिय-लोलुप स्वेच्छाचारी पुरुष मिथ्या सांसारिक भोगों में आसक्त होने से मुझ सत्यस्वरूप परमात्मा की श्रद्धा-भक्ति से रहित होने के कारण बन्धन को ही प्राप्त होते रहते हैं। इसीलिये वे मिथ्या-निष्फल आशा वाले, मिथ्या-कर्मवाले, मिथ्या-ज्ञानवाले तथा विक्षिप्तचित्त—विवेकशून्य होते हैं, अनेक—

> 'असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह'
> [गी० १७।२८]

मिथ्या यज्ञ, दान एवं तपादि का न इस लोक में फल होता है और न परलोक में ही ॥ १२ ॥

> महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
> भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ १३ ॥

परन्तु श्रद्धा-भक्ति समन्वित महाभागगण—

> 'शान्ति दान्त्यादिभिः सर्वैः साधनैः सहितो भवेत्'[2]
> [ना० प० उ० ६।२२]

---

१. अग्निहोत्र एवं वेद तो राक्षसों के भी प्रत्येक घर में होते हैं, किन्तु दया, सत्य और पवित्रता राक्षसों में नहीं होते ।

२. शम, दमादि सभी साधनों से युक्त होना चाहिये ।

शम, दम, सत्य, अहिंसादि दैवी प्रकृति का आश्रय लेकर विशुद्धसत्त्व हो, मुक्त अविनाशी परमात्मा को समस्तभूतप्राणियों का आदिमूल कारण तथा सर्वाधिष्ठान समझकर—

'उपेक्षा सर्वभूतानाम्' [महा० शा० २४५।७]

'दृश्यं ह्यदृश्यतां नीत्वा ब्रह्माकारेण चिन्तयेत्' [ते० बि० उ० १।५०]

नाम-रूपात्मक सर्वभूतप्राणियों की उपेक्षा करके और सच्चिदानन्द के परायण होकर अर्थात् दृश्य को अदृश्य चिन्मयावस्था में लाकर केवल ब्रह्मरूपेण अनन्यमन से तैलधारावत् अविच्छिन्न रूप से सर्वत्र देखते, सुनते एवं समझते हुए भजन करते हैं ॥ १३ ॥

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ १४ ॥

बुद्ध—

'अहिंसासत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः'[1] [यो० द० २।३०]

अहिंसा, सत्य आदि के दृढव्रती जिज्ञासु पुरुष यमादि के द्वारा इन्द्रिय, मन को वश में करते हुए—

'हरेर्नाम्नश्च या शक्तिः पाप निर्हरणे द्विज ।
तावत्कर्तुं समर्थो न पातकं पातकी जनः ॥' [ग० पु०]

'हरि नाम में पापों के हरने की जितनी शक्ति है उतना पाप कोई भी पातकी पुरुष करने में समर्थ ही नहीं है, [इस रहस्य को जानकर] श्रद्धा-भक्ति-युक्त होकर—

'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ।
हरेकृष्ण हरेकृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥' [कलि० उ०]

---

१. अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह—ये यम हैं ।

आदि मन्त्रों तथा स्तोत्रों के द्वारा तन्मयतापूर्वक सर्वदा कीर्तन करते हुए तथा प्रेमाभक्ति से मुझ सर्वस्वरूप वासुदेव को नमस्कार करते हुए तैल-धारावत् अविच्छिन्न रूप से—

'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।'
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥'
[श्री० भा० ७।५।२३]

नवधाभक्ति से सम्पन्न हो मेरी उपासना करते हैं। अथवा, विवेक, वैराग्य, शम, दमादि संपन्न पुरुष—

'असंगं व्यवहारत्वाद्भव भावनवर्जनात् ।
शरीरनाश दर्शित्वाद्वासना न प्रवर्तते ॥'
[मुक्ति० उ० २।२८]

असंग व्यवहार से, भव की भावना से रहित होने से तथा शरीर नाश के दर्शन से वासना नाश के लिए दृढ़व्रती होकर—

'प्रमादो ब्रह्मनिष्ठायां न कर्तव्यः कदाचन'
[अ० उ० १४]

ब्रह्मनिष्ठा में कभी भी प्रमाद न करते हुए—

'आसुप्तेरामृतेः कालं नयेद्वेदान्तचिन्तया'
[स्मृति]

सोने और मरने तक प्रणवकीर्तन तथा वेदांत विचार के द्वारा ब्रह्मानुसंधान करते हुए तथा विश्वरूपधारी विष्णु को अभेद भक्ति से नमस्कार करते हुए नित्य ब्रह्मात्मैक्य दृष्टि से युक्त होकर मेरी उपासना करते हैं अर्थात्—

'मच्चिन्तनंमत्कथनमन्योन्यं मत्प्रभाषणम् ।
मदेकपरमो भूत्वा कालं नय महामते ॥'
[व० उ० २।४६]

मुझ एक अद्वितीय सच्चिदानन्दघन परब्रह्म के ही चिन्तन, कथन तथा प्रभाषण से युक्त होकर समय को व्यतीत करते हैं ॥ १४ ॥

---

१. श्रवण, कीर्तन, विष्णु का स्मरण, पाद सेवा, अर्चा, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—यही नवधा भक्ति है।

'ज्ञान यज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥ १५ ॥

कुछ महात्मागण ज्ञान रूप यज्ञ से अर्थात्—

'वासुदेवः सर्वमिति' [गी० ७।१६]

'ज्ञानयज्ञः स विज्ञेयः सर्वयज्ञोत्तमोत्तमः'[1] [शाण्ड्य० उ० १६]

'सब कुछ वासुदेव ही है' इस सर्वोत्तम ज्ञान यज्ञ से मेरी उपासना करते हैं। तथा कुछ विशेषाधिकारी—

'अभेददर्शनं ज्ञानम्' [स्क० उ० ११]
'सर्वमिदमहं च ब्रह्मैव'
'मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति' [गी० ७।७]

'यह सब और मैं ब्रह्म ही हूँ' मुझसे भिन्न अणुमात्र भी नहीं है' इस अभेद दृष्टि से मेरी उपासना करते हैं।

तथा कितने साधक—

'दासोऽहम्'

'मैं दास हूँ, इस स्वामी-सेवक भाव से मेरी उपासना करते हैं। तथा कितने साधक मुझ सर्वात्मक ब्रह्म की—

'आदित्यो ब्रह्म' [छा० उ० ३।१६।१]

ब्रह्मा, रुद्र, आदित्य आदि अनेक रूप से उपासना करते हैं।। १५ ॥

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥ १६ ॥

मैं वासुदेव ही क्रतु—श्रौतयज्ञ हूँ, मैं ही महायज्ञ भी हूँ तथा पितरों को दिया जाने वाला अन्न भी मैं ही हूँ। सब प्राणियों के खाने योग्य औषधि भी मैं ही हूँ। मैं ही मन्त्र और घृत भी हूँ तथा मैं ही अग्नि और हवनरूप कर्म भी हूँ।

तात्पर्य यह है कि कर्ता, कार्य, क्रिया तथा फलादि सब कुछ मैं ही हूँ।

'न वासुदेवात्परमस्ति किंचित्' [पुराण]

---

१. वह ज्ञानयज्ञ संपूर्ण यज्ञों में उत्तमोत्तम जानने के योग्य है।

मुझ वासुदेव से भिन्न अणुमात्र भी नहीं है ॥ १६ ॥

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥ १७ ॥

तथा मैं ही—

'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च'।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथ्वी विश्वस्यधारिणी ॥'[1]

[मु० उ० २।१।३]

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का उत्पन्न करने वाला पिता और जन्मदात्री माता भी हूँ। तथा मैं ही जीवों को उनके कर्मानुसार फलप्रदान करने वाला विधाता हूँ। मैं ही पिता का भी पितामह हूँ। तथा मैं ही वेद्य—जानने योग्य एक, अद्वितीय परमात्मतत्त्व हूँ। मैं ही पवित्र—पावनता का हेतु गंगा स्नान तथा गायत्री जपादि हूँ। तथा मैं ही ज्ञेय ब्रह्म के जानने का श्रेष्ठ साधन ओंकार हूँ। तथा मैं ही ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेदादि सब कुछ हूँ ॥ १७ ॥

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥

तथा मैं—

'सर्वाधिष्ठानरूपोऽस्मि' [श्रुति]

सर्वाधिष्ठानस्वरूप परमात्मा ही सबभूतप्राणियों की गति—परमपद हूँ। मैं ही—

'व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः' [श्वे० उ० १।८]

व्यक्त-अव्यक्त सम्पूर्ण प्राणियों का भरण-पोषण करने वाला हूँ। तथा मैं ही—

'सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत्'[2]

[श्वे० उ० ३।१७]

---

१. इस ब्रह्म से प्राण, मन, सम्पूर्ण इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, तेज, जल और विश्व को धारण करने वाली पृथ्वी—ये सब उत्पन्न होते हैं।

२. यह ब्रह्म-सम्पूर्ण जगत् का प्रभु और शासक तथा सबका आश्रय और कारण है।

'सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः'[1]
[बृ० उ० ४।४।२२]

समस्त विश्व का शासक—प्रभु हूँ।

'भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥
[क० उ० २।३।३]

मेरे ही भय से अग्नि, सूर्य तपते हैं, मेरे ही भय से इन्द्र, वायु और मृत्यु अपना अपना व्यापार करते रहते हैं और मैं ही—

'सर्वभूताधिवासः साक्षी' [श्वे० उ० ६।११]
'सर्वसाक्षी महेशः' [शि० उ० २०]
'साक्षी सर्वस्य सर्वदा' [पा० ब्र० उ० ७]

सब प्राणियों के शुभाशुभ कर्मों का साक्षी हूँ। मैं ही—

'सर्वभूताधिवासः' [श्वे० उ० ६।११]

सर्वभूतप्राणियों का निवास—भोग स्थान हूँ; तथा मैं ही—

'भूम्यार्तिहं प्रणतपाल' [श्री० भा० ११।५।३३]

शरण अर्थात् शरणापन्न हुये दुःखियों के दुःख को दूर करने वाला हूँ।
मैं ही—

'सुहृदं सर्वभूतानाम्'[2] [गी० ५।२६]

सुहृद—प्रत्युपकार न चाहकर परमानन्द प्रदान करने वाला जीव का नित्य सखा शिव हूँ। मैं ही—

'सर्वोत्पत्त्यप्ययं ब्रह्मकारणम्'
[श्री० भा० ११।१८।४५]

सब जगत् के प्रभव—उत्पत्ति तथा प्रलय—नाश का स्थान—कारण हूँ। तथा जिसमें प्रलय के पश्चात् सब स्थित होते हैं, वह—

'सर्वाधिष्ठानमद्वन्द्वम्' [द० छ० उ० २६]

सर्वाधिष्ठानस्वरूप द्वन्द्वातीत निधान—आश्रय मैं ही हूँ और मैं ही समस्त विनाशशील वस्तुओं का अविनाशी कारण भी हूँ॥ १८॥

---

१. वह सबको वश में रखने वाला, सबका शासन करने वाला और सबका अधिपति है।

२. सम्पूर्ण भूतों का सुहृद।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ १९ ॥

मैं ही सूर्य होकर अपनी प्रखर रश्मियों से भूतों को तपाता हूँ और मैं ही वर्षा करता हूँ तथा वर्षाऋतु के बाद मैं ही आठ महीने तक समुद्र के जल का शोषण करता हूँ और वर्षाकाल आने पर बरसा देता हूँ। मैं ही देवताओं का अमृत हूँ तथा जिससे सब प्राणी मरते हैं, वह मृत्यु भी मैं ही हूँ, तथा मैं ही सत्-व्यक्त-कार्य और असत्—अव्यक्त—कारण भी हूँ अर्थात् मैं सदसद—व्यक्ताव्यक्त—कार्य कारण के निषेध करने पर उनके निषेध की अवधि रूप से कार्य कारणातीत निर्गुण निर्विशेष ब्रह्म हूँ।

तात्पर्य यह है कि—

'मत्स्वरूपमेव सर्वं मद्व्यतिरिक्तमणुमात्रं न विद्यते'[1]
[त्रि० म० उ० ८।१]

मैं ही सब कुछ हूँ, मुझसे भिन्न अणुमात्र भी नहीं है ॥ १९ ॥

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देव भोगान् ॥ २० ॥

परन्तु जो भोगों की कामना से युक्त कामुक अज्ञानी पुरुष ऋक्, यजु एवं साम—इन तीनों वेदों के अध्ययन करने वाले कर्मकांडी याज्ञिक वेदों के अर्थवाद में पड़कर अर्थात् मुझमें इन्द्रादि अन्य देवताओं की कल्पना कर—

'इष्ट्वेह देवता यज्ञैः स्वर्लोकं याति याज्ञिकः'[2]
[श्री० भा० ११।१०।२३]

स्वर्ग प्राप्ति की इच्छा से यज्ञों के द्वारा उनकी उपासना करते हैं और यज्ञ से अवशिष्ट सोमरस को पीकर पापों से मुक्त हो चुके हैं, वे अपने पुण्य के फलस्वरूप इन्द्र के लोक—स्वर्ग को प्राप्तकर—

---

१. यह संपूर्ण जगत् मद्रूप ही है, मुझसे भिन्न अणुमात्र भी नहीं है।
२. यहाँ यज्ञों के द्वारा देवताओं की उपासना करके याज्ञिक स्वर्ग लोक को जाता है।

'भुञ्जीत देववत्तत्र भोगान् दिव्यान् निजार्जितान्'[1]
[श्री० भा० ११।१०।२३]

जब तक पुण्य क्षीण नहीं होता तब तक वहाँ निवास करके निज अर्जित देवताओं के दिव्य भोगों को भोगते हैं ॥ २० ॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ २१ ॥

वे मूढ पुरुष उस विशाल—विस्तीर्ण स्वर्ग लोक के सर्वोत्तम भोगों को भोगकर—

'नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वे-
मं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥'
[मु० उ० १।२।१०]

पुण्य के क्षीण होने पर हीनतर इस मृत्यु लोक में लौट आते हैं। इस प्रकार वैदिक कर्म का आश्रय लेनेवाले कामनाओं के उपासक—

'मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति'
[मु० उ० १।२।७]

कामुक मूढ़ पुरुष बार बार आवागमन को प्राप्त होते रहते हैं अर्थात् स्वर्ग से आकर जन्म लेते हैं और फिर कर्मों के द्वारा स्वर्ग को प्राप्त होते हैं, कभी भी जन्म मृत्यु के प्रवाह से मुक्त नहीं होते ॥ २१ ॥

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ २२ ॥

जो विवेकी, वैराग्यादि साधन चतुष्टय संपन्न समाहित पुरुष भेददर्शन से सर्वथा उपरत होकर सर्वत्र अद्वैतदर्शी हो अर्थात्—

'सर्वमिदमहं च वासुदेवः'

'यह सब और मैं वासुदेव ही हूँ'—

'न वासुदेवात्परमस्ति किंचित्' [पुराण]

---

१. वहाँ निज पुण्योपार्जित दिव्य भोगों को देवताओं की भाँति भोगता है।

'वासुदेव से भिन्न अणुमात्र भी नहीं है'—

'अहमेवेदं सर्वम्' [छा० उ० ७।२५।१]

'मैं ही यह सब हूँ' इस अभेददृष्टि से मुझ सर्वात्मा सर्वस्वरूप सच्चिदानन्दघन वासुदेव का अनन्यरूपेण सर्वत्र सर्वदा चिन्तन करते हैं, उन—

'सततंध्यानपरायणा.' [श्रुति]

'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः'

[गी० ७।१७]

'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' [गी० ७।१८]

सतत चिदाकार-वृत्ति से ध्यान के परायण रहने वाले अतिप्रिय आत्मस्वरूप अद्वैतनिष्ठ यतियों के—

'अप्राप्त प्रापणं योगः क्षेमस्तुस्थितरक्षणम्'

योग-क्षेम का वहन मैं ही करता हूँ।

अथवा मैं अप्राप्त परमात्मा अभेदरूपेण योग के रूप में प्राप्त होकर सर्वत्र सर्वदा क्षेम के रूप से उनके सामने सर्वस्वरूप में विद्यमान रहता हूँ ॥ २२ ॥

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ २३ ॥

परन्तु हे कुन्ती पुत्र ! जो सकामी पुरुष भेद दृष्टि से श्रद्धा-भक्ति समन्वित इंद्रादि *अन्य देवताओं की उपासना करते हैं, वे भी*—

'मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति' [गी० ७।७]

मुझसे भिन्न कुछ भी न होने के कारण मेरी ही उपासना करते हैं; किंतु मेरे सार्वात्म्य-भाव को न जानकर अविधिपूर्वक ही करते हैं, जिससे मोक्ष को न प्राप्तकर केवल जन्म-मृत्यु को ही बार-बार प्राप्त होते रहते हैं ॥ २३ ॥

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥ २४ ॥

यद्यपि मैं सर्वस्वरूप सच्चिदानंदघन वासुदेव ही उनके समस्त श्रौत-स्मार्त यज्ञों का इन्द्रादि देवताओं के रूप से भोक्ता तथा उनके कर्मानुसार *फलप्रदाता—स्वामी भी हूँ; परन्तु वे मुझे तत्त्वतः नहीं जानते कि मैं*—

'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' [छा० उ० ६।२।१]

एक, अद्वितीय, मोक्ष प्रदान करने वाला परमात्मा ही इन्द्रादि रूप से स्थित हूँ। इसीलिये वे कामुक पुरुष यज्ञों को मेरे लिये करते हुये भी मेरे वास्तविक स्वरूप को न जान कर अर्थात् मुझमें इन्द्रादि देवताओं की पृथक् कल्पना कर द्वैत दर्शन के कारण—

'येऽन्यथाऽतो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति'[1]
[छा० उ० ७।२५।२]

विनाश शील लोकों को ही प्राप्त होते रहते हैं ॥ २४ ॥

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥ २५ ॥

अर्जुन !

'तं यथायथोपासते तथैव भवति'
[मुद्ग० उ० ३।३]

'उस परमतत्त्व की जो जैसी जैसी उपासना करता है, वह वही हो जाता है' इस नियम से देवताओं के उपासक—

'देवोभूत्वादेवानप्येति' [बृ० उ० ४।१।२]

देवताओं को प्राप्त होते हैं और पितरों के उपासक पितरों को, भूतप्रेतों के भूत-प्रेतादि को प्राप्त होते हैं और मेरे उपासक—

'मामेव प्राप्स्यसि' [त्रि०-म० उ० ८।१]

मुझ अक्षय परमानंदस्वरूप परमात्मा को ही प्राप्त होते हैं। अर्जुन ! कितने खेद और आश्चर्य का विषय है कि दुर्भाग्यवश देव, पितर तथा भूतों के उपासक मेरे उपासकों की अपेक्षा उपासना में अधिक श्रम करने पर भी मोक्ष को न प्राप्त कर बार-बार जन्म-मृत्यु को ही प्राप्त होते रहते हैं, परन्तु फिर भी मेरे शरणापन्न नहीं होते ॥ २५ ॥

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ २६ ॥

जो अहैतुक भक्त यह जान कर कि—

---

१. जो इस आत्मतत्त्व से भिन्न जानते हैं, वे भेददर्शी अन्यराट् नाशवान् लोकों को प्राप्त होने वाले होते हैं।

'तुलसीदलमात्रेण जलस्य चुलुकेन वा।
विक्रीणीते स्वमात्मानं भक्तेभ्यो भक्तवत्सलः॥

'प्रेमाधीन भक्तवत्सल भगवान् तुलसीदल और चुल्लूमात्र जल से ही परम सन्तुष्ट होकर अपने आपको भक्तों के हाथ बेच डालते हैं।'

'न वासुदेवात्परमस्ति किञ्चित्' [पुराण]

मुझ वासुदेव को ही सर्वोत्कृष्ट परमाराध्य जीवनधन समझकर अनायास लभ्य पत्र, पुष्प फल और जलादि को भक्तिपूर्वक उत्कण्ठित हृदय से मेरे अर्पण करता है, उस शुद्धान्तःकरण भक्त द्वारा अर्पित तुच्छ पत्र, पुष्पादि को भी मैं सर्वेश्वर भक्ष्याभक्ष्य का विचार न करता हुआ केवल प्रेमाधीन होकर सुदामा के तन्दुलवत्, शबरी के बेरवत् और विदुर के शाकवत् साक्षात् प्रकट होकर प्रीतिपूर्वक अतृप्त होकर खाता हूँ।

तात्पर्य यह है कि मैं परमात्मा—

'भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धया'

[श्री० भा० ११।१४।२१]

एक श्रद्धा और भक्ति से ही ग्राह्य हूँ, क्योंकि—

'भक्तिप्रियोमाधवः'

मुझ माधव को केवल भक्ति ही प्रिय है।

'न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव[1]।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथाभक्तिर्ममोर्जिता॥'

[श्री० भा० ११।१४।२०]

इसलिये मैं प्रगल्भ भक्ति से ही प्राप्तव्य हूँ, न कि योग, सांख्य, धर्म, स्वाध्याय, तप एवं त्यागादि से। अतः बुद्धिमान पुरुषों को—

'सा त्वस्मिन् परम प्रेमरूपा[2]' [ना० भ० सू० २]
'अमृतस्वरूपा च'[3] [ना० भ० सू० ३]
'सा परानुरक्तिरीश्वरे'[4] [शा० भ० सू० २]

---

१. हे उद्धव। मेरी प्राप्ति कराने में जिस प्रकार अनन्य प्रेमाभक्ति समर्थ है, उस प्रकार योग, सांख्य, धर्म, स्वाध्याय, तप और त्याग समर्थ नहीं है।

२. वह भक्ति इस परमात्मा में परम प्रेमरूपा है।

३. और अमृतस्वरूपा है।

४. वह भक्ति ईश्वर में परम अनुरागरूपा है।

परम प्रेम से अनन्यरूपेण अनुरक्तचित्त से मेरी अमृतस्वरूपा भक्ति ही करनी चाहिये ॥ २६ ॥

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ २७ ॥

हे कुन्ती पुत्र !

'इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद् व्रतं तपः'[1]
[श्री० भा० ११।१६।२३]

तुम जो भी लौकिक अथवा वैदिक कर्म करो, जो शुद्धाहार ग्रहण करो, जो यज्ञ, हवनादि करो और जो देश, कालानुसार सत्पात्रों को दान दो तथा जो स्वधर्म रूप तप करो, वह सब मेरे अर्पण करो अर्थात्—

'न वासुदेवात्परमस्ति किंचित्' [पुराण]

'मुझ वासुदेव से पर कुछ भी नहीं है' इस दृष्टि से कर्तृत्व-भोक्तृत्व बुद्धि से मुक्त होकर शुद्धि बुद्धि से श्रद्धा-भक्ति समन्वित होकर प्रत्येक क्रियाओं के द्वारा मेरा ही भजन करते रहो। अथवा—

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' [छा० उ० ३।१४।१]
'ब्रह्मार्पणम्' [शा० उ० २६]

'सब कुछ ब्रह्म ही है' इस ब्रह्मार्पण बुद्धि से कर्ता, कार्य और क्रिया की त्रिपुटी से मुक्त होकर लोक-संग्रहार्थ युद्ध करो ॥ २७ ॥

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोग युक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ २८ ॥

इस प्रकार वैदिक-अवैदिक संपूर्ण कर्मों को मेरे अर्पण करता हुआ मेरी प्रसन्नता से अथवा चित्त शुद्धि के द्वारा शुभाशुभ स्वर्ग-नरकादि रूप कर्मफल बन्धन से मुक्त हो जायेगा तथा—

'संन्यासयोग युक्तात्मा ज्ञानवान्मोक्षवान्भव'[2]
[ब्रह्म० उ० ५।४७]

संन्यासयोग से युक्त होकर अर्थात् कर्मफल के संन्यास के द्वारा—

---

१. यज्ञ, दान, हवन, जप, व्रत और तप जो कुछ भी हो मेरे लिये करे।
२. संन्यास योग से युक्त होकर ज्ञानवान् और मोक्षवान् हो जाओ।

'सम्यग्दर्शनसंपन्नः कर्मभिर्न निबध्यते'

[म० स्मृ० ६।७४]

'शुभाशुभ कर्माणि सर्वाणि सवासनानि नश्यन्ति'[1]

[त्रि० म० उ० ५।१]

सम्यग्दर्शन—सर्वात्मदर्शन रूप योग से युक्त हो वासनासहित संपूर्ण कर्मों को ज्ञानाग्नि से भस्म कर—

'भिद्यते हृदयग्रन्थिः' [मु०-उ० २।२।८]

जीवत्वभाव से मुक्त होकर—

'मामेव प्राप्स्यसि' [त्रि० म० उ० ८।१]

'विमुक्तश्च विमुच्यते'[2] [क० उ० २।२।१]

मुझ सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होगा अर्थात् विदेह कैवल्य को प्राप्त होगा ॥ २८ ॥

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ २९ ॥

मैं सर्वगत् परमात्मा—

'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' [श्रुति]

आकाशवत् सर्वभूतप्राणियों में समरूप से स्थित हूँ, इसलिये न मेरा कोई प्रिय है और न अप्रिय ही; परन्तु जो विशुद्धान्तःकरण पुरुष मुझे भक्तिपूर्वक—

'समत्वमाराधनमच्युतस्य'[3] [वि० पु० १।१७।९०]

'समत्वेन च सर्वात्मा भगवान्संप्रसीदति'

[श्री० भा० ४।११।१३]

'सम्पश्यन् ब्रह्म परमं याति' [कै० उ० १।१०]

समत्वरूप से भजते हैं, वे मुझमें और मैं उनमें हूँ अर्थात् मुझमें और उनमें अभेद है।

तात्पर्य यह है कि जैसे सूर्य समरूप से प्रकाश देता हुआ भी स्वच्छ दर्पण में ही भासता है अस्वच्छ घटादि में नहीं। अथवा जैसे अग्नि स्वसेवकों

१. संपूर्ण शुभाशुभ कर्म वासनाओं के सहित नष्ट हो जाते हैं।

२. जीवन्मुक्त हुआ ही विदेह मुक्त हो जाता है।

३. समता ही अच्युत की सच्ची उपासना है।

के शीत को दूर करती हुई भी अन्यों के प्रति सम ही रहती है; अथवा जैसे कल्पवृक्ष याचकों की याचना को पूर्ण करता हुआ भी अन्यों के प्रति सम ही रहता है, वैसे ही मैं—

'नित्यः सर्वगतो ह्यात्मा कूटस्थो दोषवर्जितः'

[अन्न० उ० ५।७५]

आकाशवत् - सर्वगत् - निर्विकार परमात्मा विशुद्धान्तःकरण सत्पुरुषों में प्रकाशित तथा अशुद्धान्तःकरण असत्पुरुषों में अप्रकाशित होता हुआ भी सदैव सम ही रहता हूँ ॥ १६ ॥

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ ३० ॥

यदि कोई अजामिलादि के समान अतिशय दुराचारी—पातकी भी पूर्व संस्कारानुसार मेरी दया अथवा किसी महात्मा की विशेष कृपा से—

'भजन्त्यनन्यभावेन ते मे भक्ततमा मताः'

[श्री० भा० ११।११।३३]

'भक्तिर्मनस उल्लास विशेषः'[1] [भक्ति मीमांसा सूत्र १]

अनन्यरूपेण उल्लसित—उत्कंठित हृदय से मुझे अपना ईश्वर, गुरू, आत्मा माता-पिता तथा सुहृदादि जीवन सर्वस्व समझकर धारावाहिक रूप से भजता है, तो वह—

'अहो वत श्वपचोऽतो गरीयान्[2]
यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।'

[श्री० भा० ३।३३।७]

'चाण्डालोऽपि मुनेः श्रेष्ठो विष्णुभक्तिपरायणः[3] ।
विष्णुभक्ति विहीनस्तु द्विजोऽपिश्वपचाधमः॥'

[पद्मपुराण]

---

१. मन का उल्लास विशेष ही भक्ति है।

२. अहो! वह चाण्डाल भी इसीलिये श्रेष्ठ है कि उसकी जिह्वा के अग्रभाग पर आप का नाम वर्तमान है।

३. हरि-भक्ति में लीन रहने वाला चाण्डाल भी मुनि से श्रेष्ठ है और विष्णुभक्तिविहीन ब्राह्मण श्वपच से भी अधम है।

न शूद्रा भगवद्भक्ता विप्रा भागवताः स्मृताः[१] ।
सर्ववर्णेषु ते शूद्रा ये ह्यभक्ता जनार्दने ॥

[स्मृति]

शूद्र अथवा चाण्डाल भी साधु-श्रेष्ठ ही मानने के योग्य है; क्योंकि उसका निश्चय सम्यक्—यथार्थ शास्त्रानुकूल महापुरुषों का ही निश्चय है अर्थात् उसके निश्चय में—

'आत्मलाभान्न परं विद्यते' [स्मृति]

आत्म-लाभ से बढ़कर अन्य कोई लाभ नहीं है।

अथवा—

'न वासुदेव भक्तानामशुभं विद्यते क्वचित्' [स्मृति]

मुझ वासुदेव के भक्त का कभी अशुभ नहीं होता, क्योंकि—

'हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः।
अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः॥'

[म० पु०]

'हरेर्नाम्नश्च या शक्तिः पाप निर्हरणे द्विज।
तावत्कर्तुं समर्थो न पातकं पातकी जनः॥

[वृ० नारद० १।११।१००]

'सर्वपापप्रसक्तोऽपि ध्यायन्निमिषमच्युतम्।
भूयस्तपस्वी भवति पङ्क्तिपावन पावनः॥' [पुराण]

'प्रायश्चित्तान्यशेषाणि तपः कर्मात्मकानि वै।
यानि तेषामशेषाणां कृष्णानुस्मरणं परम्॥'

[वि० पु० २।६।३६]

'दुष्ट चित्तवाले पुरुषों द्वारा भी स्मृत हरि पापों को वैसे ही हर लेता है जैसे अग्नि बिना इच्छा के छू जाने पर भी जला देती है।'

'हरि के नाम में पापों के हरने की जितनी शक्ति है, उतना पाप कोई भी पातकी पुरुष करने में समर्थ ही नहीं है।'

---

१. यदि भगवद्भक्त शूद्र है तो वह शूद्र नहीं, परम श्रेष्ठ ब्राह्मण है। वास्तव में सभी वर्णों में शूद्र वह है, जो भगवान् की भक्ति से रहित है।

'महापातक से युक्त होने पर भी निमिषमात्र अच्युत के ध्यान के प्रभाव से फिर तपस्वी पङ्क्तिपावनों को भी पवित्र करने वाला हो जाता है।'

'जितने तप और कर्मरूप प्रायश्चित्त हैं, उन सबमें कृष्ण का अनुस्मरण ही सर्वोत्तम प्रायश्चित्त है।'

इस नियम से भी मेरा अनन्यरूपेण भजन करनेवाला दुराचारी, जाति से नीच पुरुष भी श्रेष्ठ ही है। दूसरे—

'तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्' [ना० भ० सू० ४१]

[इस सूत्रानुसार] मुझमें और मेरे भक्तों में अभेद है। इसलिये भी श्रेष्ठ—पूज्य ही है ॥ ३० ॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ ३१ ॥

इस प्रकार वह चिरकालिक दुराचारी पुरुष भी मेरे भजन के प्रभाव से शीघ्र ही विषय वासनाओं से मुक्त होकर धर्मात्मा—सदाचारी हो जाता है अर्थात् विवेक-वैराग्यादि साधन-चतुष्टय से सम्पन्न हो सर्वात्मदर्शन के द्वारा—

'तेषां शान्तिः शाश्वती' [क० उ० २।२।१३]

सनातन शान्ति को प्राप्त होता है। इसलिये हे कुन्तीपुत्र ! तू निर्भयतापूर्वक यह प्रतिज्ञा कर कि—

'न वासुदेवभक्तानामशुभं विद्यते क्वचित्' [स्मृति]

'दुराचार रतो वापि मन्नाम भजनात्कपे[1]।
सालोक्यमुक्तिमाप्नोति न तु लोकान्तरादिकम् ॥'
[मुक्ति० उ० १।१८, १६]

मुझ वासुदेव की भक्ति में लगा हुआ पिंगलावत्, अजामिलवत् और गजेंद्रवत् अति दुराचारी एवं अति मूढ़ भक्त भी नाश को नहीं प्राप्त होता अर्थात् दुर्गति को नहीं प्राप्त होता, बल्कि सद्गति को ही प्राप्त होता है। इसलिये तुम भी—

---

१. हे कपि श्रेष्ठ ! दुराचार में रत पुरुष भी मेरे नाम के भजन से सालोक्य मुक्ति प्राप्त करता है और पुनः लोकान्तर गमन नहीं करता।

'तस्मात्त्वमपि सर्वोपायान्परित्यज्य भक्तिमाश्रय ॥¹
भक्तिनिष्ठो भव। भक्तिनिष्ठो भव॥' [त्रि० म० उ० ८।१]

सर्व उपायों को छोड़कर शीघ्र पावन बनाने वाली भक्ति के आश्रित होकर—

'मदीयोपासनां कुरु' [त्रि० म० उ० ८।१]

मेरी उपासना करो। तू—

'मामेव प्राप्स्यसि' [त्रि० म० उ० ८।१]

मुझे ही प्राप्त होगा ॥ ३१ ॥

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥ ३२ ॥

अर्जुन! मुझ पतितपावन माधव को—

'भक्तिप्रियो माधवः'

केवल विशुद्ध निष्काम भक्ति ही प्रिय है।

'भक्त्याहमेकया ग्राह्यः' [श्री० भा० ११।१४।२१]

मैं केवल एक भक्ति से ही ग्राह्य हूँ। इसलिये मेरा केवल भक्ति से ही भक्तों से संबंध होता है।

'नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वासुरात्मजाः।²
प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता॥
न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद्विडम्बनम् ॥'
[श्री० भा० ७।७।५१, ५२]

ब्राह्मणत्व, देवत्व, ऋषित्व, सदाचार, बहुज्ञता, दान, तप, यज्ञ, शौचाचार तथा बड़े-बड़े व्रतों से नहीं। इसीलिये—

---

१. इसलिये तुम भी सम्पूर्ण उपायों को परित्याग कर भक्ति का आश्रय लो, भक्ति में निष्ठा करो, भक्ति में निष्ठा करो।

२. हे असुर कुमारो! मुक्ति-भुक्ति देनेवाले भगवान् को प्रसन्न करने के लिये ब्राह्मणपना, देवपना अथवा ऋषिपना, सदाचार एवं बहुज्ञता तथा दान, तप, यज्ञ और बाह्याभ्यन्तर शौच और व्रतों का अनुष्ठान पर्याप्त नहीं है, भगवान् केवल विशुद्धभक्ति से ही प्रसन्न होते हैं, अन्य सब विडम्बनामात्र है।

'किरातहूणान्ध्र पुलिन्द पुल्कसा[1]
आभीरकङ्का यवनाः खसादयः ।
येऽन्ये च पापा यदपाश्रयाश्रयाः
शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ॥'
[श्री० मा० २।४।१८]

'भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि संभवात्'[2]
[श्री० मा० ११।१४।२१]

[इन मंत्रों के अनुसार] *पाप योनि तथा नीच कर्म वाले अन्त्यजादि,* वेदाध्ययन से रहित स्त्री, कृषि आदि में रत वैश्य तथा शूद्र भी मुक्त—

'निर्दोषं हि समं ब्रह्म' [गी० ५।१६]

निर्विकार पतित पावन परमात्मा के शरणागत होकर भक्तिपूर्वक मेरी उपासना करके परम गति को प्राप्त हो गये ॥ ३२ ॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥ ३३ ॥

तो फिर मोक्ष के प्रधान अधिकारी—

'लब्ध्वा जन्मामरप्रार्थ्यं मानुष्यं तद् द्विजाग्र्यताम्'
[श्री० मा० ११।२३।२२]

'दुर्लभो मानुषो देहो ब्राह्मो देहः सुदुर्लभः'

देवताओं के भी वांछनीय दुर्लभ मानव-जन्म और उसमें भी अत्यन्त दुर्लभ पुण्यकर्मा सर्वोत्तम ब्राह्मणों तथा सूक्ष्मवस्तु के विवेक से संपन्न राजर्षियों—क्षत्रियों की मुक्ति के विषय में कहना ही क्या ? इसीलिये तू भी—

'संसारं स्वप्नवत्त्यज मोह निद्राम्' [पुराण]

संसार को स्वप्नवत् मिथ्या समझकर मोह-निद्रा से मुक्त हो—

---

१. किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कंक, यवन, खस आदि नीच जातियाँ तथा अन्य पापी जिनके शरणागत भक्तों की शरण ग्रहण करने से ही पवित्र हो जाते हैं, उन सर्वशक्तिमान् भगवान् को नमस्कार है ।

२. मेरी एकनिष्ठ प्रेमा भक्ति जन्मजात चांडालों को भी जाति-दोष से पवित्र—मुक्त कर देती है ।

'मातापित्रोर्मलोद्भूतं मलमांसमयं वपुः त्यक्त्वा'
[अ० उ० १]

'दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः'[1]
[श्री० भा० ११।२।२६]

माता-पिता के मल से उत्पन्न मलमांसमय अनित्य, क्षणभंगुर, जन्म-मृत्यु, जरा आदि दुःखों से ग्रस्त इस शरीर से विरक्त होकर मोक्ष के साधन देव दुर्लभ मानव शरीर से ही अर्थात् व्याधि के आक्रमण तथा शरीर नाश होने के पूर्व ही विनश्वर सांसारिक सुखों का त्याग करके शरीर वाणी और मन से मेरा अनन्यरूपेण भजन कर—

ऐसे ही श्रीमद्भागवत् में भी कहा गया है—

'एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम् ।
यत् सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम् ॥'
[श्री० भा० ११।२९।२२]

बुद्धिमानों की बुद्धि और विवेकियों के विवेक की सार्थकता इसी में है कि वह इस असत्य क्षणभंगुर शरीर के द्वारा मुझ सत्य और नित्य परमात्मा की प्राप्ति कर ले ॥ ३३ ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार तू विवेक, वैराग्यादि साधनचतुष्टय से सम्पन्न होकर—

'सच्चिदानन्द रूपमिदं सर्वम्' [नृ० उ० उ० ७]
'सर्वं विष्णुमयं जगत्' [वि० पु० ५।१।२०]
'सर्वं कृष्णमयं जगत्' [ब्र० वै० पु०]
'मयि समाधत्स्व मनो मद्भावभावितम्'
[श्री० भा० ११।१४।२८]

'यह सब सच्चिदानंदस्वरूप ही है', 'यह सब जगत् विष्णुमय ही है' 'यह सम्पूर्ण जगत् कृष्णमय है' इस भाव से पूर्णरूपेण भावित हो मेरे में अनन्य मनवाला हो अर्थात् मुझ वासुदेव को ही सर्वत्र देखने, सुनने एवं समझने का अभ्यास कर। तथा मेरा ही भक्त भी हो अर्थात्—

---

१. प्राणियों के लिए क्षणभंगुर होने पर भी यह मोक्ष का साधनभूत मानव देह अत्यन्त दुर्लभ है।

'सर्वोपायान्परित्यज्य भक्तिमाश्रय ॥ मामेकं शरणं व्रज ॥
मद्भक्तिनिष्ठो भव ॥ मदीयोपासनां कुरु ॥'
[त्रि० म० उ० ८।१]

मेरी प्राप्ति के अन्य तप-योगादि जितने भी कष्टप्रद उपाय हैं, उन सबको छोड़कर श्रुति सम्मत, समीचीन, सुगम, श्रेष्ठ एवं मोक्षप्रद भक्ति का आश्रय ग्रहण कर अनन्यभक्तिनिष्ठा से सम्पन्न हो शरीर, वाणी एवं मन से मुझ एक, अद्वितीय परमात्मा के शरणापन्न होकर द्रवितचित्त से अनन्यरूपेण मेरा भजन कर, मेरी उपासना कर तथा सम्पूर्ण श्रौत-स्मार्त कर्मों के द्वारा मेरा ही यजन कर अर्थात्—

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' [छां० उ० ३।१४।१]

'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः' [शा० उ० २६]

'सब कुछ ब्रह्म ही है' इस ब्रह्मार्पण बुद्धि से लोक-संग्रहार्थ कर्म करते हुये मेरी उपासना कर।

'भूतानि विष्णुर्भुवनानि विष्णुः' [पुराण]

तथा सब भूत और सब भुवन को मुझ सर्वरूपधारी विष्णु का ही रूप समझकर—

'प्रणमेद्दण्डवद्भूमावाश्व चाण्डाल गोखरम्'
[श्री० भा० ११।२६।१६]

कुत्ता, चाण्डाल, गाय और गधे तक को भी पृथ्वी पर गिरकर साष्टाङ्ग दंडवत् प्रणाम—नमस्कार कर। तात्पर्य यह है कि सबको नमस्कार के द्वारा स्पर्धा, ईर्ष्या, तिरस्कार और अहंकार आदि समस्त दोषों से शीघ्र मुक्त होकर—

'निर्वैरः सर्वभूतेषु' [गी० ११।५५]

सर्वभूतप्राणियों से निर्वैर हो जा। इस प्रकार तू अनन्यरूपेण मन को मुझमें लगाता हुआ मेरे परायण होकर—

'मामेव प्राप्स्यसि' [त्रि० म० उ० ८।१]

मुझ सच्चिदानन्दघन परब्रह्म को ही प्राप्त होगा ॥ ३४ ॥

॥ नवाँ अध्याय समाप्त ॥

———

॥ ॐ ॥

दसवाँ अध्याय

यद्यपि सच्चिदानन्दघन-आनन्दकन्द-भक्तवत्सल भगवान् ने नवें अध्याय में समस्त वेदों के सार-सार तत्त्व को कह दिया था, परंतु अर्जुन की प्रगाढ़ श्रद्धा-भक्ति और सुनने की प्रबल उत्कंठा को देखकर तथा दुर्बोध विषय को बुद्धिगम्य करने के लिए फिर भी अपनी विभूतियों का विस्तार से विवेचन करते हुए परम पावन अमृतमयी वाणी बोले।

श्री भगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥

श्री भगवान् बोले—हे महाबाहो ! तूने अपनी भक्ति से मुझे अपने वश में कर लिया है, इसलिये तुम अमृतत्व प्रदान करने वाले मेरे सर्वोत्कृष्ट परमार्थ वाक्य को फिर भी सुनो। मैं तुझ प्रिय शिष्य के प्रति हित की कामना से नित्यानन्द की प्राप्ति का उपदेश दूँगा।

अभिप्राय यह है कि केवल नित्यानन्द परमात्मा की प्राप्ति करा देना ही आत्यन्तिक हित है, अन्य सांसारिक वस्तु प्रदान करना नहीं। इसलिए बुद्धिमान् पुरुषों को चाहिए कि वे अपने शिष्यों, पुत्रों तथा संबन्धियों को परमात्मा के ही अभिमुख करें, अनर्थ के हेतुभूत संसार की ओर नहीं। जैसा कि भगवान् ऋषभदेव जी ने भी कहा है—

'गुरुर्न स स्यात्स्वजनो न स स्यात्
पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात्।
दैवं न तत्स्यान्न पतिश्च स स्या-
न्न मोचयेद्यः समुपेत मृत्युम् ॥'
[श्री० भा० ५।५।१८]

जो अपने प्रिय संबन्धी को भगवद्भक्ति का उपदेश देकर मृत्यु की फाँसी से नहीं छुड़ाता, वह गुरु गुरु नहीं है, स्वजन स्वजन नहीं है, पिता पिता

॥ ॐ ॥

दसवाँ अध्याय

यद्यपि सच्चिदानन्दघन-आनन्दकन्द-भक्तवत्सल भगवान् ने नवें अध्याय में समस्त वेदों के सार-सार तत्त्व को कह दिया था, परंतु अर्जुन की प्रगाढ़ श्रद्धा-भक्ति और सुनने की प्रबल उत्कंठा को देखकर तथा दुर्बोध विषय को बुद्धिगम्य करने के लिए फिर भी अपनी विभूतियों का विस्तार से विवेचन करते हुए परम पावन अमृतमयी वाणी बोले।

श्री भगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥

श्री भगवान् बोले—हे महाबाहो ! तूने अपनी भक्ति से मुझे अपने वश में कर लिया है, इसलिये तुम अमृतत्व प्रदान करने वाले मेरे सर्वोत्कृष्ट परमार्थ वाक्य को फिर भी सुनो। मैं तुझ प्रिय शिष्य के प्रति हित की कामना से नित्यानन्द की प्राप्ति का उपदेश दूँगा।

अभिप्राय यह है कि केवल नित्यानन्द परमात्मा की प्राप्ति करा देना ही आत्यन्तिक हित है, अन्य सांसारिक वस्तु प्रदान करना नहीं। इसलिए बुद्धिमान् पुरुषों को चाहिए कि वे अपने शिष्यों, पुत्रों तथा संबन्धियों को परमात्मा के ही अभिमुख करें, अनर्थ के हेतुभूत संसार की ओर नहीं। जैसा कि भगवान् ऋषभदेव जी ने भी कहा है—

'गुरुर्न स स्यात्स्वजनो न स स्यात्
पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात्।
दैवं न तत्स्यान्न पतिश्च स स्या-
न्न मोचयेद्यः समुपेत मृत्युम् ॥'

[श्री० भा० ५।५।१८]

जो अपने प्रिय संबन्धी को भगवद्भक्ति का उपदेश देकर मृत्यु की फाँसी से नहीं छुड़ाता, वह गुरु गुरु नहीं है, स्वजन स्वजन नहीं है, पिता पिता

नहीं है, माता माता नहीं है, इष्टदेव इष्टदेव नहीं है और पति पति नहीं है ॥ १ ॥

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥ २ ॥

मुम्क्ष—

'न जानन्ति सुराः सर्वे सर्वं कारण कारणम्'[1]
[प० म० उ० १६]

सर्वकारण के भी परम कारण अनन्त परमात्मा के प्रभव—सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय तथा निग्रह-अनुग्रहादि सामर्थ्य को ब्रह्मा, शंकरादि समाधिस्थ देवगण तथा भृगु आदि ज्ञान-संपन्न महर्षिगण भी नहीं जानते; क्योंकि मैं परमात्मा ही—

'तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः'[2]
[मु० उ० २।१।७]

'यस्मिन्युक्ता ब्रह्मर्षयो देवताश्च'[3]
[श्वे० उ० ४।५]

देवगण तथा महर्षियों का सब प्रकार से अर्थात् उनका तथा उनके योग-सिद्धि और ज्ञान-विज्ञान का भी निमित्तोपादान आदि मूल कारण हूँ। इसलिये मेरे विकार तथा मेरे पीछे सृष्ट होने के कारण जैसे पुत्र पिता के महत्व को नहीं जानता, वैसे ही मेरे महत्त्व को नहीं जानते। अतः मैं सर्वज्ञ ईश्वर ही तुझे अपने महत्व का उपदेश दूँगा ॥ २ ॥

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

परन्तु ऐसा होने पर भी सर्वमनुष्यों में जो विवेक-वैराग्यादि साधन चतुष्टय से सम्पन्न पुरुष मूढ़ता—मोह से मुक्त होकर श्रद्धा-भक्ति समन्वित

---

१. सब कारण के कारण परमात्मतत्व को संपूर्ण देवता नहीं जानते हैं।
२. उस परमात्मतत्त्व से ही नाना देवता उत्पन्न हुए हैं।
३. जिस ब्रह्मतत्त्व में महर्षि और देवता युक्त हैं।

श्रवण, मनन और निदिध्यासन के द्वारा देवताओं तथा महर्षियों के आदि मूल कारण मुझ अज परमात्मा को—

'य ईशे अस्य जगतो नित्यमेव' [श्वे० उ० ६।१७]
'न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः' [श्वे० उ० ६।६]
'तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्' [श्वे० उ० ६।७]

समस्त लोकों के ईश्वरों का भी महान् ईश्वर समझता है अर्थात् जिसकी—

'अजे साम्ये तु ये केचिद्भविष्यन्ति सुनिश्चिताः'।
ते हि लोके महाज्ञानाः' [माण्डू० का० ४।९५]

मुझ अज, 'अनादि और साम्य परमात्मतत्त्व में अभेदरूपेण सम्यक् स्थिति हो जाती है, वह महाज्ञानी—

'सर्वाणि पापानि जीर्यन्ते ज्ञानिनः क्षणात्'
[शिवधर्मोत्तर]

'ज्ञानेन शुद्धेन मुच्यते सर्वं पातकैः' [स्मृति]

ज्ञान-अनज्ञान में किये हुये समस्त पापों से मुक्त हो जाता है ॥ ३ ॥

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥

सूक्ष्मार्थ को समझने में समर्थ अन्तःकरण की ज्ञान-शक्ति का नाम बुद्धि है। अथवा—

'निर्विकल्पा च चिन्मात्रा वृत्तिः प्रज्ञेति कथ्यते'
[अ० उ० ४४]

निर्विकल्प चिन्मात्र वृत्ति को बुद्धि कहते हैं।

आत्म-अनात्म पदार्थों को अनुभव करने वाला निश्चय ज्ञान है।

---

१. अज, सम परमात्मतत्त्व में जो कोई भी सुनिश्चित—सम्यक् प्रकार से स्थित होंगे, वे ही लोक में महाज्ञानी हैं।

अथवा—

'अभेददर्शनं ज्ञानम्' [स्क० उ० ११]

अभेद दर्शन को ज्ञान कहते हैं।

जानने योग्य वस्तुओं के प्राप्त होने पर विचारपूर्वक प्रवृत्ति का नाम असंमोह है।

'कायेन मनसा वाचा शत्रुभिः परिपीडिते।
बुद्धिक्षोभ निवृत्तिर्या क्षमा सा मुनिपुङ्गव ॥'
[श्री जा० उ० १।१७]

शत्रुओं के द्वारा मन, वाणी और शरीर से भलीभाँति पीड़ा दी जाने पर भी तनिक भी क्षोभ न आने देना ही क्षमा है।

'सत्यं नाम मनोवाक्कायकर्मभिर्भूतहित यथार्थाभिभाषणम्'
[शा० उ० १।१]

मन, वाणी और शरीर के कर्मों से प्राणियों के हितार्थ यथार्थ भाषण सत्य है। अथवा—

'सर्वं सत्यं परंब्रह्म न चान्यादिति या मतिः।
तच्च सत्यं वरं प्रोक्तं वेदान्तज्ञान पारगैः ॥'
[श्री जा० उ० १।१०]

'सब कुछ सत्यस्वरूप परब्रह्म परमात्मा ही है, उससे भिन्न दूसरी कोई वस्तु नहीं है इस निश्चय को ही सर्वोत्तम सत्य कहते हैं। अथवा—

'सत्यं च समदर्शनम्' [श्री० भा० ११।१६।३७]

समदर्शन को सत्य कहते हैं।

'दम इन्द्रियसंयम.' [श्री० भा० ११।१६।३६]

इन्द्रिय निग्रह को दम कहते हैं।

मनोजय को शम कहते हैं। अथवा—

'शमो मन्निष्ठता बुद्धे.' [श्री० भा० ११।१६।३६]

बुद्धि की मन्निष्ठता को शम कहते हैं।

अपने अनुकूल को सुख कहते हैं। अथवा—

सुखं दुःखसुखात्ययः' [श्री० भा० ११।१६।४१]

सुख दुखात्मक द्वन्द्वों का सदा के लिये नष्ट हो जाना ही सुख है।

अथवा—

'सच्चिदानन्दस्वरूपं ज्ञात्वानन्दरूपा या स्थितिः सैव सुखम्'
[नि० उ०]

सच्चिदानन्दस्वरूप को जानकर जो आनन्दरूपा स्थिति होती है, वही सुख है।

अपने प्रतिकूल को दुःख कहते हैं। अथवा—

'दुःखं कामसुखापेक्षा' [श्री० भा० ११।१६।४१]

विषय भोगों की कामना ही दुःख है। अथवा—

'अनात्मरूपो विषय संकल्प एव दुःखम्' [नि० उ०]

अनात्मरूप विषय का संकल्प ही दुःख है।

उत्पत्ति को भव कहते हैं।

नाश को अभाव कहते हैं।

त्रास का नाम भय है।

अत्रास का नाम अभय है। अथवा—

'अभयं वै ब्रह्म' [बृ० उ० ४।४।२५]

ब्रह्म ही अभय है।

'अहिंसा नाम मनोवाक्काय कर्मभिः
सर्वभूतेषु सर्वदाऽक्लेश जननम्'
[शा० उ० १।१]

मन, वाणी एवं शरीर से सर्वभूतप्राणियों को कभी भी क्लेश न पहुँचाना ही अहिंसा है।

अथवा—

'आत्मा सर्वगतोऽच्छेद्यो न ग्राह्य इति मे मतिः।
साऽहिंसा वरा प्रोक्ता मुने वेदान्तवेदिभिः॥'
[श्री० जा० उ० १।८]

'आत्मा सर्वगत्, अच्छेद्य एवं अग्राह्य है' इस प्रकार की बुद्धि को अहिंसा कहते हैं।

सर्वत्र समदर्शन को समता कहते हैं।

'संतोषो नाम यदृच्छालाभ संतुष्टिः'
[शा० उ० १।२]

यदृच्छालाभ संतुष्टि को तुष्टि—संतोष कहते हैं।

'तपोनाम विध्युक्त कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः शरीर शोषणम्'
[शा० उ० १।२]

शास्त्रानुकूल कृच्छ्रचान्द्रायण आदि व्रतों के द्वारा शरीर का शोषण करना ही तप है।

अथवा—

'मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः'
[स्मृति]

मन और इन्द्रियों की एकाग्रता—निग्रह को परम तप कहते हैं।

अथवा—

'कामस्त्यागतपः स्मृतः [श्री० भा० ११।१६।३७]

कामनाओं के त्याग को तप कहते हैं।

'दानं नाम न्यायार्जितस्य धनधान्यादेः श्रद्धयार्थिभ्यः प्रदानम्'
[शा० उ० १।२]

न्यायार्जित धन-धान्यादि का श्रद्धापूर्वक अर्थियों को प्रदान करना ही दान है। अथवा—

'दण्डन्यासः परं दानम्' [श्री० भा० ११।१६।३७]

शरीर, वाणी और मन से किसी को दण्ड-पीड़ा न पहुँचाना ही दान है। गुणों के द्वारा जो ख्याति होती है, उसको यश कहते हैं। अवगुण से जो ख्याति होती है, उसको अयश कहते हैं। इस प्रकार संपूर्ण प्राणियों के बुद्धि आदि नानाभाव अर्थात् प्रवृत्ति—निवृत्ति विषयक मनोवृत्तियाँ जीवों के कर्मानुसार मुझ ईश्वर से ही होती हैं॥ ४, ५॥

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ ६ ॥

वेद और उसके अंगं के ज्ञाता, विद्या और संप्रदाय के प्रवर्तक भृगु आदि सप्त महर्षिगण तथा उनसे भी पूर्व में होने वाले चार सनकादि महर्षिगण और चौदह स्वयंभूमनु ये सब मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मा की भावना वाले मेरे चिन्मय मन से—केवल संकल्प मात्र से विशुद्ध रूप से उत्पन्न हुये हैं अर्थात् मेरी विभूति और ऐश्वर्य से सम्पन्न मद्रूप ही हैं, जिनकी रची हुई चराचर प्रजाओं से यह संपूर्ण लोक परिपूर्ण है अर्थात् तद्रूप ही है ॥ ३ ॥

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥

इस प्रकार जो मेरी विभूति और ऐश्वर्य—योगमाया को तत्त्वतः—परमार्थ रूप से जान लेता है कि—

'उपादानं प्रपञ्चस्य ब्रह्मणोऽन्यन्न विद्यते।
तस्मात्सर्वं प्रपञ्चोऽयं ब्रह्मैवास्ति न चेतरत् ॥'

[यो० शि० उ० ४।३]

'वासुदेवः सर्वमिति' [गी० ७।१६]

यह समस्त जड़-चैतन्य जगत् परमात्मरूप ही है।

'मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति' [गी० ७।७]

मुझसे भिन्न अणुमात्र भी नहीं है' वह इस सर्वात्मदर्शन के कारण अपने को भी सर्वगत् जानकर मुझ सच्चिदानन्दघन परब्रह्म के अविकम्प—निर्विकल्प समाधिनिष्ठा रूप योग से युक्त होता है अर्थात् सम्यग्दर्शन से संपन्न होता है, इसमें लेशमात्र भी संशय नहीं है ॥ ७ ॥

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ ८ ॥

मैं—

'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा'

[गी० ७।६]

वासुदेव संज्ञक अक्षर ब्रह्म ही सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति का निमित्तोपादान कारण हूँ अर्थात् यह जगत्—

'मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम्'[1]

[कै० उ० १।१६]

'पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥'

[बृ० उ० ५।१।१]

मुझसे ही मद्रूप से उत्पन्न होता है और मुझमें ही मद्रूप से वर्तता है तथा मुझमें मद्रूप से विलीन होकर मद्रूप ही अवशिष्ट रहता है। इस प्रकार ज्ञानी पुरुष स्वर्ण के कुण्डलवत्, जल के तरङ्गवत् कारण और कार्य में अभेद-दर्शन के द्वारा—

'ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्' [मु० उ० २।२।११]

'हरिरेव जगत् जगदेव हरिः' [पुराण]

विश्व को मुझ हरि का रूप समझकर सर्वत्र मुझे ही देखते, सुनते एवं समझते हुये अहंभाव से मुक्त हो अत्यन्त श्रद्धा-भक्ति-भाव से समन्वित होकर अनन्य-रूपेण तन्मयतापूर्वक भजन करते हैं॥ ८॥

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥ ९॥

इस प्रकार महाभागगण—

'वेदान्ताभ्यास निरतः शान्तो दान्तो जितेन्द्रियः'

[ना० प० उ० ६।२३]

शान्त, दान्त और जितेन्द्रिय होकर; अथवा—

---

१. मुझसे ही यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ है और मुझमें ही स्थित है।

'जन्मान्तरसहस्रेषु तपोज्ञान समाधिभिः[1] ।
नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते ॥'

[विष्णुधर्मोत्तर]

सहस्रों जन्मों के ·तप ज्ञान और समाधि के अनन्तर पाप क्षीण हो जाने के पश्चात् मेरी परा-भक्ति को प्राप्त कर मच्चित्त हो जाते हैं अर्थात् नाम-रूप से सर्वथा उपरत होकर अपने चित्त को पूर्णरूपेण मुझ सच्चिदानंदघन परमात्मा के चिन्तन में लगाते हैं । तात्पर्य यह है कि—

'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति'

[छा० उ० ७।२४।१]

मुझसे भिन्न कुछ भी नहीं देखते, सुनते एवं समझते हैं। तथा जिनका प्राण मद्गत है अर्थात् जिनकी इन्द्रियों की प्रत्येक चेष्टायें मेरे लिये ही होती हैं, भजन के अतिरिक्त जिनके जीवन का अन्य कोई लक्ष्य नहीं है अर्थात् जिनका—

'प्राणस्य प्राणम्' [बृ० उ० ४।४।१८]

'न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन[2] ।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥'

[क० उ० २।२।५]

प्राणाधार—जीवनाधार मैं ही हूँ, वे—

'मच्चिन्तनं मत्कथनमन्योन्यं मत्प्रभाषणम् ।
मदेक ,परमो भूत्वा कालं नय महामते ॥'

[व० उ० २।४६]

'परस्परानुकथनं पावनं भगवद्यशः[3]

[श्री० भा० ११।३।३०]

---

१. सहस्रों जन्मों में तप, ज्ञान और समाधि के द्वारा पाप रहित पुरुषों को कृष्ण में भक्ति उत्पन्न होती है ।

२. कोई भी प्राणी न प्राण से जीता है और न अपान से बल्कि वे जिसमें ये दोनों आश्रित हैं, ऐसे किसी अन्य से ही जीते हैं ।

३. भगवान् के परमपावन यश का परस्पर कथन करना ।

युक्ति, श्रुति तथा स्वानुभूति से युक्त होकर भक्तों में मेरी अमृतमयी पावन कथा को कहते सुनते हुए अथवा शिष्यों को उपदेश देते हुए—

'आत्मलाभान्न परं विद्यते' [स्मृति]

आत्मलाभ से अन्य कुछ श्रेष्ठ न समझने के कारण—

'स मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा' [क० उ० १।२।१३]

मोदनीय आत्मानन्द को प्राप्तकर—

'स्वमात्मनि स्वयं तृप्तः' [ते० वि० उ० ४।८१]
'आत्मनाऽऽत्मनि संतृप्तः' [अन्न० उ० ४।३]

आत्मा से आत्मा में संतुष्ट—आनन्दित होते हैं।

'समाहिता आत्मरतय आत्मक्रीडा आत्ममिथुना आत्मानन्दाः'
[नृ० उ० उ० ६]

तथा समाहित होकर आत्मा से आत्मा में ही रमण, क्रीडा तथा मैथुन करते हैं अर्थात् नित्य—प्राणान्तकाल में भी श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन के द्वारा समय व्यतीत करते हैं ॥ ९ ॥

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ १० ॥

इस प्रकार जो—

'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः
संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः ॥'
[मु० उ० ३।२।६]

वेदान्तविज्ञान के सुनिश्चित अर्थ को जाननेवाले संन्यास योग से शुद्धसत्त्व यतिगण सतत युक्त अर्थात मुझमें आसक्त चित्त होकर—

'प्रमादो ब्रह्मनिष्ठायां न कर्तव्यः कदाचन'
[अ० उ० १४]

ब्रह्मनिष्ठा में कभी भी प्रमाद न करते हुए तथा—

'निद्राया लोकवार्तायाः शब्दादेरात्मविस्मृतेः।
क्वचिन्नावसरं दत्त्वा चिन्तयात्मानमात्मनि ॥'
[अ० उ० ५]

निद्रा, लोकवार्ता और शब्दादि वाह्यविषयों से आत्मविस्मृति को कभी भी अवसर न देते हुए निरन्तर मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव को ही सर्वत्र देखते, सुनते एवं समझते हुए अत्यन्त प्रीतिपूर्वक भजन करते हैं, उन सतत परमात्मनिष्ठा से युक्त रहनेवाले पुरुषों को बुद्धियोग—

'सर्वमिदमहं च वासुदेवः'

इस *सम्यग्दर्शन रूप ज्ञानयोग* को देता हूँ, *जिसके द्वारा* वे मुझे *आत्मरूपेण* प्राप्त करते हैं ॥ १० ॥

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ ११ ॥

मैं उन विषय वासनाओं के त्यागी सतत सच्चिदानन्दघन परब्रह्म की निष्ठा से युक्त अनन्य भक्तों पर अनुकम्पा करने के लिये अर्थात्—

'चिदेकत्वपरिज्ञाने न शोचति न मुह्यति'

[रु० हृ० उ० ३४]

चिदेकत्व के परिज्ञान के द्वारा शोक-मोह से मुक्त करने के लिये अज्ञान से *सृष्ट अनादि अविद्या रूप आवरणात्मक तम को* अर्थात् जीवभाव को आत्मभावस्थ होकर अर्थात् अन्तःकरणस्थ बुद्धि वृत्ति पर चिदाकार रूप से आरूढ़ होकर—

'सर्वमिदमहं च वासुदेवः'

'यह सब और मैं वासुदेव ही हूँ' इस प्रकाशमय ज्ञान रूपी दीपक के द्वारा नष्ट कर देता हूँ अर्थात्—

'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-[१]
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ॥'

[मु० उ० ३।२।३]

---

१. यह जिज्ञासु जिस परमात्मा की प्राप्ति की उत्कट इच्छा करता है उसे उस इच्छा के द्वारा यह आत्मा लभ्य है। यह उसके प्रति अपने स्वरूप को व्यक्त कर देता है।

हे केशव ! आप जो कुछ मुझसे कह रहे हैं कि—

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः'

[गी० १०।२]

मेरी उत्पत्ति को ब्रह्मा-रुद्रादि देवता तथा महर्षिगण भी नहीं जानते हैं; क्योंकि मैं सबका सब प्रकार से आदि मूल कारण हूँ, वह सब अक्षरशः सत्य ही है। इसलिये आप अनादि, अनन्त, अप्रमेय ईश्वर के व्यक्तित्व—प्रभाव तथा लीला को न इन्द्रादि देवता ही जानते हैं, न मधुकैटभादि दानव ही ॥ १४ ॥

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥ १५ ॥

हे पुरुषोत्तम !

'भूतानांभूतभावन' [श्री० भा० ११।१६।४]

हे सर्वप्राणियों को उत्पन्न करने वाले भूतभावन ! हे भूतों के ईश्वर भूतेश !

'तं देवतानां परमं च दैवतम्' [श्वे० उ० ६।७]

हे देवों के परमदेव देवेश ! हे जगत् के धारण पोषण करने वाले जगत्पते ! आप ही सम्पूर्ण विश्व के माता, पिता, गुरु, राजा तथा सबके आराध्य एवं सर्वश्रेष्ठ पुरुष हैं।

'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते' [श्वे० उ० ६।८]

आपके समान और आपसे बढ़कर भी कोई नहीं है। इसलिये हे सर्वज्ञ ! आप ही अपने सोपाधिक तथा निरुपाधिक रूप को सम्यग्रूपेण जानते हैं, अन्य नहीं ॥ १५ ॥

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥ १६ ॥

हे सर्वेश ! जिन अनन्त विभूतियों से समस्त लोकों को आप व्याप्त करके स्थित हैं, उन अपनी दिव्य-विभूतियों को पूर्णतया आप ही कहने में समर्थ हैं। इसलिये हे दयालो ! आप ही कहने की कृपा करें ॥ १६ ॥

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥ १७ ॥

हे महायोगिन्! मैं आप को सदा चिन्तन करते हुये कैसे जानूँ? हे भगवन्! आप विशेष रूप से किन किन भावों में अर्थात् किन किन जड़-चैतन्य पदार्थों में चिन्तन करने के योग्य हैं? उनको कहिये—

'येषु येषु च भावेषु भक्त्या त्वां परमर्षयः'।
उपासीनाः प्रपद्यन्ते संसिद्धिं तद्वदस्व मे॥'
[श्री० भा० ११।१६।३]

जिसकी भक्तियुक्त उपासना से महर्षिगण सिद्धि को प्राप्त होते हैं ॥१७॥

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥१८॥

हे भक्तवाञ्छाकल्पतरु जनार्दन! आप अपने योग—सर्वज्ञत्व एवं सर्व-शक्तिमत्व आदि लक्षणयुक्त ऐश्वर्य को और विभूति को फिर से विस्तारपूर्वक कहने की कृपा कीजिये; क्योंकि आपके अमृत से भी मधुर वचनामृत को सुनता हुआ मैं तृप्त नहीं होता हूँ अर्थात् अभी अतृप्त—असन्तुष्ट ही हूँ ॥१८॥

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥१९॥

इस पर रमारमण आनन्दकन्द श्री कृष्णचन्द्र बोले—हे कुरुश्रेष्ठ! अब मैं अपनी दिव्य प्रधान-प्रधान विभूतियों को कहता हूँ, क्योंकि मेरी विभूतियाँ अनन्त हैं। इसलिये—

'संख्यानं परमाणूनां कालेन क्रियते मया'।
न तथा मे विभूतीनां सृजतोऽण्डानि कोटिशः'॥
[श्री० भा० ११।१६।३६]

१. महर्षिगण जिन जिन भावों में भक्तिपूर्वक आपकी उपासना करते हुये मोक्ष रूप सिद्धि को प्राप्त करते हैं, उन्हें आप मुझसे सुनिये कहिये

२. यदि मैं चाहूँ तो किसी समय परमाणुओं की गणना कर सकता हूँ, परन्तु अपनी विभूतियों की गणना नहीं कर सकता· क्योंकि जब

परमाणुओं की गणना तो हो सकती है, किन्तु मेरी विभूतियों की नहीं। अतः उनका न तो पूर्णतया कहना ही संभव है और न सुनना ही ॥१६॥

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥२०॥

हे निद्राविजयी अर्जुन !

'सर्वज्ञं सर्वगं शान्तं सर्वेषां हृदये स्थितम्'[1]
[यो० शि० उ० ३।२०]

'सर्वेषां भूतानां विष्णुरात्मा सनातनः'[2]
[ब० छ० उ० १३]

'अहमात्मोद्धवामीषां भूतानां सुहृदीश्वरः'[3]
[श्री० भा० ११।१६।६]

'सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' [श्वे० उ० ६।११]

मैं सर्वज्ञ, व्यापक, शान्त, सनातन परमात्मा ही समस्त भूतों के अन्तःकरण में स्थित—सर्वान्तरात्मा हूँ अर्थात् सर्वभूत प्राणियों का अधिष्ठान—

'अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो'[4]
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥
[मु० उ० ३।१।५]

शरीर के भीतर ज्योतिर्मय शुभ्र रूप से स्थित हूँ, जिसको क्षीणदोष विशुद्धान्तःकरण यतिगण ही देखते हैं, अन्य नहीं। तथा—

'भूतानां स्थितिरुत्पत्तिरहं वै प्रतिसङ्क्रमः'[5]
[श्री० भा० ११।१६।३५].

मुझसे सृष्ट कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों की गणना संभव नहीं, तब फिर मेरी विभूतियों के विषय में कहना ही क्या !

१. सर्वज्ञ, सर्वगत्, शान्त ब्रह्म सम्पूर्णप्राणियों के हृदय में स्थित है।
२. विष्णु सम्पूर्णप्राणियों के सनातन आत्मा हैं।
३. हे उद्धव ! मैं इन समस्त भूतप्राणियों का आत्मा, सुहृद और ईश्वर हूँ।
४. शरीर के भीतर विशुद्ध ज्योतिर्मय पुरुष है, जिसको दोष रहित यति लोग देखते हैं।
५. भूतों की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय मैं हूँ।

'अहं सर्वाणिभूतानि तेषां स्थित्युद्भवाप्ययः'
[श्री० भा० ११।१६।६]

'एष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्'
[मा० उ० ६]

मैं ही सब चैतन्य भूतों का आदि, मध्य और अन्त हूँ अर्थात् उनकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का मूल कारण हूँ ॥२०॥

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥२१॥

द्वादश आदित्यों में मैं विष्णु नामक आदित्य हूँ अथवा वामन हूँ। प्रकाश करने वाली ज्योतियों में मैं किरणों वाला सूर्य हूँ। मरुतों में मैं मरीचि नामक मरुत-वायु हूँ और नक्षत्रों में मैं शशि—चन्द्रमा हूँ ॥२१॥

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥२२॥

चारों वेदों में गान करने योग्य अति मधुर मैं साम वेद हूँ। देवताओं में उनका अधिपति इन्द्र हूँ। एकादश इन्द्रियों में उनका प्रवर्तक मन हूँ। तथा सर्वभूतप्राणियों में चेतना—ज्ञान शक्ति मैं हूँ ॥२२॥

रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥२३॥

एकादश रुद्रों में मैं शंकर हूँ। यक्ष और राक्षसों में धन का स्वामी कुबेर मैं हूँ। आठ वसुओं में मैं अग्नि हूँ और शिखर वाले पर्वतों में मैं सुमेरु पर्वत हूँ ॥२३॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥२५॥

समस्त महर्षियों में मैं अति तेजस्वी भृगु हूँ। वाणी सम्बन्धी पदात्मक वाक्यों में एकाक्षर ओंकार मैं हूँ। यज्ञों में हिंसा दोष से रहित विशुद्ध जप यज्ञ मैं हूँ और अचल रहने वाले पर्वतों में हिमालय पर्वत मैं हूँ ॥२५॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥२६॥

समस्त वृक्षों में पूजनीय पीपल का वृक्ष मैं हूँ। देवर्षियों में परम वैष्णव नारद मैं हूँ। गन्धर्वों में चित्ररथ नाम का गायक गन्धर्व मैं हूँ तथा वैराग्य, धर्म, ज्ञान, ऐश्वर्यादि समस्त सिद्धपुरुषों में जन्मसिद्ध कपिलमुनि मैं हूँ ॥२६॥

उच्चैः श्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥ २७ ॥

समस्त घोड़ों में अमृत मंथन के समय उत्पन्न उच्चैःश्रवा मुझको जान। गजेन्द्रों में अमृतमंथन से उत्पन्न ऐरावत नामक हाथी मुझको जान। तथा मनुष्यों में राजा तू मुझे ही जान ॥ २७ ॥

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥ २८ ॥

अस्त्रों में दधीचि ऋषि की हड्डी से बना हुआ वज्र मैं हूँ। गौओं में समुद्र मन्थन से उत्पन्न इच्छित कामनाओं को प्रदान करनेवाली वशिष्ठ ऋषि की कामधेनु मैं हूँ। सन्तानोत्पत्ति का हेतु कामदेव मैं हूँ और सर्पों में सर्पराज वासुकि मैं हूँ ॥ २८ ॥

अनंतश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितृणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥ २९ ॥

नागों में नागराज अनन्त—शेष मैं हूँ। जल सम्बन्धी देवों में उनका राजा वरुण मैं हूँ। पितरों में पितरराज अर्यमा मैं हूँ और दुष्टों को दंड देनेवालों में मैं यम—यमराज हूँ ॥ २९ ॥

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥ ३० ॥

दैत्यों में मैं भक्तराज प्रह्लाद हूँ। गिनती करनेवालों में मैं काल हूँ। पशुओं में मैं पशुओं का राजा सिंह—व्याघ्र हूँ और पक्षियों में मेरा वाहन जो गरुड़ है, वह मैं हूँ ॥ ३० ॥

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥ ३१ ॥

पवित्र करने वालों में मैं वायु हूँ। शस्त्रधारियों में राक्षस कुल का नाशक परमवीर मैं श्री रामचन्द्र हूँ। अथवा परशुराम हूँ। पुच्छधारी—जलचरों में मकर—मकरमच्छ मैं हूँ और स्रोतों-नदियों में भागीरथी गंगा मैं हूँ ॥३१॥

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥ ३२ ॥

हे अर्जुन ! समस्त जड़-चैतन्य जगत् का आदि, मध्य और अन्त मैं हूँ अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय मैं हूँ।

'सर्गस्थित्यन्तकरणीं ब्रह्म विष्णु शिवात्मिकाम् ।
स संज्ञां याति भगवानेक एव जनार्दनः ॥'
[वि० पु० १।२।६६]

अथवा मैं एक परमात्मा ही सृष्टि, स्थिति और संहार करने वाली ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव संज्ञा को प्राप्त होता हूँ। समस्त वेद-शास्त्रादि विद्याओं में मोक्ष प्रदान करनेवाली औपनिषदिक अध्यात्मविद्या मैं हूँ। तथा विवाद करनेवालों का तत्त्व निर्णयार्थ निष्पक्षवाद मैं हूँ ॥ ३२ ॥

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वंद्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥ ३३ ॥

सब अक्षरों—वर्णों में—

'अकारो वै सर्वावाक्'[१] [श्रुति]

सर्वाङ्गमय होने से श्रेष्ठ अकार मैं हूँ। समासों में दोनों पदों में समरूप से स्थित रहनेवाला श्रेष्ठ द्वंद्व समास मैं हूँ। काल, मुहूर्तादि विभाग वाले—

'कालकालः' [पुराण]

१. अकार निश्चय ही संपूर्ण वाणी है।

काल का भी काल, अक्षयकाल मैं हूँ। सब जीवों के कर्मफल का विधान करनेवाला विधाता तथा सर्व ओर मुख वाला परमात्मा मैं हूँ ॥ ३३ ॥

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥ ३४ ॥

मैं ही सर्वभूतप्राणियों का संहार करने वाला मृत्यु हूँ और भविष्य में उत्पन्न होने वाले प्राणियों का अभ्युदय—उत्कर्ष मैं हूँ। तथा स्त्रियों में कीर्ति, श्री, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति, और क्षमा: (देवताओं की) सत-धर्म पत्निशँ मैं हूँ ॥ ३४ ॥

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥ ३५ ॥

सामों में गान करने योग्य बृहत्साम नामक साम मैं हूँ। त्रिष्टुप, अनुष्टुप आदि छन्दों में चौबीस अक्षर वाली श्रेष्ठ गायत्री-मन्त्र मैं हूँ। चैत्रादि बारह महीनों में सुखदायक शीत-वातादिशून्य मार्गशीर्ष—अगहन का महीना मैं हूँ और शिशिर आदि ऋतुओं में सब सुगन्धियुक्त पुष्पों का आकर अति रमणीय वसन्त ऋतु मैं हूँ ॥ ३५ ॥

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥ ३६ ॥

छल करने वालों में पासों से खेला जाने वाला द्यूत-जूआ मैं हूँ। तेजस्वियों का तेज मैं हूँ। जीतने वालों का विजय मैं हूँ। निश्चय करने वालों का निश्चय मैं हूँ तथा सात्विक पुरुषों का सत्त्वगुण मैं हूँ ॥ ३६ ॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥ ३७ ॥

वृष्णिवंशियों में वसुदेव का पुत्र वासुदेव मैं हूँ। पाण्डवों में धनंजय—अर्जुन मैं हूँ। वेदार्थ के मनन करने वालों में अर्थात् सर्वपदार्थों के जानने वालों में व्यास मुनि मैं हूँ और कवियों—तत्त्वज्ञानियों में शुक्राचार्य मैं हूँ ॥ ३७ ॥

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥ ३८ ॥

शास्त्रविरुद्ध मार्गावलम्बियों को दमन करने की शक्ति मैं हूँ। विजय की इच्छा वालों की नीति मैं हूँ। सर्वगुह्यों में अर्थात् गोपनीयों में मैं मौन हूँ, क्योंकि मूक पुरुषों का अभिप्राय ज्ञात नहीं होता है तथा तत्त्व ज्ञानियों का परावरैकत्वविज्ञान रूप ज्ञान मैं हूँ ॥ ३८ ॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥ ३९ ॥

प्यारे अर्जुन! मैं तुमसे कहाँ तक कहूँ,

'विष्णुर्विश्वजगद्योनिः' [श० उ० २२]

मैं विष्णु ही सब प्राणियों का बीज अर्थात् उत्पत्ति का मूल कारण हूँ; क्योंकि—

'कार्यं सर्वं कारणमात्रम्'

'सर्व कार्य कारण रूप ही होते हैं' इस नियम से ऐसा चराचर का कोई भी प्राणी नहीं है, जो—

'मत्स्वरूपमेव सर्वं मद्व्यतिरिक्तमणुमात्रं न विद्यते'
[त्रि० म० उ० ८।१]

मुझसे रहित हो। तात्पर्य यह है कि मैं अधिष्ठानस्वरूप परमात्मा ही—

'प्राणो ह्येष[१] सर्वभूतैर्विभाति' [मु० उ० ३।१४]

सर्वात्मरूप से स्थित होकर सबको प्रकाशित कर रहा हूँ। इसलिये मैं ही सब रूपों में सर्वत्र स्थित हूँ, मुझसे भिन्न अणुमात्र भी नहीं है ॥ ३९ ॥

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥ ४० ॥

हे परंतप! मेरी दिव्य विभूतियों के विस्तार का अन्त नहीं है अर्थात् अनन्त है। इसीलिये संक्षेप से मैंने विभूतियों का विस्तार बतलाया है ॥ ४० ॥

---

१. यह प्राणस्वरूप परमात्मा ही संपूर्ण भूतों के रूप से प्रकाशित हो रहा है।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसंभवम् ॥ ४१ ॥

संसार में जो जो भी विभूतियुक्त ऐश्वर्यसम्पन्न चराचर प्राणी हैं अर्थात् जिस किसी में भी विद्या, तप, शम, दम, तितिक्षा एवं ज्ञानादि की विशेषता है, तथा जो भी श्रीमान्—धन-धान्य सम्पन्न, कीर्तिमान हैं अथवा कान्तिमान हैं और जो ऊर्जित अर्थात् शक्तिमान्, उत्साह आदि सद्गुणों से युक्त हैं, उन सबको मेरे तेज से उत्पन्न हुआ जान।

इसी प्रकार भगवान् ने श्री मद्भागवत में भी कहा है कि—

'तेज- श्रीः कीर्तिरैश्वर्यं ह्रीस्त्यागः सौभगं भगः।
धैर्यं तितिक्षा विज्ञानं यत्र यत्र स मेंऽशकः॥'
[श्री० भा० ११।१६।४०]

जिसमें तेज, श्री, कीर्ति, ऐश्वर्य, लज्जा, त्याग, सौंदर्य, सौभाग्य, पराक्रम, तितिक्षा और विज्ञान आदि श्रेष्ठ गुण हों, वह मेरा ही अंश है ॥ ४१ ॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ ४२ ॥

हे अर्जुन! इन उपर्युक्त भिन्न-भिन्न विभूतियों के जानने से अर्थात् परिच्छिन्न दर्शन से तेरा क्या प्रयोजन?

वाचारम्भणं विकारोनामधेयम्' [छा० उ० ६।१।४]

'मनोविकारा एवैते यथा वाचाभिधीयते'[1]
[श्री० भा० ११।१६।४१]

ये तो केवल मनोविकार वाचारम्भण मात्र हैं, क्योंकि वाणी से जो कुछ कहा जाता है तथा मन से जो कुछ संकल्प किया जाता है, वह सब मिथ्या होता है—

'सत्यमेव परं ब्रह्म' [त्रि० म० उ० ३।१]

---

१. जैसे वाणी से कथन किया हुआ मिथ्या होता है, वैसे ही ये सब मनोविकार मिथ्यामात्र हैं।

ग्यारहवाँ अध्याय

विश्वरूप-दर्शन-योग

॥ ॐ ॥

ग्यारहवाँ अध्याय

अर्जुन भगवान् से यह सुन कर कि—

'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्'
[गी० १०।४२]

'मैंने अपने एक अंश मात्र से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को धारण कर रखा है' विचार किया कि यदि मुझे उस विश्वरूप का दर्शन हो जाय तो मैं कृतार्थ हो जाऊँ। इसलिये विराट् रूप के दर्शन के लिये परम उत्कण्ठित होकर बोला।

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥

अर्जुन बोला—हे भगवन्! आप ने जो मेरे ऊपर अनुग्रह करने के लिये तथा मेरे कल्याणार्थ शोक-मोह की निवृत्ति के लिये अत्यन्त गोपनीय—

'नायं हन्ति न हन्यते' [गी० २।१६]
'न जायते म्रियते वा' [गी० २।२०]
'वेदाविनाशिनं नित्यम्' [गी० २।२१]

'नासतो विद्यते भावोनाभावो विद्यते सतः'
[गी० २।१६]

'आत्मा मरता नहीं और न मारा जाता है' 'न कभी जन्मता है न मरता है' 'जो इसे अविनाशी और नित्य जानता है' 'असत् का भाव नहीं है और न सत् का अभाव होता है' यह आत्म-अनात्म-विषयक वचनामृत कहा है, उससे मेरा आत्मा कर्तृत्व-भोक्तृत्व विषयक मोह नष्ट हो गया है। अब मैं आप की कृपा से स्वस्थ अपने स्वरूप में स्थित हूँ ॥ १ ॥

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ २ ॥

हे कमलदल लोचन । मैंने—

'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ।'
[गी० ७।६]

[आदि पदों से] आप से प्राणियों की उत्पत्ति और प्रलय को विस्तारपूर्वक सुना और आप के सोपाधिक और निरुपाधिक अक्षय माहात्म्य को भी सुना कि आप विश्व की सृष्टि करने, सर्वनियन्ता होने, शुभाशुभ कर्म करने तथा बन्ध-मोक्ष का फल प्रदान करने पर भी—

'मया ततमिदं सर्वम्' [गी० ६।४]
'न च मां तानि कर्माणि' [गी० ६।६]
'समोऽहं सर्वभूतेषु' [गी० ६।२६]

[इत्यादि पूर्व कथित पदों के अनुसार] सदैव निर्विकार, सम एवं उदासीन ही रहते हैं ॥ २ ॥

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥

हे परमेश्वर । आप—

'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्'
[गी० १०।४२]

[आदि पदों से] अपने को जैसा बतलाते हैं, मुझे इसमें लेशमात्र भी संशय नहीं है । तथापि हे पुरुषोत्तम ! मैं आप के उस उपनिषद् प्रतिपाद्य ब्रह्मा-शंकरादि से सेव्य, ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति बल, वीर्य और तेजादि से युक्त सर्वाश्चर्यमय अनन्त रूप को आप की दयालुता और प्रेमाधीनता के कारण प्रत्यक्ष इन आँखों से देखना चाहता हूँ ॥ ३ ॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

हे प्रभो ! यदि आप मुझसे यह अपना अनन्त तेजोमय रूप देखा जाना संभव समझते हैं अर्थात् मुझे उसका अधिकारी समझते हैं, तो हे शत्रुओं और पातकियों को भी हठात् भक्ति तथा मुक्ति प्रदान करनेवाले योगेश्वरेश्वर !

और मुझे अपना षडैश्वर्य सम्पन्न अविनाशी अनन्त विश्वरूप दिखलाने की कृपा कीजिये ॥ ४ ॥

श्री भगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ ५ ॥

उस पर करुणावरुणालय भक्तवत्सल भगवान् बोले—हे भक्त प्रवर पार्थ ! *अब तू सावधान होकर मेरे सैकड़ों, हजारों अपरिमित अनेक रूपों को* देख; जो कि नाना प्रकार के दिव्य—अलौकिक हैं तथा नाना प्रकार के हरित, नील, पीतादि दिव्य वर्णों से युक्त अलौकिक आकृति वाले हैं, उन भयंकर, सौम्य, शृंगारित, उदासीन, समाधिस्थ आदि रूपों को देख ॥ ५ ॥

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥

हे भारत ! तू मेरे इस विश्वरूप में ही—

'अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ[1]
दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः ।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य
पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥'
[मु० उ० २।१।४]

द्वादश आदित्यों को, आठ वसुओं को, एकादश रूद्रों को, दोनों अश्विनी-कुमारों को और उनचास मरुद्गणों को देख; तथा पूर्व कभी न देखे हुए अनन्त आश्चर्यमय रूपों को भी देख ॥ ६ ॥

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥

---

१. अग्नि जिसका मस्तक है, चन्द्रमा और सूर्य नेत्र हैं, वेद वाणी है, वायु प्राण है, संपूर्ण विश्व जिसका हृदय है एवं जिसके चरणों से पृथ्वी प्रकट हुई है, वह यह ब्रह्म सर्वभूतप्राणियों का अन्तरात्मा है ।

हे गुडाकेश ! जैसे झरोखे में सूर्य की किरणों में असंख्य-असंख्य परमाणु उड़ते हुए दिखाई देते हैं, वैसे ही आज तू मेरे इस विश्वरूप शरीर के एक ही देश—स्थान में स्थित रोम-रोम में अनन्त-अनन्त उड़ते हुए चराचर सहित संपूर्ण ब्रह्माण्ड को तथा अन्य और जो कुछ जय-पराजय आदि देखना चाहता है, उसे भी देख ॥ ७ ॥

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

परन्तु तू मुझ विश्वरूपधारी को इस चर्मचक्षु के द्वारा नहीं देख सकता। इसलिये मैं तुझे दिव्य—अलौकिक ज्ञानचक्षु प्रदान करता हूँ, जिसके द्वारा तू मुझ विष्णु के अनन्त-अनन्त योग ऐश्वर्य से युक्त रूप को देखने में समर्थ होगा ॥ ८ ॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥

संजय बोला—हे धृतराष्ट्र ! ऐसा कहने के पश्चात् भक्तों के सर्व पापों को अपहरण करनेवाले महायोगेश्वर श्री हरि ने अपने ऐकान्तिक भक्त पार्थ को अपना अदर्शनीय ईश्वरीय परम-दिव्य विराट् रूप दिखलाया ॥ ९ ॥

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुत दर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥

जो दिव्यरूप अनेक दिव्यमुख और नेत्रों से युक्त तथा अनेक अद्भुत दर्शनों से युक्त सर्वाश्चर्यमय है, जो दिव्य आभूषणों से युक्त है और जो अनेक हाथों में उठाये हुए अनेक दिव्य शंख चक्रादि शस्त्रों से युक्त है, ऐसे विश्वरूप का भगवान् ने अर्जुन को दर्शन कराया ॥ १० ॥

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥

तथा जो दिव्य पुष्पों तथा रत्नों की मालाओं और वस्त्रों को धारण कर रखा है, जिसने दिव्य गंध का अनुलेपन कर रखा है और जो तेज, बल, वीर्य एवं शक्ति आदि से समग्र सर्वाश्चर्यमय है तथा जो प्रकाशमय अनंत जगत्

का आधार, सब ओर से मुखवाला है, ऐसे अपने विराट् रूप का भगवान् ने अर्जुन को दर्शन कराया ॥ ११ ॥

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥१२॥

आकाश में एक साथ उदित हुए हजारों सूर्यों का जो प्रकाश है, वह प्रकाश है, वह प्रकाश विश्वरूपधारी महात्मा श्री कृष्ण के समान शायद ही हो।

तात्पर्य यह है कि सहस्रों सूर्यों का प्रकाश भी—

'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः' [यो० शि० उ० ३।२२]

'तस्यभासा सर्वमिदं विभाति'[1] [मु० उ० २।२।१०]

ज्योतियों के परमज्योति, अनन्त ब्रह्माण्ड के प्रकाशक विश्वरूपधारी श्रीकृष्ण के सदृश नहीं हो सकता ॥ ११ ॥

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ १३ ॥

उस काल में अर्जुन ने अनेक प्रकार से विभक्त हुये अण्डज, पिण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज चराचर सहित समस्त जगत् का समुद्र में बुलबुले के सदृश विश्वरूपधारी देवदेवेश्वर श्री कृष्ण के शरीर में एकत्र स्थित देखा ॥ १३ ॥

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥ १४ ॥

तदनन्तर ऐसे अलौकिक सर्वाश्चर्यमय अनन्तरूप को देखकर आश्चर्यचकित और हर्षित रोमवाला परमानंद से परिपूर्ण अर्जुन भगवान् की अनंत दया और अपने भाग्य की मूकवाणी से सराहना करता हुआ तथा प्रेमाश्रु बहाता हुआ, उस विश्वरूपधारी अनंत देव को अति श्रद्धा भक्ति से सिर से प्रणाम करके अर्थात् बार-बार साष्टाङ्ग प्रणाम करता हुआ, स्तब्ध, हाथ जोड़े हुये बोला ॥ १४ ॥

---

१. उस परमात्मा के ही प्रकाश से यह सब जगत् प्रकाशित होता है।

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥ १५ ॥

हे देव ! मैं आप के शरीर में सम्पूर्ण देवताओं तथा विभिन्न प्रकार के स्थावर-जङ्गम समस्त प्राणियों के समुदाय को तथा ब्रह्माण्ड के स्वामी कमलासन पर बैठे हुए चतुर्मुख ब्रह्मा को तथा कैलास सहित महादेव को और वशिष्ठ आदि ऋषियों को तथा वासुकि प्रभृति दिव्य सर्पों को देख रहा हूँ ॥ १५ ॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥ १६ ॥

हे परमात्मन् ! मैं आप को—

'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो हस्त उत विश्वतस्पात्'[1]
[त्रि० म० उ० ६।१]

'सर्वाननशिरोग्रीवः'[2] [श्वे० उ० ३।११]

अनेकबाहु, उदर, मुख और नेत्रों से युक्त सब ओर से अनन्तरूपवाला देख रहा हूँ । हे विश्वेश्वर । हे विश्वरूप ! आप सर्वगत् एवं अनन्त हैं । इसलिये—

'आदिमध्यान्तशून्यं ब्रह्म' [त्रि० म० उ० १।१]

न मैं आपके अन्त को देखता हूँ, न मध्य को और न आदि को ही देखता हूँ ॥ १६ ॥

---

१. वह विराट् परमात्मा सब ओर आँखों वाला, सब ओर मुखों वाला, सब ओर हाथों वाला एवं सब ओर पैरों वाला है ।

२. वह परमात्मा सर्वमुखोंवाला, सर्वशिरोंवाला और सर्वगर्दनोंवाला है ।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतोदीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥ १७ ॥

हे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के प्रकाशक ! आप किरीटयुक्त, गदायुक्त, चक्रयुक्त, तेज के पुञ्ज सब ओर से देदीप्यमान हो रहे हैं, इसलिये आप इस दिव्य चक्षु से भी कठिनता से देखने में आ रहे हैं। मैं आप को सब प्रकार से, सब ओर से प्रदीप्त अग्नि और सूर्य के समान प्रकाश वाला, बुद्धि से अग्राह्य, अप्रमेयस्वरूप देख रहा हूँ ॥ १७ ॥

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वत धर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥ १८ ॥

हे भूमन् ! आप उपनिषद्-प्रतिपाद्य, मुमुक्षुओं के द्वारा जानने योग्य ज्ञेय—

परात्परं परमं वेदितव्यम्' [ना० प० उ० ६।१६]

'अक्षरं परमंब्रह्म निर्विशेषं निरञ्जनम्' [यो० शि० उ० ३।१६]

परात्पर, परमअक्षर, निर्विशेष, निरञ्जन ब्रह्म हैं, जिसको जानकर—

'तमेवं ज्ञात्वा विद्वान्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते' [ना० प० उ० ६।१]

विद्वान्, मृत्यु के मुख से मुक्त हो जाता है।

तथा आप इस विश्व के परम निधान—आश्रय हैं।

तथा आप—

'नित्यः सर्वगतः' [अन्न० उ० ५।७५]

नित्य सर्वगत् एवं निर्विकार है।

तथा आप—

'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण'
एषां लोकानामसंभेदाय' [बृ० उ० ४।४।२२]

[इस मन्त्र के अनुसार] सनातन वर्णाश्रम धर्म के रक्षक एवं सनातन परम पुरुष हैं, ऐसा मेरा मत है ॥१८॥

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥१९॥

हे अनन्त ! मैं आप एक अद्वितीय परमात्मा को आदि, मध्य एवं अन्त से रहित अर्थात् अनन्त रूपवाला और अनन्त वीर्य—सामर्थ्य से युक्त अर्थात् अतिशयज्ञान, बल, ऐश्वर्य और तेजादि से सम्पन्न देखता हूँ । तथा आप को अनन्त भुजाओं से युक्त—

'चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ' [मु० उ० २।१।४]

चन्द्र-सूर्य नेत्र वाला देख रहा हूँ । तथा मैं आप को प्रज्वलित अग्नि के समान मुखवाला अर्थात् प्रलयकालीन अग्नि के सदृश सबका संहार करने में प्रवृत्त, भयंकर मुखों वाला और अपने तेज से इस विश्व को तपायमान करता हुआ देख रहा हूँ ॥१९॥

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥२०॥

हे भूमन् ! आप अद्वितीय विश्वरूपधारी परमेश्वर से यह पृथ्वी और आकाश के बीच का सारा मध्यवर्ती भाग और समस्त दिशायें परिपूर्ण—व्याप्त हैं । इसलिये आप ही सर्वस्वरूप हैं । क्योंकि—

---

१. यह सर्वेश्वर है, यह भूतों का स्वामी और भूतों का पालन करने वाला है । इन लोकों के असंभेद के लिये अर्थात् मर्यादा रक्षार्थ यह उनका धारण करने वाला सेतु है ।

'येन यद्व्याप्तं तत्तन्मात्रमेव'

जिससे जो व्याप्त होता है, वह तन्मात्र—तद्रूप ही होता है। हे महात्मन्! आप के इस अपरिच्छिन्न सर्वाश्चर्यमय महातेजस्वी भयंकर रूप को देखकर तीनों लोक व्यथित हो रहे हैं ॥२०॥

अमी हि त्वा सुरसंघा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥

हे भगवन्! कितने देवताओं के समूह आप में दौड़-दौड़ कर प्रवेश करते हुये दिखाई दे रहे हैं और उनमें से कितने आप के अत्यन्त भयंकर और आश्चर्यजनक आकृति को देखकर भयभीत हो हाथ जोड़कर आप की स्तुति कर रहे हैं। तथा कितने भृगु आदि तत्त्वदर्शी महर्षियों और कपिलादि सिद्धों के समुदाय आपका स्वस्ति—कल्याण हो! जय हो! जय हो!! रक्षा करो! रक्षा करो!! ऐसा कहते हुये समस्त स्तोत्रों के द्वारा स्तुति कर रहे हैं ॥२१॥

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥२२॥

हे प्रभो! जो रुद्र, आदित्य, वसु, साध्य, विश्वेदेव और दोनों अश्विनी-कुमार, वायुदेव और उष्मपा नामक पितृगण हैं तथा जो गन्धर्व और यक्ष हैं और जो असुर एवं सिद्धों के समुदाय हैं, वे सभी आश्चर्यचकित हो आपको देख रहे हैं ॥२२॥

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥२३॥

हे महाबाहो! आप के इस अत्यन्त महान्, बहुत मुखनेत्रों से युक्त तथा बहुत भुजाओं, जंघाओं और पैरों से युक्त और बहुत उदर तथा बहुत सी

भयंकर दाढ़ों से युक्त अत्यन्त विकराल रूप को देखकर यह सब लोक तथा वैसे ही मैं भी अति व्यथित—भयभीत हो रहा हूँ ॥२३॥

नभः स्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥२४॥

हे विष्णो ! आकाश का स्पर्श किये हुये अर्थात् सर्वत्र व्याप्त, देदीप्यमान, अनेक वर्णों वाले, फैलाये हुये मुखों वाले और प्रज्वलित विशाल नेत्रों वाले आपके सर्वव्यापी, सर्वाश्चर्यमय, अतिविकराल रूप को देखकर मैं अत्यन्त भयभीत और व्याकुल हो रहा हूँ, मुझे धैर्य और शान्ति की प्राप्ति नहीं हो रही है ॥२४॥

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानल सन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ २५ ॥

हे भगवन् ! मैं आपके प्रलयकालीन अग्नि के सदृश विकराल भयंकर दाढ़ोंवाले मुखों को देखकर दिशाओं को भूल गया हूँ और शान्ति को भी नहीं प्राप्त हो रहा हूँ । इसलिए हे जगदाधार ! देवदेवेश ! आप प्रसन्न होइये ।। २५ ।।

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपाल संघैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥ २६ ॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥ २७ ॥

हे त्रैलोकेश्वर ! ये सब दुर्योधनादि धृतराष्ट्र के पुत्र तथा समस्त राजाओं के समूहों के सहित भीष्म, द्रोण, सूतपुत्र कर्ण तथा हमारी ओर के भी द्रुपद,

धृष्टद्युम्न आदि कितने मुख्य योद्धाओं के सहित सबके सब आपके अति विकराल दाढ़ों वाले मुखों में बड़े वेग से प्रवेश कर रहे हैं तथा उनमें से कितने ही जिनके मस्तक चूर्ण-चूर्ण हो गये हैं, वे आपके दाँतों के बीच में लगे हुए दिखाई दे रहे हैं ॥ २६, २७ ॥

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्तिवक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥ २८ ॥

हे अनन्त ! जैसे बरसाती नदियों के बहुत से जलप्रवाह बड़े वेग से दौड़ते हुए समुद्र में प्रवेश करते हैं, वैसे ही वे सब भीष्मादि शूरवीर तथा राजा लोग आपके प्रज्वलित जाज्वल्यमान मुखों में बड़े वेग से प्रवेश कर रहे हैं ॥ २८ ॥

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥ २६ ॥

तथा जैसे पतंग बुद्धि पूर्वक अपने नाश के लिये अत्यन्त वेग से दौड़ दौड़कर प्रज्वलित अग्नि में प्रवेश करते हैं, वैसे ही ये सब शूरवीर बुद्धिपूर्वक अपने नाश के लिए अत्यन्त वेग से दौड़-दौड़ कर आपके प्रज्वलित मुख में प्रवेश कर रहे हैं ॥ २६ ॥

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥ ३० ॥

हे विष्णो ! आप अपने देदीप्यमान मुखों के द्वारा समस्त लोकों को निगलते हुए चाट रहे हैं अर्थात् आस्वादन कर रहे हैं। तथा आपकी प्रचण्ड दीप्तियाँ अपने प्रकाश के द्वारा संपूर्ण लोक को परिपूर्ण व्याप्त करके प्रलयकालीन सूर्य के समान संतप्त कर रही हैं ॥ ३० ॥

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥ ३१ ॥

हे भगवन्! आप यह बतलाइये कि अत्यन्त घोर—उग्ररूपधारी आप कौन है? हे देवेश्वर! मेरा आप को नमस्कार है। आप कृपया प्रसन्न हों। मैं सब कारणों के भी परमकारण आप आदिनारायण को विशेष रूप से जानना चाहता हूँ। मैं आप की प्रवृत्ति—चेष्टा का नहीं जानता हूँ, इसलिये बतलाने की कृपा कीजिये ॥३१॥

श्री भगवानुवाच
कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥

भगवान् बोले—हे अर्जुन! मैं लोकों का नाश करने वाला बढ़ा हुआ महाकाल हूँ। मैं इस समय लोकों का संहार करने के लिये ही प्रवृत्त हुआ हूँ। इसलिये तेरे युद्ध न करने पर भी ये प्रतीपक्षी कौरव दल की सेनाओं में जितने भीष्म, द्रोणादि योद्धा है, वे सब के सब नहीं रह जायेंगे अर्थात् नष्ट हो जायेंगे ॥३२॥

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥

इसलिये तू उनके साथ युद्ध करने के लिये उद्यत हो जा और देवताओं से भी दुर्जय भीष्म, द्रोणादि शत्रुओं को जीतकर यश को प्राप्त कर। तथा अनायास ही शत्रुओं को जीतकर समृद्धि सम्पन्न निष्कण्टक राज्य को भोग, क्योंकि ये अधर्म परायण भीष्म, दुर्योधनादि शूर वीर मेरे द्वारा पहले से ही मारे गये हैं अर्थात् मैंने इनके शक्ति, बल, वीर्य और तेजादि का अपहरण कर लिया है। इसलिये हे सव्यसाचिन्! तू केवल निमित्त मात्र बन जा ॥३३॥

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥३४॥

अर्जुन को जिन अजेय धनुर्वेद के आचार्य दिव्य अस्त्रों से युक्त गुरु द्रोणाचार्य से; तथा परशुराम को भी युद्ध में परास्त करने वाले, दिव्य अस्त्रों से युक्त स्वेच्छा मृत्यु वाले जिन भीष्मपितामह से तथा जिन महारथी जयद्रथ, कर्ण और अन्य योद्धाओं से हारने की शंका थी, भगवान् ने उन उन का नाम लेकर कहा कि मेरे द्वारा मारे हुये इन द्रोण, भीष्म, कर्ण जयद्रथ तथा अन्य आततायिओं को निमित्तमात्र बन कर मार; भयभीत मत हो, युद्ध कर। तू संग्राम में अवश्य शत्रुओं को जीतेगा ॥३४॥

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्‌गदं भीतभीतः प्रणम्य॥३५॥

संजय बोला—हे राजन्! परम आश्चर्यमय भक्तवत्सल भगवान् केशव के इन उपर्युक्त वचनों को सुनकर किरीटधारी अर्जुन प्रेमातिरेक के कारण काँपता हुआ हाथ जोड़कर नमस्कार कर फिर पृथ्वी पर साष्टाङ्ग प्रणाम करके अतिशय हर्ष से आनन्दाश्रु बहाता हुआ, गद्गद वाणी से युक्त अत्यन्त भयभीत होकर भगवान् से यह कहा ॥३५॥

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः॥३६॥

हे हृषीकेश! यह उचित ही है कि जगत् आप सर्वाधिष्ठानस्वरूप सबके जीवनाधार, प्राणाधार आनंदकंद सच्चिदानंदघन वासुदेव के माहात्म्य—कीर्तन तथा गुणों के श्रवण से अति हर्ष—निरतिशय आनंद को प्राप्त होता है तथा आप के कीर्तन और गुणानुवाद से—

'सा त्वस्मिन् परम प्रेमरूपा' [ना० भ० सू० २]
'सा परानुरक्तिरीश्वरे' [शा० भ० सू० २]

परम प्रेम—अनुरक्ति को भी प्राप्त होता है। तथा जो राक्षसगण भयभीत होकर सब दिशाओं की ओर भाग रहे हैं, यह भी उचित ही है और जो समस्त कपिलादि सिद्धों के समुदाय आपको नमस्कार कर रहे हैं, यह भी उचित ही है ॥ ३६ ॥

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥ ३७ ॥

हे महात्मन्! आप—

'हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम्'[1] [श्वे० उ० ३।४]

हिरण्यगर्भ—ब्रह्मा के भी स्रष्टा आदि मूल कारण, नियन्ता तथा उपदेष्टा हैं, तब फिर आप जैसे सर्वश्रेष्ठ—

'अनन्तश्चात्मा विश्वरूपः' [ना० प० उ० ६।८]
'सर्वलोकमहेश्वरम्' [भी० भा० ११।१८।४५]

अनन्तात्मा, विश्वरूप, सर्वलोकमहेश्वर को ये देवताओं तथा सिद्धों के समुदाय कैसे नमस्कार न करें ? अर्थात् आप अपरिमित प्रभाववाले को अवश्य नमस्कार करेंगे।

'अनन्तश्चात्मा' [ना० प० उ० ६।८]
'देवानामधिपः' [श्वे० उ० ४।१३]

हे अनन्त! हे देवताओं के अधिपति देवेश!

'त्वमेव सर्वाधारः' [त्रि० म० उ० १।१]
'यस्मिंल्लोका अधिश्रिताः'[2] [श्वे० उ० ४।१३]

---

१. उस परमात्मा ने सृष्टि के आदि में ब्रह्मा को उत्पन्न किया।

२. जिसमें सम्पूर्ण लोक आश्रित हैं।

हे सर्वाधार जगन्निवास ! वह वेदान्त प्रतिपाद्य—

'अक्षरं परमं ब्रह्म निर्विशेषं निरञ्जनम्'

[यो० शि० उ० ३।१६]

नित्य, निर्विशेष, निरञ्जन सच्चिदानंदघन अद्वितीय अक्षर ब्रह्म आप ही हैं। तथा—

'त्वमेव सदसदात्मकः' [त्रि० म० उ० १।१]

'त्वमेव सदसद्विलक्षणः' [त्रि० म० उ० १।१]

सत्—व्यक्त—कार्य और असत्—अव्यक्त—कारण दोनों आप ही हैं तथा दोनों के साक्षी, उससे विलक्षण भी हैं ॥ ३७ ॥

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥ ३८ ॥

हे विभो ! आप जगत् के कारण आदि देव हैं, तथा आप पुरातन पुरुष हैं और आप ही विश्व के सर्वोपरि निधान—आश्रय अर्थात् महाप्रलय के पश्चात् सम्पूर्ण विश्व जिसमें निवास करता है, वह निधान आप ही हैं। तथा आप ही—

त्वमेव सदसद्विलक्षणः' [त्रि० म० उ० १।१]

'नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता'[1] [बृ० उ० ३।७।२३]

सत्—असत् से विलक्षण, समस्त जानने योग्य वस्तुओं के विज्ञाता सर्व साक्षी हैं तथा जानने योग्य ज्ञेय वस्तु भी आप ही हैं। तथा आप ही परमधाम—वैष्णव परम पद भी हैं। हे अनन्तरूप !

'एकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्'

[श्वे० उ० ३।६]

आप एक अद्वितीय पुरुष से ही यह सारा ब्रह्माण्ड व्याप्त—परिपूर्ण है अर्थात् आप ही सर्वरूपों में स्थित हैं; क्योंकि—

---

१. इससे भिन्न कोई दूसरा विज्ञाता नहीं है।

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासन भोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ ४२ ॥

हे विश्वेश्वर ! मैंने आप ईश्वर के इस विश्वरूप की महिमा को न जानकर अर्थात् आपको सामान्य पुरुष समझकर प्रमाद—अज्ञान से या प्रणय-प्रेम से पूर्व परिचय के कारण 'ये मेरे समवयस्क तथा मेरे मित्र हैं' ऐसा मानकर हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखा ! इत्यादि वाक्य कहे हैं। तथा परिहास में, सोने, बैठने, भोजन के समय में, एकान्त में अथवा सबके सामने आपका जो तिरस्कार हुआ है। हे सर्वदा निर्विकार रहनेवाले अच्युत ! उन सबको मैं आप भक्तवत्सल, अप्रमेय स्वरूप, परमकारुणिक परमेश्वर से क्षमा कराता हूँ अर्थात् अपने अपराधों की क्षमा चाहता हूँ ॥ ४१, ४२ ॥

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिम प्रभाव ॥ ४३ ॥

हे अतुलनीय प्रभाव वाले ~~अमित~~ परमात्मन् ! आप—

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' [तै० उ० ३।१]

इस चराचर लोक के पिता—जनक हैं और इसके पूज्यतम्—सर्वोपरि वेदोपदेष्टा गुरु भी हैं; क्योंकि त्रैलोक्य में—

'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते'[1] [श्वे० उ० ६।८]

आपके समान भी नहीं कोई है। इसलिये कि दूसरे ईश्वर का अभाव है, फिर अधिक तो कोई हो ही कैसे सकता है ? ॥ ४३ ॥

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥ ४४ ॥

---

१. उसके सदृश और उससे अधिक कोई दिखाई नहीं देता।

इसलिए मैं स्तुति करने योग्य आप परमेश्वर को अच्छी प्रकार साष्टांग प्रणाम करके प्रसन्न करता हूँ। जैसे पुत्र के समस्त अपराधों को पिता क्षमा करता है और मित्र के अपराध को मित्र तथा जैसे पतिव्रता स्त्री के अपराध को पति क्षमा करता है, वैसे ही हे देव! आप मुझ अनन्य शरणागत अबोध शिष्य के समस्त अपराधों को क्षमा करें ॥ ४४ ॥

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ ४५ ॥

हे प्रभो! मैं पहले किसी से न देखे हुए आपके इस सर्वाश्चर्यमय विश्वरूप को देखकर अतिहर्षित हो रहा हूँ परन्तु साथ ही साथ इस विकराल रूप के दर्शन से मेरा मन भय से अत्यन्त व्यथित—व्याकुल भी हो रहा है। इसलिये हे देव! आप मुझे अपने प्राणों से भी अतिप्रिय पूर्व रूप दिखलाइये। हे देवेश! हे जगन्निवास! आप प्रसन्न होइये ॥ ४५ ॥

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥ ४६ ॥

हे भक्तवत्सल! मैं आपको पहले की भाँति किरीट धारण किये हुए तथा हाथ में गदा और चक्र लिये हुए देखना चाहता हूँ। इसलिये हे सहस्रबाहो! हे विश्वमूर्ते! आप अपने उसी पूर्व चतुर्भुज रूप से युक्त होइये अर्थात् आप इस विराट् रूप का उपसंहार करके सौम्य वासुदेवनन्दन श्रीकृष्ण के रूप में दर्शन दीजिये ॥ ४६ ॥

श्री भगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥ ४७ ॥

श्री भगवान् बोले—हे अर्जुन ! मैं तुम्हारी जितेन्द्रियता तथा प्रगाढ़ भक्ति के कारण तुम्हारे वश में हो गया हूँ, क्योंकि तुम्हारे जैसा एकनिष्ठ भक्त न कोई आज तक हुआ और न कोई भविष्य में होगा ही। इसीलिये मैंने प्रसन्न होकर तुम्हें अपने ऐश्वर्य—महायोगमाया के सामर्थ्य से इस सर्वाश्चर्यमय परम श्रेष्ठ—

'सूर्यकोटि समप्रभ' [ब्र० वै० पु०]

करोड़ों सूर्यों के समान प्रकाशमान, आदि, मध्य, अन्त से रहित अनन्त, अनादि विश्वरूप को दिखलाया है। इस विश्वरूप को तेरे सिवा न कोई पहले देखा और न सुना ही ॥४७॥

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥

मैं मनुष्य लोक में न तो चारों वेदों तथा यज्ञों के अध्ययन से, न स्वर्ण, कन्यादि के दान से, न श्रौत, स्मार्त, अग्निहोत्रादि क्रियाओं से और न चान्द्रायणादि उग्र तपों से ही इस रूप का दर्शन दे सकता हूँ। हे कुरुप्रवीर ! जिस विश्वरूप को तूने अनन्य भक्ति के द्वारा देखा है, उस रूप को तेरे सिवा अन्य कोई नहीं देख सकता है।

अभिप्राय यह है कि तू इस महान् आश्चर्यमय अलौकिक रूप को केवल मेरी कृपा से ही देख कर कृतार्थ हुआ है ॥४८॥

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥४९॥

अर्जुन ! तू मेरे इस प्रकार के घोर एवं व्यापक विश्वरूप को देखकर भयभीत मत हो और न विमूढ़ भाव—व्याकुलता को ही प्राप्त हो। तू भय से रहित प्रसन्न मन होकर मेरे उस पूर्व किरीट, कुण्डल, गदा, चक्र तथा श्रीवत्स, कौस्तुभ, वनमाला और पीताम्बर से युक्त—

'कोटिकन्दर्पकमनीयं शोभाधाममनोहरम्'[1]
[ब्र० वै० पु०]

'कोटि पूर्णेन्दु शोभाढ्यम्'[2] [ब्र० वै० पु०]

करोड़ों कामदेव तथा करोड़ों पूर्ण चन्द्रमा के समान शोभा के सिन्धु परम मनोहर—

'अमृतवपुः' [स्मृति]

अमृतस्वरूप चतुर्भुज रूप को ही फिर देख ॥४६॥

संजय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकंरूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥५०॥

संजय धृतराष्ट्र से बोला—हे राजन्! इस प्रकार कह कर विश्वरूपधारी भगवान् ने अर्जुन को फिर "अपना वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण का चतुर्भुज रूप दिखलाया और उस सौम्यरूप से, जो कि वात्सल्य, कारुण्य, माधुर्य, सौन्दर्य तथा सौशील्यादि का सदन है' मुस्कुराते हुये महात्मा श्री कृष्ण ने भयभीत अपने प्रिय शिष्य अर्जुन को धैर्यप्रद वाक्यों से बार-बार आश्वासन दिया अर्थात् निर्भयता प्रदान किया ॥५०॥

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥५१॥

अर्जुन बोला—हे जनार्दन! अब मैं आप सच्चिदानन्दघन वासुदेव के अमृतस्वरूप इस मधुर अत्यन्त प्रसन्न आनन्दवर्षी मानवी विग्रह को देखकर प्रसन्नचित्त, स्वस्थ, एवं निर्भय हो गया हूँ ॥५१॥

---

१. करोड़ों कामदेव से सुन्दर, शोभा के धाम, मनोहर।
२. करोड़ों चन्द्रमा की शोभा के सदन।

श्री भगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥५२॥

श्री भगवान् बोले—प्रिय अर्जुन ! तुमने मेरे जिस दुर्दर्श—अत्यन्त कठिनता से देखे जाने योग्य विश्वरूप का दर्शन किया है, उस रूप के दर्शन के लिये बड़े-बड़े समाधिस्थ ब्रह्मा-शंकरादि देवगण भी सदा लालायित रहते हैं, परन्तु अभी तक उन्होंने भी उस रूप को नहीं देखा ॥५२॥

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥५३॥

अर्जुन ! जिस प्रकार तूने मुझे देखा है, उस प्रकार से मेरा दर्शन न तो वेदों के स्वाध्याय से और न कृच्छ्रचान्द्रायणादि तपों से, न कन्या और स्वर्णादि के दान से और न श्रौत-स्मार्त आदि कर्मों से ही हो सकता है ॥ ५३ ॥

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥ ५४ ॥

हे अर्जुन ! इस प्रकार मैं विश्वरूप परमात्मा—

'भक्त्याहमेकयाग्राह्यः' [श्री० भा० ११।१४।२१]

'भक्त्याविना ब्रह्मज्ञानं कदापि न जायते'
[वि० म० उ० ८।१]

'न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥'
[श्री० भा० ११।१४।२०]

केवल अनन्य—एकनिष्ठ निरतिशय-प्रेमा-भक्ति से ही आराधित होने पर परमार्थतः जानने के योग्य हूँ कि—

'वासुदेवः सर्वमिति। [गी० ७।१६]

यह सब कुछ वासुदेव ही है।

'न वासुदेवात्परमस्ति किंचित्'

वासुदेव से भिन्न अणुमात्र भी नहीं है। तथा अनन्यभक्ति से ही—

'सर्वमिदमहं च वासुदेवः'
'मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति'

[गी० ७।७]

'अहमेवेदं सर्वम्' [छा० उ० ७।२५।१]

'यह सब और मैं वासुदेव ही हूँ' 'मुझसे भिन्न अणुमात्र भी नहीं है' 'यह सब मैं ही हूँ' इस प्रकार तत्त्व से साक्षात्कार करने के योग्य हूँ। तथा अनन्यभक्ति से ही समाहित पुरुषों के द्वारा वेदान्त वाक्य के श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन के परिपाक से स्वरूप-साक्षात्कार के द्वारा अविद्या और उसके कार्य की निःशेष निवृत्ति के द्वारा तत्त्वतः—

'तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम'[1] [मु० उ० ३।२।४]

'ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा
युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति ॥'

[मु० उ० ३।२।५]

अभेद रूप से प्रवेश करने के योग्य हूँ अर्थात् सर्वात्मरूप से प्राप्त होने के योग्य हूँ, अन्य योग, सांख्य, धर्म, स्वाध्याय, तप एवं त्यागादि उपायों से नहीं ॥ ५४ ॥

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥ ५५ ॥

जो केवल मेरे लिये ही लौकिक और वैदिक सम्पूर्ण कर्मों को करता है, अपने लिये नहीं; तथा जो मुझे ही—

'सर्वाश्रयोऽहमेव'[2]

सर्वोत्कृष्ट, सर्वाश्रय—सर्वाधार, भजनीय तथा प्राप्तव्य समझकर—

'पतिपतीनाम्'[3] [श्वे० उ० ६।७]

---

१. उसकी आत्मा ब्रह्मधाम में प्रवेश करती है।
२. मैं ही सबका आश्रय हूँ।
३. पतियों के परम पति परमात्मदेव को।

पतिव्रतावत् मुझ परम पति के ही परायण रहता है, अन्य देवादि के नहीं; तथा जो एकनिष्ठ भक्त यह समझकर कि—

'भक्त्याविना ब्रह्मज्ञानं कदापि न जायते'

[त्रि० म० उ० ८।१]

भक्ति के विना ब्रह्मज्ञान कभी भी नहीं हो सकता है, इसलिये—

'सर्वोपायान्परित्यज्य भक्तिमाश्रय'

[त्रि० म० उ० ८।१]

सब उपायों को छोड़, भक्ति का आश्रय लेकर अनन्यरूपेण सर्वात्मरूप से, तैलधारावत् अविच्छिन्न रूप से मुझे भजता है अर्थात् मुझे ही सर्वत्र देखता, सुनता एवं समझता है; अथवा—

'वाणीगुणानुकथने श्रवणौ कथायां
हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः ।
स्मृत्यां शिरस्तवनिवास जगत्प्रणामे
दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम् ॥'

[श्री० भा० १०।१०।३८]

वाणी से मेरे मंगलमय गुणों का गान करता, कान से मेरी रसमयी कथा को सुनता, हाथ से मेरी सेवा करता, मन से मेरे चरण-कमलों के स्मरण में तल्लीन रहता तथा इस सम्पूर्ण जगत् को मेरा रूप समझ कर सादर सिर से नमस्कार करता तथा आँख से हमारे प्रत्यक्ष शरीर सत्पुरुषों का दर्शन करता हुआ—

'प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते'

[श्री० भा० ११।१४।१८]

मेरी प्रगल्भ—अनन्य भक्ति से युक्त होकर कभी विषयों से अभिभूत नहीं होता है ।

तथा जो—

'सङ्गत्यागं विदुर्मौक्षम्' [अन्न० उ० ५।४]

'निस्सङ्गता मुक्तिपदं यतीनां'
सङ्गादशेषाः प्रभवन्ति दोषाः।
आरूढयोगो विनिपात्यतेऽध-
स्सङ्गेन योगी किमुताल्पबुद्धिः॥[1]
[वि० पु० ४।२।१२४]

'सर्वसङ्गनिवृत्तात्मा स मामेति न संशयः'[2]
[व० उ० २।३६]

संग त्याग—निःसंगता को ही मोक्ष अर्थात् मेरी प्राप्ति का श्रेष्ठ साधन समझ कर स्त्री, पुत्र, धनादि के संग—प्रीति से रहित हो—

'असङ्ग व्यवहारत्वाद्भवभावन वर्जनात्।
शरीरनाशदर्शित्वाद्वासना न प्रवर्तते॥'
[मु० क्ति० उ० २।२८]

अनासक्त व्यवहार से, भव की भावना से रहित होने से अर्थात् सर्वात्मदर्शन से और शरीर-नाश के दर्शन से परवैराग्य सम्पन्न हो वासना क्षय, तत्त्वज्ञान और मनोनाश के द्वारा मेरी प्राप्ति के लिये कटिबद्ध है; तथा जो—

'अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्काय वृत्तिभिः॥'
[श्री० भा० ११।२६।१६]

मेरी प्राप्ति के सर्वउपद्रवशून्य, सर्वोत्तमसाधन जड़-चेतन सर्वभूतप्राणियों में मन, वाणी और शरीर की सम्पूर्ण वृत्तियों से मेरी भावना से युक्त होकर—

'निर्वैरेण समं पश्यन्'[3] [ना० प० उ० ५।३८]

---

१. निःसंगता ही यतियों को मुक्ति देने वाली है। संग से ही समस्त दोष उत्पन्न होते हैं, संग से योगारूढ़ योगी भी पतित हो जाते हैं, तो फिर अल्पबुद्धि पुरुषों का कहना ही क्या?

२. जिसका अन्तःकरण सम्पूर्ण आसक्तियों से निवृत्त हो चुका है, वह मुझे निश्चितरूप से प्राप्त होता है।

३. सम्पूर्ण भूतप्राणियों के प्रति वैरभाव से रहित होकर सबमें सम ब्रह्म को देखता हुआ।

सर्वात्मदर्शन के द्वारा सर्वभूतप्राणियों से निर्वैर हो चुका है, वह—

'मित्रादिषु समो मैत्रः समस्तेष्वेव जन्तुषु' ।
एको ज्ञानी प्रशान्तात्मा स संतरति नेतरः ॥'
[ना० प० उ० ६।२५]

'अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते'
[ना० प० उ० ३।४५]

शत्रु-मित्र तथा समस्तप्राणियों में समभाव रखने वाला प्रशान्त अन्तःकरण अहिंसक पुरुष—

'मामेव प्राप्स्यसि' [त्रि० म० उ० ८।१]

मुझ अमृतस्वरूप परमात्मा को अभेदरूप से प्राप्त होता है। इस प्रकार परम कारुणिक सर्वज्ञ-भगवान् ने इस पद से सब शास्त्रों के सार, परम गोप्य रहस्य को अर्जुन से कहा ॥ ५५ ॥

॥ ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त ॥

---

२. जो मित्र और शत्रु आदि में समभाव रखता है और सम्पूर्ण प्राणियों के प्रति मैत्री का भाव रखता है, वह एक मात्र प्रशान्त अन्तःकरण ज्ञानी पुरुष ही संसार-सागर से तरता है, इतर—अज्ञानी नहीं।

बारहवाँ अध्याय

भक्तियोग

॥ ॐ ॥

बारहवाँ अध्याय

भगवान् ने पूर्वाध्यायों में—

'भक्त्यात्वनन्यया' [गी० ११।५४]

'मत्कर्मकृन्मत्परमः' [गी० ११।५५]

[आदि पदों से] अपने सगुण उपासक भक्तों की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया और—

'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते'

[गी० ७।१७]

'सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि'

[गी० ४।३६]

[आदि पदों से] अपने निर्गुण उपासक ज्ञानियों की श्रेष्ठता का भी प्रतिपादन किया। इस प्रकार दोनों की श्रेष्ठता को सुनकर अपनी शंका के निवारणार्थ अर्जुन भगवान् से बोला—

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ॥

अर्जुन बोला—इस प्रकार 'मत्कर्मकृत्' श्लोक के द्वारा बतलाये हुए प्रकार से जो भक्त आपके निखिल सौन्दर्य, माधुर्य-निधि विश्वरूपधारी सगुण रूप की संग-दोष से मुक्त तथा सबसे निर्वैर होकर निरन्तर तैलधारावत् अविच्छिन्न रूप से उपासना करते हैं; तथा जो—

'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्' [बृ० उ० ३।८।८]

'स्थूल नहीं, अणु नहीं, ह्रस्व नहीं, दीर्घ नहीं' इस प्रकार श्रुत्युक्त अक्षर, अव्यक्त, इन्द्रियातीत, निर्गुण, निर्विशेष सच्चिदानन्दघन परब्रह्म की उपासना करते हैं; उन दोनों में श्रेष्ठ योगवेत्ता कौन है ? ॥ १ ॥

श्री भगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ २ ॥

श्री भगवान् बोले—हे अर्जुन ! जो बुद्धिमान् भक्त—

'भक्तियोगो निरुपद्रवः'[1] [त्रि० म० उ० ८।१]

'भक्तियोगान्मुक्तिः'[2] [त्रि० म० उ० ८।१]

'सर्वेषामधिकारिणामनधिकारिणां भक्तियोग एव प्रशस्यते'[3] [त्रि० म० उ० ८।१]

भक्तियोग को निरुपद्रव, प्रशस्त और मुक्ति का श्रेष्ठ साधन समझकर—

'तस्मात्सर्वोपायान्परित्यज्य भक्तिमाश्रय' [त्रि० म० उ० ८।१]

सर्वउपायों को छोड़कर केवल भक्ति का आश्रय लेकर मुझ विश्वरूपधारी सर्वज्ञ वासुदेव में मन को सम्यग्रूपेण लगाकर अर्थात् मेरे शरणापन्न होकर—

'भजन्त्यनन्यभावेन' [श्री० भा० ११।११।३३]

'भक्तिर्मनस उल्लास विशेषः' [भक्ति मीमांसा सूत्र १]

अनन्यरूपेण निरतिशय प्रेमाभक्ति, प्रकृष्ट श्रद्धा एवं परम उल्लास से युक्त हो, गोपियों जैसे द्रुतचित्त से नित्य निरन्तर आसक्तचित्त होकर, विषयों की अपेक्षा से रहित तैलधारावत् अविच्छिन्न रूप से उपासना—भजन करते हैं अर्थात्—

'मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायवृत्तिभिः' [श्री० भा० ११।२९।१९]

सर्वभूतप्राणियों में मन, वाणी एवं शरीर की संपूर्ण वृत्तियों से मेरी ही भावना करते हैं—

---

१. भक्तियोग निरुपद्रव है ।

२. भक्तियोग से मुक्ति होती है ।

३. संपूर्ण अधिकारी-अनधिकारियों के लिये भक्तियोग ही मोक्ष का प्रशस्त मार्ग है ।

'ते मे भक्ततमा मताः' [श्री० भा० ११।११।३३]
'मदुपासकः सर्वोत्कृष्टः' [त्रि० म० उ० ८।१].

वे मेरे उपासक मेरे मत में युक्ततम-सर्वश्रेष्ठ हैं ॥ २ ॥

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥

परन्तु जो—

'अक्षरं परमं ब्रह्म निर्विशेषम्' [यो० शि० उ० ३।१६]।

'तत्सूक्ष्मत्वादनिर्देश्यं परं ब्रह्म सनातनम्'
[द० स्मृ० ७।२६]।

अक्षर तथा सूक्ष्म होने के कारण अनिर्देश्य-इन्द्रियों से अग्राह्य, अव्यक्त—

'आकाशवत्सर्वगतम्' [शा० उ० २]

'निर्लेपकं निरापायं कूटस्थमचलं ध्रुवम्'
[यो० शि० उ० ३।२१].

आकाशवत् सर्वव्यापक, अचिन्तनीय, कूटस्थ, अचल और ध्रुव—नित्य, निर्गुण, निर्विशेष शुद्ध ब्रह्म की समस्त इन्द्रियग्राम को वश में करके उपासना करते हैं अर्थात् विवेक वैराग्यादि साधनचतुष्टय से सम्पन्न हो विषयों से सर्वथा उपरत होकर—

'सजातीय प्रवाहश्च विजातीयतिरस्कृतिः' [तै० बि० उ० १।१८]।

सजातीय-ब्रह्माकार वृत्ति के द्वारा विजातीय—विषयाकार वृत्ति का निःशेषरूप से निर्मूलन करके अर्थात् सर्वत्र ब्रह्ममात्र दर्शन से समबुद्धि से युक्त होकर—

'आत्मवत्सर्वभूतानि पश्यन्' [ना० प० उ० ४।२२]।
'सर्वत्र समदर्शनः' [ना० प० उ० ४।१३].

आत्मवत् सर्वभूतप्राणियों को देखते हुए सर्वत्र समदर्शन के कारण सर्वभूत-प्राणियों के आत्यन्तिक हित—आत्मदर्शन में रत हैं; अथवा जो सर्वात्मदर्शन

के कारण सबको अपना स्वरूप समझकर शरीर, वाणी एवं मन से किसी को भी व्यथित न करते हुये—

'अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्वा संन्यासमाचरेत्'

सब को निर्भयता प्रदान करने वाले—

'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' [गी० ७।१८]

ब्रह्मभूत मेरे आत्मा ज्ञानी अहिंसक संन्यासी

'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' [बृ० उ० ४।४।६]

'ब्रह्मवेद ब्रह्मैवभवति' [मु० उ० ३।२।६]

ब्रह्म होकर मुक्त अक्षर ब्रह्म को ही प्राप्त होते हैं। फिर ऐसे आत्मस्वरूप ज्ञानी के लिये 'जो कि साक्षात् मेरे स्वरूप ही हैं' युक्ततम और अयुक्ततम शब्द का कोई अर्थ नहीं रहता; क्योंकि इनकी सार्थकता तो अपने से भिन्न पुरुषों में ही हुआ करती ४ ॥

'क्षुरस्यधारा निशिता दुरत्यया[1]
दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति'॥
[क० उ० १।३।१४]

पैनाये हुये छुरे की धार के समान अतिसूक्ष्म दुस्तर—दुर्गम होने के कारण यह अव्यक्तमिका गति देहाभिमानियों से दुःखपूर्वक ही प्राप्त की जाती है।

अभिप्राय यह है कि—

'अमानित्वादि लक्षणोपलक्षितो यः पुरुषः स[2]
एव निरालम्बयोगाधिकारी कार्यः कश्चिदस्ति'
[त्रि० म० उ० ८।१]

बिना अमानित्वादि लक्षणों से युक्त निर्विकल्प समाधिनिष्ठा के देहाभिमान पूर्णरूपेण नष्ट नहीं होता है। इसलिये—

'देहाभिमानिनामन्तर्मुखी वृत्तिर्न जायते[3]।
अतस्तेषां तु मद्भक्तिः सुकरामोक्षदायिनी॥'
[ग० पु०]

देहाभिमानियों के लिये अन्तर्मुखीवृत्ति के अभाव में सगुण उपासना ही मोक्ष प्राप्ति का सुगम और श्रेष्ठ उपाय है। परन्तु जो—

'अहंकारग्रहान्मुक्तः स्वरूपमुपपद्यते'[4]

देहाभिमान से मुक्त हैं, उनके लिये निर्गुण उपासना ही साक्षात् सद्योमुक्ति का सर्वोत्तम साधन है॥ ५॥

---

१. जैसे छुरे की धार तीक्ष्ण और दुरत्यय होती है, तत्त्ववेत्ता उस मार्ग को वैसा ही दुर्गम कहते हैं।

२. जो पुरुष अमानित्वादि ज्ञान के लक्षणों से युक्त हो, उसी को निरालम्बयोग का अधिकारी बनाना [मानना] चाहिये। ऐसा अधिकारी कोई विरला ही है।

३. देहाभिमानियों को अन्तर्मुखी—ब्रह्माकार वृत्ति नहीं उत्पन्न होती। अतः उनके लिये मेरी भक्ति सुकर और मोक्षदायिनी है।

४. अहंकार रूपी ग्रह से मुक्त पुरुष स्वरूप को प्राप्त होता है।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥

परन्तु—

'मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा[1]
निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे ।'
[श्री० भा० ११।२६।३४]

जो वैदिक-अवैदिक समस्त कर्मों को मुझ सगुण वासुदेव में समर्पित—त्याग करके अर्थात् विषय-वासनाओं से सर्वथा उपरत हो, केवल मेरे परायण होकर—

'भजन्त्यनन्यया भक्त्या तान्मृत्योरतिपारये'[2]
[श्री० भा० ३।२५।४०]

[अनन्ययोग— ऐकान्तिक भक्तियोग के द्वारा—

'साक्षान्मन्मथमन्मथः' [श्री० भा० १०।३२।२]

करोड़ों कामदेव के मन को भी मथनेवाले मेरे परम मनोहर निखिलसौन्दर्य-माधुर्य-निधि आनन्दघन द्विभुज अथवा चतुर्भुज विग्रह का अथवा विश्वरूप का अथवा राम, वामनादि का तैलधारावत् अविच्छिन्न रूप से ध्यान—चिन्तन करते हुये मदाकारवृत्ति से मेरी उपासना करते हैं अर्थात् जो—

'न चलति भगवत्पदारविन्दा-[3]
ल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्रयः ॥'
[श्री० भा० ११।२।५३]

---

१. जिस काल में मनुष्य सब कर्मों का परित्याग करके मुझमें आत्म-समर्पण कर देता है, उस काल में वह मेरा विशेष माननीय हो जाता है।

२. जो विरक्त पुरुष अनन्यभक्ति से मेरा भजन करते हैं, उन्हें मैं मृत्यु रूप संसार-सागर से पार कर देता हूँ।

३. जो परवैराग्यसम्पन्न-अनन्यभक्त आधे क्षण, आधे पल के लिये भी सर्ववन्द्य भगवान् के चरणारविन्द से चलायमान नहीं होता, वह वैष्णवों में अग्रगण्य—सर्वश्रेष्ठ है।

आधे क्षण, आधे पल के लिये भी मेरे चरण-कमल की विस्मृति नहीं करते, उन सतत मुझमें मन को लगाने वाले बुद्धिमान् प्रेमी भक्तों को—

'बुद्धिमतामनायासेनाचिरादेव तत्त्वज्ञानं भवति'[1]
[त्रि० म० उ० ८।१]

'भक्तवत्सलः स्वयमेव सर्वेभ्यो मोक्षविघ्नेभ्यो[2]
भक्तिनिष्ठान्परिपालयति ॥ सर्वाभीष्टान्प्रयच्छति ।
मोक्षं दापयति ॥' [त्रि० म० उ० ८।१]

मैं परम कारुणिक भक्तवत्सल-परमात्मा उनके कल्याणार्थ मोक्ष के समस्त विघ्नों को दूर कर भक्ति-निष्ठा का परिपालन करता हुआ अज्ञान से सुदृढ़ दुस्तर मृत्यु रूप संसार-सागर से शीघ्र ही मुक्त कर देता हूँ अर्थात् सब अनर्थ के हेतुभूत *अज्ञान और उसके कार्य* अहं-मम से सर्वदा के लिये मुक्त करके सद्योमुक्तिरूप स्वरूपस्थिति प्रदान कर देता हूँ ॥ ६, ७ ॥

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥

इसलिये तू—

'तस्मान्ममैकं शरणं व्रज । मद्भक्तिं निष्ठोभव ।'
[त्रि० म० उ० ८।१]

'तस्मात् सर्वात्मना तात निगृहाण मनोधिया[3] ।
मय्यावेशितया युक्त एतावान् योगसंग्रहः ॥'
[श्री० भा० ११।२३।६१]

---

१. बुद्धिमान् भक्तों को अनायास शीघ्र ही तत्त्वज्ञान हो जाता है ।

२. *भक्तवत्सल भगवान्* स्वयं ही मोक्ष के सम्पूर्ण विघ्नों से सभी भक्ति-निष्ठों की रक्षा करते हैं, उनको सम्पूर्ण अभीष्ट प्रदान करते हैं और वरवश मोक्ष दिलवाते हैं ।

३. इसलिये हे तात ! सर्वात्मभाव से अपने मन को वश में कर लो और मुझमें ही अनन्यभाव से नित्ययुक्त होकर स्थित हो जाओ; यही सम्पूर्ण योग का सार-संग्रह है ।

मेरे शरणापन्न होकर सर्वात्मरूप से मुझ सगुण ब्रह्म में संकल्प-विकल्पात्मक मन को स्थापित — स्थिर कर अर्थात् मदाकार वृत्ति से युक्त हो, व्यवसायात्मिका बुद्धि को मुझमें जोड़कर विषयान्तर के त्याग के द्वारा सतत अविच्छिन्नरूपेण—

मदीयोपासनां कुरु। मामेव प्राप्स्यसि।
[शि० म० उ० ८।१]

मेरी उपासना करता हुआ, मेरी कृपा से ज्ञान को प्राप्त करके मुझ शुद्ध निर्गुण, निर्विशेष ब्रह्म में मेरे रूप से निवास करेगा अर्थात्—

'मद्भक्तियोगेन मन्निष्ठो मद्भावाय प्रपद्यते'[1]
[श्री० भा० ११।२५।३२]

'निरतिशयाद्वैतपरमानन्दलक्षणं परंब्रह्म भवति'[2]
[शि० म० उ० ८।१]

मेरे भाव को प्राप्तकर निरतिशय अद्वैत परमानन्दस्वरूप परब्रह्म हो जायेगा इसमें लेश मात्र भी संशय नहीं है ॥ ८ ॥

अथचित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥ ९ ॥

यदि तू विक्षिप्त—विषयासक्त चित्त को मुझमें पूर्णरूपेण लगाने में असमर्थ है तो उसको धीरे धीरे विषयों से हटाकर मेरे स्मरणरूप अभ्यासयोग के द्वारा मेरी प्राप्ति की इच्छा—प्रयत्न कर अर्थात् अत्यन्त श्रद्धा-भक्ति से निरतिशय सौन्दर्य, माधुर्य, सौशील्य, सौहार्द, वात्सल्य, शौर्य, वीर्य, पराक्रम, सर्वज्ञत्व, सर्वेश्वरत्व और सर्वकारणत्वादि अनन्त मंगलमय गुणों के सागर मुझ परमात्मा के स्मरण, कीर्तन तथा गुणानुवाद का अभ्यास कर। इस प्रकार—

प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते'
[श्री० भा० ११।१४।१८]

---

१. भक्त अनन्य भक्तियोग के द्वारा मेरी सम्यक् निष्ठा से सम्पन्न हो मेरे भाव—मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

२. [मेराभक्त] निरतिशय अद्वैत परमानन्दस्वरूप परब्रह्म हो जाता है।

प्रगल्भ-भक्ति के अभ्यास से विषयों से रहित शुद्धान्तःकरण हो मुझमें पूर्ण-रूपेण मन-बुद्धि को लगाकर मेरी कृपा से मुझे प्राप्त करेगा ॥ ६ ॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥

यदि तू अभ्यास करने में भी असमर्थ है तो—

'वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे'
[श्री० भा० ११।३।४६]

'मयिसर्वाणि कर्माणि निरपेक्षः समाचर'[1]
[श्री० भा० ११।११।२२]

'इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद् व्रतं तपः'
[श्री० भा० ११।१६।२३]

मेरे परायण हो सम्पूर्ण वैदिक यज्ञ, दान, हवन, जप, व्रत तथा तपादि कर्मों को मेरे लिये ही कर अर्थात् कर्तृत्वाभिमान, कर्मासक्ति और फलासक्ति से मुक्त होकर सिद्धि-असिद्धि आदि द्वन्दों में सम रहता हुआ, कर्मों द्वारा सदा मेरा चिन्तन करता हुआ चित्त-शुद्धि के द्वारा—

'नैष्कर्म्यं लभते सिद्धिम्'
[श्री० भा० ११।३।४६]

नैष्कर्म्य—ज्ञानरूप सिद्धि को प्राप्त होगा। अथवा, तू मुझ परमात्मा की ही श्रद्धा-भक्ति से धूप, दीप, आरती कर, मेरे मन्दिर में झाड़ू-बहारू लगा, मुझे पुष्प चढ़ा, मेरा पूजन कर, मेरी प्रदक्षिणा कर तथा मुझे ही नमस्कार करता रह। इस प्रकार तू मेरे लिये कर्म करता हुआ बुद्धि की शुद्धि के द्वारा मेरे में निवास करेगा अर्थात् मेरी प्राप्ति रूप सिद्धि को प्राप्त करेगा।

अथवा—

'वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां
हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः।

---

१. सम्पूर्ण कर्म निरपेक्ष होकर मेरे लिये ही करो।

स्मृत्यां शिरस्तव निवास जगत्प्रणामे
दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम्' ॥
[श्री० भा० १०।१०।३८]

वाणी से मेरे मङ्गलमय गुणों का गान करता हुआ, कान से मेरी रसमयी कथा को सुनता हुआ, हाथ से मेरी सेवा करता हुआ, मन से मेरे चरण-कमलों के स्मरण में तल्लीन रहता हुआ तथा इस सम्पूर्ण जगत् को मेरा स्वरूप समझकर सादर सिर से नमस्कार करता हुआ तथा आँख से हमारे प्रत्यक्ष शरीर सत्पुरुषों का दर्शन करता हुआ शुद्धान्तःकरण होकर मुझे प्राप्त करेगा ॥ १० ॥

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥ ११ ॥

यदि तू कर्म को मेरे लिये करने में असमर्थ है तो मेरे योग के आश्रित होकर अर्थात् मेरे शरणापन्न होकर इन्द्रिय, मन को वश में करके, मुझमें मनवाला होकर समस्त कर्मों के फल का त्याग कर; क्योंकि यह कर्मफल बन्धन का हेतु, स्वप्नसृष्टिवत् मिथ्या है। जब तुम कर्मफल स्वीकार नहीं करोगे तो तुम्हें इसके भोगने के लिये शरीर भी नहीं धारण करना पड़ेगा। इस प्रकार सर्व-कर्म-फल के त्याग से शुद्धान्तःकरण हो मेरी कृपा से—

'मामेव प्राप्स्यसि' [त्रि० म० उ० ८।१]

मुझे ही प्राप्त करेगा ॥ ११ ॥

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ १२ ॥

युक्तिरहित अधूरे शास्त्रज्ञान युक्त अभ्यास से युक्ति एवं उपदेश युक्त सम्यक् शास्त्रज्ञान श्रेष्ठ है और उस ज्ञान से भी ज्ञानयुक्त ध्यान श्रेष्ठ है तथा उस ज्ञानयुक्त ध्यान से भी सर्व-कर्म के फल का त्याग श्रेष्ठ है। इस प्रकार—

'त्यागाच्छान्तिमाप्नुयात्'[1] [त्रि० ब्रा० उ० १५]

सर्व-कर्म-फल के त्याग से विशुद्धान्तःकरण हो मेरी कृपा से संसारोपरति रूप परम शान्ति को प्राप्त होता है।

---

१. त्याग से शान्ति प्राप्त करता है।

अथवा, यमनियमादि साधन-सम्पन्न श्रवणादि अभ्यास से श्रवण, मनन-जन्य परावरैकत्वग्राहक ज्ञान श्रेष्ठ है और ज्ञान से सविकल्प ध्यान श्रेष्ठ है और सविकल्प त्रिपुटी युक्त ध्यान से सर्व-कर्म-फल त्यागरूपा निर्विकल्प समाधि श्रेष्ठ है अर्थात्—

'सजातीय प्रवाहश्च विजातीय निरस्कृतिः'

[ते० वि० उ० १।१८]

सर्वत्र सजातीय—ब्रह्ममात्र दर्शन से कर्मफलरूप विजातीय दृश्य-प्रपञ्च के त्याग—अदर्शन के द्वारा नैष्कर्म्य स्वरूपस्थिति श्रेष्ठ है, जिससे देहत्याग के पश्चात् संसारोपरति रूप परमशान्ति को प्राप्त होता है अर्थात् विदेह कैवल्य को प्राप्त होता है ॥ १२ ॥

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १३ ॥

जो—

'निष्किञ्चना मय्यनुरक्त चेतसः
शान्ता महान्तोऽखिलजीव वत्सलाः।'

[श्री० भा० ११।१४।१७]

अकिंचन, मुझमें अनुरक्तचित्त, शान्त, महान्त, अखिलजीव वत्सल, कामना शून्य, निरपेक्ष, जीवन्मुक्त महात्मा सर्वभूतप्राणियों में द्वेष नहीं करता अर्थात् जो—

'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि'

[कै० उ० १।१०]

सर्वभूतप्राणियों में अपनी आत्मा को और अपनी आत्मा में सर्वभूतप्राणियों को देखने के कारण—

'आत्मवत्सर्वभूतानि पश्यन्ने' [ना० प० उ० ४।२२]

स्वरूपभूत सर्वप्राणियों में द्वेष से रहित है; इसीलिये जो सर्वभूतप्राणियों से मैत्री रखता है। तात्पर्य यह है कि जो सर्वात्मदर्शन के कारण—

'निर्वैरेण समं पश्यन्' [ना० प० उ० ५।३८]

सबसे निर्वैर होकर सबमें समरूप से स्थित है, तथा जो—

'आत्मौपम्येन भूतेषु दयां कुर्वन्ति साधवः' [स्मृति]

अपनी आत्मा की सदृशता से ही सब पर करुणा-दया रखता है, गुण बुद्धि से नहीं।

तथा जो निरपेक्ष; मच्चित, प्रशान्त समदर्शीपुरुष—

'सन्तोऽनपेक्षा मच्चित्ताः प्रशान्ताः समदर्शिनः।[1]
निर्ममा निरहंकारा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः॥'
[श्री० भा० ११।२६।२७]

सर्वात्मदर्शन के कारण ही देह में अहं-मम नहीं रखता; तथा जो 'मैं ब्रह्म ही हूँ' इस बुद्धि के कारण देहात्मबुद्धि से रहित है; तथा जो—

'सम दुःख सुखः क्षान्तः'[2] [ना० प० उ० ५।३७]

सर्वत्र आत्मबुद्धि से युक्त होने के कारण सुख-दुःख में सम है, तथा जो—

'वृक्षमिव तिष्ठासेच्छिद्यमानोऽपि न कुप्येत् न कम्पेत्'
[मु० उ० १३]

वृक्ष की भाँति सदा निर्विकार रूप से स्थित रहता है, छेदन-भेदन करने पर भी कुपित तथा कम्पित नहीं होता।

अभिप्राय यह है कि—

'सहनं सर्वदुःखानामप्रतीकारपूर्वकम्।
चिन्ताविलापरहितं सा तितिक्षा निगद्यते॥'

---

१. संपूर्ण वस्तुओं की अपेक्षा से रहित, मुझमें अनन्य चित्तवाले, समुद्रवत्-प्रशान्त-अन्तःकरण, सदा सर्वत्र सर्वअवस्थाओं में सबमें सर्वरूप से स्थित समस्वरूप परमात्मा के दर्शन के कारण समदर्शी, देहादि की ममता तथा अहंकार से रहित, सुख-दुःख संज्ञक शीतोष्णादिक द्वन्द्वों से रहित, नित्य अपने स्वरूप में स्थित तथा शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक परिग्रह से रहित होते हैं।

२. सुख-दुःख में सम और क्षमावान्।

आध्यात्मिकादि सर्व दुःखों को अप्रतीकारपूर्वक चिन्ता-विलाप से रहित हो समबुद्धि से सहता है अर्थात् जो तितिक्षु है ॥ १३ ॥

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १४ ॥

जो—

'ब्रह्मानन्दे निमग्नस्य विषयाशा न तद्भवेत्'
[आ० प्र० उ० १६]

ब्रह्मानन्द में नित्य-निरन्तर निमग्न रहने के कारण—

'सन्तोषो नाम यदृच्छालाभ संतुष्टिः'[1]
[शा० उ० १।२]

शरीर की स्थिति में यदृच्छालाभ संतुष्ट है अर्थात् इष्ट-अनिष्ट, लाभ-अलाभ, मान-अपमान, सुख-दुःखादि विषयों की प्राप्ति में सर्वात्मदर्शन के कारण कभी भी खिन्नवदन नहीं होता, सदा प्रसन्नचित्त ही रहता है; तथा जो—

'समाहिता नित्यतृप्ता यथाभूतार्थदर्शिनी।[2]
ब्रह्मन्समाधिशब्देन परा प्रज्ञोच्यते बुधैः ॥'
[अन्न० उ० १।४८]

समाहितचित्त योगी कार्य-करण संघात को वश में करके—

'शान्तो दान्तो जितेन्द्रियः' [ना० प० उ० ६।२३]

शान्त, दान्त होकर सर्वात्मदर्शन के कारण—

'सजातीय प्रवाहश्च विजातीय तिरस्कृतिः'
[ते० वि० उ० १।१८]

सजातीय—आत्माकार प्रत्यय के द्वारा विजातीय—अनात्माकार प्रत्यय का निरास करके—

'अहमेवाक्षरं ब्रह्म वासुदेवाख्यमद्वयम्।
इति भावो ध्रुवो यस्य' [ना० प० उ० ३।२०]

---

१. यदृच्छालाभ संतुष्टि को संतोष कहते हैं।

२. हे ब्रह्मन्! परमात्मतत्त्व में परिनिष्ठित, नित्यतृप्त, परमार्थविषयिणी पराबुद्धि को तत्त्वज्ञ समाधि शब्द से कहते हैं।

'मैं ही वासुदेव संज्ञक अक्षर-अद्वय-ब्रह्म हूँ' इस अनुभूति रूप दृढ़ निष्ठा से युक्त है, तथा—

> 'तस्मात् सर्वात्मना तात निगृहाण मनोधिया।
> मय्यावेशितया युक्त एतावान् योगसंग्रहः॥'
> [श्री० भा० ११।२३।६१]

> 'मय्यर्पितात्मनः सभ्य निरपेक्षस्य सर्वतः।[१]
> मयाऽऽत्मना सुखं यत्तत् कुतः स्याद् विषयात्मनाम्॥'
> [श्री० भा० ११।१४।१२]

जो सब ओर से निरपेक्ष होकर सर्वात्मरूप से मुझ सच्चिदानन्दघन परब्रह्म में मन-बुद्धि को जोड़ दिया है अर्थात्—

'सर्वमिदमहं च वासुदेवः'

'यह सब और मैं वासुदेव ही हूँ' ऐसे अनुभव से युक्त है, वह सर्वत्र ब्रह्ममात्रदर्शी—

> 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' [गी० ७।१८]

> 'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः'
> [गी० ७।१७]

मेरा आत्मा ज्ञानी भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय है॥ १४॥

> यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
> हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥ १५॥

जो अभेददर्शी महात्मा सर्वात्मदर्शन के कारण—

> 'अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा चरति यो मुनिः।
> न तस्य सर्वभूतेभ्यो भयमुत्पद्यते क्वचित्॥'
> [ना० प० उ० ५।१६]

---

१. हे सभ्य! जो सब ओर से निरपेक्ष हो गया है और अपने अंतःकरण को सम्यक्‌रूपेण मुझमें समर्पित कर चुका है, वह मुझ परमानन्द-स्वरूप-स्वात्मा से जो सुख प्राप्त करता है, वह विषयासक्त पुरुषों को कैसे मिल सकता है!

'अपने स्वरूपभूत सर्वप्राणियों को निर्भयता प्रदान करता हुआ विचरता है उसको किसी भी प्राणी से भय उपस्थित नहीं होता।' इस नियमानुसार जिस—

'समाधिस्थ आत्मकाम आप्तकामो निष्कामो जीर्णकामः'

[सु० उ० १३]

समाधिस्थ, आत्मकाम, आप्तकाम, पूर्णकाम, निष्काम, जीर्णकाम से किसी भी प्राणि को क्षोभ नहीं होता और जो स्वयं—

'हस्तिनि सिंहे दंशे मशके नकुले सर्पराक्षसगन्धर्वे
मृत्योरूपाणि विदित्वा न बिभेति कुतश्चन'

[सु० उ० १३]

हाथी, सिंह, दंश, मच्छर, नकुल, सर्प, राक्षस और गन्धर्व में मृत्यु के रूप को जानकर किसी भी प्राणी से क्षुब्ध—भयभीत नहीं होता; तथा जो—

'हर्षामर्षभयोन्मुक्तः स जीवन्मुक्त उच्यते'

[म० उ० ४।२६]

एकत्वदर्शी जीवन्मुक्त द्वैतप्रपञ्च का अभाव देखने के कारण हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेग से मुक्त है, वह ज्ञानी महात्मा मुझे प्रिय है ॥ १५ ॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥

जो—

'निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्'

[श्री० भा० ११।१४।१६]

निरपेक्ष, मननशील, शान्त, निर्वैर, समदर्शी परमपावन जीवन्मुक्त महात्मा यदृच्छाप्राप्त भोगों में भी निःस्पृह है; अथवा जो सर्वकामनाओं से मुक्त होने के कारण—

'केवल मोक्षापेक्षा संकल्पो बन्धः'[1] [नि० उ०]

मोक्षेच्छा को भी बन्धन समझकर उसकी भी अपेक्षा से रहित है। तथा जो

---

१. केवल मोक्ष की भी अपेक्षा का संकल्प बन्धन है।

बाह्याभ्यन्तर पवित्र है अर्थात् जो बाहर जल-मिट्टी आदि से शरीर को शुद्ध रखता है और भीतर अन्तःकरण को राग-द्वेष से मुक्त होने से शुद्ध रखता है; अथवा जो—

'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्' [गी० ४।१८]

कर्म में अकर्म दर्शन के कारण—

'कर्मस्वसङ्गमः शौचम्'[1] [श्री० भा० ११।१६।३८]

कर्मों में असंग होने से नित्य पवित्र है; अथवा जो—

'शौचमिन्द्रिय निग्रहः'[2] [स्क० उ० ११]

इन्द्रिय निग्रह के कारण पवित्र है; अथवा जो—

'अहं शुद्ध इति ज्ञानं शौचमाहुर्मनीषिणः'[3]
[श्री० जा० उ० ११२०]

'मैं शुद्ध हूँ' इस ज्ञानमयी दृष्टि से पवित्र है; तथा जो दक्ष—परमात्मचिन्तन में निपुण है अर्थात् जिसकी परमात्मा में स्वाभाविक अभिरुचि है; तथा जो उदासीन अपने स्वरूप में स्थित रहता है, कभी भी किसी शत्रु-मित्र का पक्ष नहीं लेता; तथा जो व्यथाओं से रहित है अर्थात् जो समाधिनिष्ठा के द्वारा स्वरूपस्थिति को प्राप्त कर—

'नैनं कृताकृते तपतः'[4] [बृ० उ० ४।४।२२]

शुभाशुभ कर्मों के संताप से मुक्त है; तथा जो—

'ज्ञानामृतेनतृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः'
[श्री जा० उ० १।२३]

'हृदयात्संपरित्यज्य सर्ववासनपङ्क्तयः'
[म० उ० ६।८]

---

१. कर्मों में आसक्त न होना ही शौच है।
२. इन्द्रियों का निग्रह ही शौच है।
३. 'मैं शुद्धस्वरूप हूँ' इसी ज्ञान को मनीषी लोग शौच कहते हैं।
४. इस आत्मज्ञानी को कृताकृत कर्म ताप नहीं देते।

'सर्व कर्म परित्यागी नित्यतृप्तो निराश्रयः'
[अष्ट० उ० ५।६२]

ज्ञानामृत से तृप्त, कृतकृत्य, निराश्रित योगी वासनाओं से मुक्त होने के कारण इहलोक और परलोक के समस्त कर्मफल का त्यागी है अर्थात् सबमें मिथ्या-बुद्धि होने के कारण—

'सर्वकर्माणि संन्यस्य' [ना० प० उ० ३।८६].

सर्वकर्मों का संन्यासी है, वह महात्मा मुझे अति प्रिय है ॥ १६ ॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभ परित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥ १७ ॥

जो—

'इदं रम्यमिदं नेति बीजं ते दुःखसंततेः ।
तस्मिन्साम्याग्निना दग्धे दुःखस्यावसरः कुतः ॥'
[अष्ट० उ० ५।७०].

रम्य-अरम्य को दुःखसंतति का बीज—जन्म-मृत्यु का हेतु समझकर सर्वात्म-दर्शन के कारण—

'न तुष्यामि शुभप्राप्तौ न खिद्याम्यशुभागमे'
[अष्ट० उ० ५।५६]

इष्ट वस्तु के प्राप्त होने पर हर्षित नहीं होता और अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति पर द्वेष नहीं करता अर्थात्—

'दृष्ट्वारम्यमरम्यं वा स्थेयं पाषाणवत्सदा'
[अन० उ० ५।११८]

रम्य—अरम्य में पाषाणवत् सदैव सम, शान्त रहता है; तथा जो—

'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः'
[ई० उ० ७]

एकत्वदर्शन के कारण इष्ट वस्तु के नाश होने पर शोक नहीं करता; अथवा महान् अनिष्ट की प्राप्ति पर भी निःशोक ही रहता है; तथा जो—

'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः'
[क० उ० २।३।१४]

सर्वकामनाओं से मुक्त होने के कारण अप्राप्त इष्ट वस्तु की इच्छा नहीं करता है अर्थात् जो—

'उद्वेगानन्दरहितः समया स्वच्छया धिया।
न शोचति न चोदेति स जीवन्मुक्त उच्यते ॥'
[म० उ० २।१७]

सदैव उद्वेग और आनन्द से रहित सम, स्वच्छ ब्रह्माकारवृत्ति से युक्त रहता है;

अभिप्राय यह है कि जो कभी भी बाह्य पदार्थों का अवलम्बन नहीं करता; तथा जो—

'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्' [गी० ४।१८]

कर्म में अकर्म दर्शन के कारण शुभ-अशुभ—पाप-पुण्य का त्यागी है अर्थात् जो इनको अन्तःकरण का धर्म समझ कर सदैव अपने असंगत्व एवं निर्विकारत्व में स्थित रहता है, वह जीवन्मुक्त महात्मा मुझे अति प्रिय है ॥१७॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्ण सुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥१८॥

जो—

'सर्वमिदमहं च वासुदेवः'

'यह सब और मैं वासुदेव ही हूँ' इस सर्वात्मदर्शन के कारण—

'शत्रुमित्रसमानदृक्' [म० उ० ६।६४]

शत्रु-मित्र में सम—एकरूप रहता है और जो मान-अपमान में भी हर्ष-विषाद से शून्य सम, शान्त एवं निर्विकार ही रहता है; तथा जो शीत-उष्ण में भी सर्वात्मबुद्धि के कारण सम रहता है और जो स्त्री, पुत्र, धनादि के संग से मुक्त सर्वत्र अनासक्त है; अथवा जो अनात्म शरीर के संग से रहित केवल अपनी केवली अवस्था में स्थित है, वह—

'सर्वसङ्गनिवृत्तात्मा स मामेति न संशयः'
[व० उ० २।३६]

सर्वसंग का परित्यागी महात्मा मुझे अति प्रिय है ॥१८॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येनकेनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१६॥

जो—

'प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति
विजानन्विद्वान्भवते नातिवादी ।'

[मु० उ० ३।१।४]

स्वर्ण से कुण्डलवत् प्राणस्वरूप आत्मा से समस्त भूतों को प्रकाशित जानकर अर्थात् सबको आत्मस्वरूप समझकर—

'न स्तौमि न च निन्दामि आत्मनोऽन्यच्च हि क्वचित्'

[अन्न० उ० ५।४६]

न किसी की स्तुति करता है और न किसी की निन्दा ही करता है;

अथवा जो ब्रह्मवेत्ता निन्दा-स्तुति में सम, महामौनी हो अपने गुणों को किसी पर भी व्यक्त न करने के कारण—

'संदिग्धः सर्वभूतानां वर्णाश्रमविवर्जितः ।
अन्धवज्जडवच्चापि मूकवच्चमहीं चरेत् ॥'

[ना० प० उ० ४।३६]

समस्तप्राणियों के लिये संदेह का विषय बना हुआ वर्णाश्रम से रहित अन्धे, जड़ और मूक की भाँति पृथ्वी पर विचरता है;

अभिप्राय यह है कि—

'यन्न सन्तं न चासन्तं नाश्रुतं न बहुश्रुतम् ।
न सुवृत्तं न दुर्वृत्तं वेद कश्चित्स ब्राह्मणः ॥'

[ना० प० उ० ४।३४]

जिसके विषय में यह कोई नहीं जानता कि यह साधु है अथवा असाधु, मूर्ख है अथवा विद्वान् तथा सदाचारी है या दुराचारी । अथवा जो अपनी निन्दा स्तुति में भी सम, शान्त रहता है; इसीलिये जो मौनी—संयतवाक्, अतिवादी नहीं है; तथा जो—

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥ २० ॥

अर्जुन ! जो मोक्ष के साधन इस धर्म रूप अमृत की [जो—

'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' [गी० १२।१३]

आदि पदों से मेरे द्वारा कहा गया है] श्रद्धा-भक्ति से युक्त हो मुझ निरुपाधिक, निर्गुण, निर्विशेष परब्रह्म के परायण होकर सम्यग्रूपेण उपासना—अनुष्ठान करते हैं, वे मेरे आज्ञाकारी भक्त—

'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः'
[गी० ७।१७]

मुझे अति प्रिय हैं ॥ २० ॥

॥ बारहवाँ अध्याय समाप्त ॥

॥ ॐ ॥

तेरहवाँ अध्याय

सातवें अध्याय में भगवान् ने अपनी दो प्रकृतियाँ बतलाईं, जिसमें एक अष्टधा जड़-अपरा-प्रकृति और दूसरी जीवरूपा-परा-प्रकृति; जिसको लेकर परमात्मा समस्त जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करता है। इस अध्याय में भी उसी अपरा-क्षेत्र और परा क्षेत्रज्ञ प्रकृति का विस्तार से निरूपण करने के लिये रमारमण-आनन्दकन्द भगवान् बोले; जो कैवल्य का साक्षात् हेतु है।

श्री भगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥ १॥

श्री भगवान् बोले—हे कौन्तेय! जैसे क्षेत्र—खेत में जो कुछ बोया जाता है उसका फल समयानुसार प्राप्त होता है, वैसे ही इस शरीर रूपी क्षेत्र में जो कुछ शुभाशुभ कर्म बीज बोया जाता है उसका समयानुसार फल प्राप्त होता है, इसलिये इस भोगायतन शरीर को भी क्षेत्र कहते हैं। तथा जो—

'यज्ज्ञेयं तज्जडम्'

ज्ञेय जड़ शरीर रूप क्षेत्र को पैर से मस्तकपर्यन्त संपूर्ण अवयवों को अहं-मम रूप से विभागशः जानता है, उसको क्षेत्रज्ञ कहते हैं, ऐसा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ—दोनों को जानने वाले ज्ञानी पुरुष कहलाते हैं॥ १॥

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥ २॥

अर्जुन! तू इस अविद्या कल्पित कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि धर्मवाले संसारी क्षेत्रज्ञ का परमार्थतः—

'तत्त्वमसि' [छा० उ० ६।८।७]

श्रुति के अनुसार समस्त क्षेत्रों में अनुगत मुझे ही जान अर्थात्—

'तदेतत्सत्यमात्मा ब्रह्मैव ब्रह्मात्मैवात्र ह्येव न विचिकित्स्यम्'
[नृ० उ० उ० ६]

'सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नित्यं तत्त्वमेव त्वमेव तत्'
[कै० उ० १।१६]

'आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं किं करिष्यति'
[श्री जा० उ० ४।६३]

'आत्मा ब्रह्मैव भवति, सद्रूपत्वाच्चिद्रूपत्वादानन्दरूपत्वाद-
विक्रीयत्वादसङ्गत्वात् परिपूर्णत्वाच्च'

'अयमात्मा सन्मात्रो नित्यः शुद्धो बुद्धः सत्यो मुक्तो
निरञ्जनो विभुरद्वयानन्दः परः प्रत्यगेकरसः'
[नृ० उ० उ० ६]

'वासुदेवात्मकान्याहुः क्षेत्रं क्षेत्रज्ञ एव च' [स्मृति]

'आत्मनश्च परस्यापि यः करोत्यन्तरोदरम्।
तस्य भिन्नदृशो मृत्युर्विदधे भयमुल्बणम्॥
[श्री० भा० ३।२६।२६]

'एकः समस्तं यदिहास्ति किञ्चि-
त्तदच्युतो नास्ति परं ततोऽन्यत्।
सोऽहं स च त्वं स च सर्वमेत
दात्मस्वरूपं त्यज भेदमोहम्'॥
[वि० पु० २।१६।२३]

'परात्मनोर्मनुष्येन्द्र विभागोऽज्ञानकल्पितः'
[विष्णुधर्मोत्तर]

भोक्ता, भोग्य और प्रेरक—यह तीन प्रकार से कहा हुआ पूर्ण ब्रह्म ही है, ऐसा जानना चाहिये'

'वही तू है' 'यह आत्मा ब्रह्म ही है' 'ब्रह्म ही यह सब है' 'आत्मा ही यह सब है' 'ब्रह्म एक अद्वितीय है इसमें किंचित्मात्र भी नानात्व नहीं है।' 'ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है' 'जीव ही सदा ब्रह्म है' अपने को ही जाना कि मैं ब्रह्म हूँ' 'ब्रह्मवित् स्वयं ब्रह्म है' 'जीव ब्रह्म ही है दूसरा नहीं है' 'जो इसमें थोड़ा सा भी भेद करता है, उसे भय प्राप्त होता है।'

'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन'

[श्र० उ० ६३]

'सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' [श्वे० उ० ६।११]

मैं एक अद्वितीय सर्वव्यापी ब्रह्म ही ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यंत संपूर्ण भूतप्राणियों की आत्मा हूँ। तात्पर्य यह है कि मुझ सर्वाधिष्ठानस्वरूप सद्घन, चिद्घन एवं आनन्दघन अद्वैत सत्ता में द्वैताभाव होने के कारण क्षेत्र, जीव और ईश्वर का भेद माया कल्पित है। परमार्थतः मुझ क्षेत्रज्ञ, जीव और क्षेत्र में कोई अन्तर नहीं है। जैसा कि श्रुति, स्मृति और पुराण भी कहते हैं—

'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा
सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ॥'

[श्वे० उ० १।१२]

'तत्त्वमसि' [छा० उ० ६।८।७]

'अयमात्मा ब्रह्म' [वृ० उ० २।५।१६]

'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' [बृ० उ० २।५।१]

'आत्मैवेदं सर्वम्' [छा० उ० ७।२५।२]

'एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन'

[श्र० उ० ६३]

'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' [मु० उ० ३।२।६]

'जीव एव सदा ब्रह्म'

[तै० वि० उ० ६।३८]

'आत्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति' [वृ० उ० १।४।१०]

'ब्रह्म स ब्रह्मविरस्वयम्' [मुक्ति० उ० २।६४]

'जीवो ब्रह्मैव नाऽपरः'

'एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते ॥ अथ तस्य भयं भवति ॥'

[तै० उ० २।७]

'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति'

[वृ० उ० ४।४।१६]

'तदेतत्सत्यमात्मा ब्रह्मैव ब्रह्मात्मैवात्र ह्येव न विचिकित्स्यम्'
[नृ० उ० उ० ६]

'सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नित्यं तत्त्वमेव त्वमेव तत्'
[कै० उ० १।१६]

'आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं किं करिष्यति'
[श्री जा० उ० ४।६३]

'आत्मा ब्रह्मैव भवति, सद्रूपत्वाच्चिद्रूपत्वादानन्दरूपत्वाद-
विक्रीयत्वादसङ्गत्वात् परिपूर्णत्वाच्च'

'अयमात्मा सन्मात्रो नित्यः शुद्धो बुद्धः सत्यो मुक्तो
निरञ्जनो विभुरद्वयानन्दः परः प्रत्यगेकरसः'
[नृ० उ० उ० ६]

'वासुदेवात्मकान्याहुः क्षेत्रं क्षेत्रज्ञ एव च' [स्मृति]

'आत्मनश्च परस्यापि यः करोत्यन्तरोदरम् ।
तस्य भिन्नदृशो मृत्युर्विदधे भयमुल्वणम् ॥
[श्रा० भा० ३।२६।२६]

'एकः समस्तं यदिहास्ति किञ्चि-
त्तदच्युतो नास्ति परं ततोऽन्यत् ।
सोऽहं स च त्वं स च सर्वमेत
दात्मस्वरूपं त्यज भेदमोहम्' ॥
[वि० पु० २।१६।२३]

'परात्मनोर्मनुष्येन्द्र विभागोऽज्ञानकल्पितः'
[विष्णुधर्मोत्तर]

भोक्ता, भोग्य और प्रेरक—यह तीन प्रकार से कहा हुआ पूर्ण ब्रह्म ही है, ऐसा जानना चाहिये'

'वही तू है' 'यह आत्मा ब्रह्म ही है' 'ब्रह्म ही यह सब है' 'आत्मा ही यह सब है' 'ब्रह्म एक अद्वितीय है इसमें किंचित्मात्र भी नानात्व नहीं है।' 'ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है' 'जीव ही सदा ब्रह्म है' 'अपने को ही जाना कि मैं ब्रह्म हूँ' 'ब्रह्मवित् स्वयं ब्रह्म है' 'जीव ब्रह्म ही है दूसरा नहीं है' 'जो इसमें थोड़ा सा भी भेद करता है, उसे भय प्राप्त होता है।'

जो इस ब्रह्मतत्त्व में नानात्व देखता है वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है।' 'वह यह सत्य है, यह आत्मा ब्रह्म ही है, ब्रह्म आत्मा ही है, इसमें संशय करना ही नहीं चाहिये।' 'जो सूक्ष्म से सूक्ष्मतर है, नित्य है, वह तुम्हीं हो, तुम वही हो।'

'आत्मा और ब्रह्म के अविद्यमान भेद को कौन करेगा?' 'आत्मा ब्रह्म ही है सद्रूप होने से, चिद्रूप होने से, आनन्द रूप होने से, अक्रिय होने से, असंग होने से और परिपूर्ण होने से।' 'यह आत्मा सन्मात्र, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, सत्य, मुक्त, निरञ्जन, विभु, अद्वय, आत्मानन्द, पर तथा प्रत्यगेकरस है।'

'क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ वासुदेवात्मक ही हैं।'

'जो व्यक्ति आत्मा और परमात्मा के बीच थोड़ा सा भी अन्तर करता है, उस भेददर्शी को मैं मृत्युरूप से महान् भय उपस्थित करता हूँ।' 'इस जगत् में जो कुछ है, वह सब एक मात्र श्री हरि ही है, उससे भिन्न और कुछ भी नहीं है, वही मैं हूँ, वही तुम हो और यह सारा जगत् भी आत्मरूप भी हरि ही है, तुम इस भेदभ्रम को छोड़ दो।'

'राजन्! परमात्मा और जीव का भेद अज्ञान कल्पित है।'

इस प्रकार हजारों श्रुतियों एवं पुराणों से आत्मा, परमात्मा और जगत् का अभेद निश्चय किया गया है। इसलिये तुम—

'कर्तृत्वभोक्तृत्वाहंकारादिभिः स्पृष्टो जीवः'[1]

[ना० प० उ० ६।१]

माया-कल्पित कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि से युक्त परिच्छिन्न जीव भाव से मुक्त होकर अपने को—

'सर्वमिदमहं च वासुदेवः'

सर्वत्र सर्वरूपों में देखते, सुनते तथा समझते हुये कृतकृत्य हो जाओ; क्योंकि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का अभेद ज्ञान ही—

'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः'

[ई० उ० ७]

१. जीव कर्तृत्व, भोक्तृत्व और अहंकारादि से संयुक्त है।

संसार के शोक-मोह से मुक्त करने में पूर्णरूपेण समर्थ, मुझ सर्वज्ञ ईश्वर के मत में वास्तविक—सच्चा ज्ञान है, अन्य सब भेदोत्पादक 'ज्ञानबन्धन के हेतु होने के कारण व्यर्थ, केवल पाण्डित्यमात्र है ॥ २ ॥

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥

वह पूर्वोक्त 'इदंशरीरम्' से कथित क्षेत्र जड़, दृश्य, परिच्छिन्नादिस्वरूप से जैसा है और जिन इच्छादि विकारों वाला है तथा जिस प्रकृति-पुरुष के संयोग से नाना स्थावर-जङ्गमरूप से उत्पन्न होता है और वह क्षेत्रज्ञ भी स्वरूप से जैसा है तथा जिस प्रभाव—अचिन्त्य ऐश्वर्य-योग से सम्पन्न है, उन सबको तू संक्षेप से मुझसे सुन ॥ ३ ॥

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

जिस क्षेत्र—प्रकृति और क्षेत्रज्ञ—पुरुष के यथार्थस्वरूप का वर्णन वशिष्ठ तथा पराशर आदि ऋषियों के द्वारा योगवाशिष्ठ तथा विष्णु पुराण में बहुत प्रकार से किया गया है, उसी प्रकार ऋक् सामादि मन्त्रों के द्वारा भी—

'एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयने'[1]

[तै० उ० २।७]

'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'[2] ॥
तद्धैक आहुरसदेवे-दमग्र-
आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायेत'

[छा० उ० ६।२।१]

---

१. इस अदृश्य, अशरीर, अनिर्वाच्य और निराधार ब्रह्म में।

२. हे सौम्य! सृष्टि के पूर्व यह एक मात्र अद्वितीय असत् ही था। उसी को कुछ लोग कहते हैं कि यह सृष्टि के पूर्व एक मात्र अद्वितीय असत् ही था, उस असत् से सत् की उत्पत्ति हुई।

'कुतस्तु खलु सोम्यैव'[1] स्यादिति होवाच कथमसतः
सज्जायेतेति ॥ सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'
[छा० उ० ६।२।२]

इनका निरूपण किया गया है। तथा ऐसे ही सुनिश्चित ज्ञान उत्पन्न करने वाले युक्तियुक्त ब्रह्मसूत्र के पदों से भी—

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'[2] [ब्र० सू० १।१।१]
'जन्माद्यस्य यतः' [ब्र० सू० १।१।२]
'ईक्षतेर्नाशब्दम्'[3] [ब्र० सू० १।१।५]
'आनन्दमयोऽभ्यासात्'[4] [ब्र० सू० १।१।१२]

क्षेत्र—क्षेत्रज्ञ का स्वरूप कहा गया है ॥ ४ ॥

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥

महाभूत—अपञ्चीकृत सूक्ष्म महाभूत अर्थात् आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी तथा—

'अहंकारात्पञ्च तन्मात्राणि'[5] [त्रि० ब्र० उ० २।१]

उनका कारण अहंकार तथा अहंकार की कारणभूता निश्चयात्मिका बुद्धि-महत्तत्त्व—

---

१. परन्तु हे सोम्य ! ऐसा कैसे संभव हो सकता है ? भला, असत् से सत् की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? इसलिये हे सोम्य ! सृष्टि के पूर्व में यह एकमात्र अद्वितीय सत् ही था।

२. इसलिये साधनचतुष्टय के अनन्तर ब्रह्म जिज्ञासा करनी चाहिये।

३. ईक्षण का निर्देश न होने से शब्द—वेद से प्रमाणित न होने के कारण अचेतन प्रधान जगत् का कारण नहीं है।

४. श्रुतियों में बार-बार कथन होने के कारण आनन्दमय परमात्मा ही है।

५. अहंकार से शब्दादि पाँचो तन्मात्रायें।

'महतोऽहंकारः' [त्रि० म० उ० २।१]

और बुद्धि की कारणभूता अव्यक्त मूल प्रकृति—यह पूर्वोक्त—

'भिन्ना प्रकृतिरष्टधा' [गी० ७४]

अष्टधा-अपरा-प्रकृति तथा दश इन्द्रियाँ अर्थात् वाक्, हस्त, पाद, गुदा और उपस्थ—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ और श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना और घ्राण—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और ग्यारहवाँ मन तथा ज्ञानेन्द्रियों के रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श—ये पाँच विषय; ये ही सांख्यमतावलम्बियों के चौबीस तत्त्व हैं ॥ ५ ॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

इच्छा—भोग्य वस्तु की कामना को कहते हैं ।
द्वेष—दुःखदायी वस्तु से घृणा का होना ।
सुख—अनुकूल वस्तु की प्राप्ति का होना ।
दुःख—प्रतिकूल वस्तु की प्राप्ति का होना ।
संघात—शरीर और इन्द्रिय समुदाय को कहते हैं ।
चेतना—आत्मचैतन्य के आभास से युक्त अन्तःकरण की प्रकाशिका वृत्ति को कहते हैं ।
धृति—विक्षिप्त शरीर और इन्द्रियाँ जिससे धारण की जाती हैं । ये सब ज्ञेय, दृश्य होने के कारण अनात्म अन्तःकरण के ही धर्म हैं ।

'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' [श्वे० उ० ६।११]
'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' [श्वे० उ० ६।१६]

साक्षी, चेतन, केवल, निर्गुण, निष्कल, निष्क्रिय एवं शान्त आत्मा के नहीं । इस प्रकार महत्तत्त्वादि विकारों के सहित ज्ञेय क्षेत्र का स्वरूप संक्षेप से कहा । अब परमात्मा की प्राप्ति का साधन सुनो ॥ ६ ॥

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥

आत्म श्लाघा से रहित होने को **अमानित्व** कहते हैं । लाभ-पूजा तथा ख्याति के लिए अपने गुणों को प्रकट न करना **अदम्भित्व** है ।

'अहिंसा नाम मनोवाक्कायकर्मभिः
सर्वभूतेषु सर्वदाऽक्लेश जननम्'
[शा० उ० १।१]

मन, वाणी एवं शरीर के कर्मों के द्वारा किसी प्राणी को कष्ट न देना **अहिंसा** है।

'कायेन मनसावाचा शत्रुभिः परिपीड़िते।
बुद्धिक्षोभ निवृत्तिर्या क्षमा सा मुनि पुङ्गव॥'
[श्री० जा० उ० १।१७]

शरीर, मन एवं वाणी से शत्रुओं के द्वारा सताये जाने पर भी बुद्धि का क्षोभ से रहित होना **क्षान्ति** है। छल-छिद्र रहित सरल शुद्ध भाव को **आर्जव** कहते हैं। केवल आत्मज्ञान प्रदान करने वाले गुरु की सेवा का नाम **आचार्योपासना** है।

'शौचं तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं तथा।
मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं भावशुद्धिस्तथाऽऽन्तरम्॥'
[स्मृति]

शौच दो प्रकार का है, जिसमें जल और मिट्टी से बाह्य शरीर को शुद्ध रखना बाह्यशौच है और आत्मचिन्तन से अन्तःकरण के राग-द्वेषादि मलों को दूर करना **आभ्यन्तरशौच** है।

अध्यात्म विषयक सुदृढ़ बुद्धि को **स्थैर्य** कहते हैं।

इन्द्रिय और मन को सांसारिक विषयों से हटाकर परमात्म चिन्तन में लगाने को **आत्मविनिग्रह** कहते हैं।

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधि दुःखदोषानुदर्शनम्॥ ८॥

देखे अथवा सुने गये इन्द्रियों के शब्दादिक विषयों को—

'विषमिव विषयादीन्' [वृ० उ० २।३७]

विषवत् जन्म-मृत्यु का हेतु समझकर इनसे पूर्ण विरक्त हो जाना। क्योंकि—

'विरक्तस्य तु संसाराज्ज्ञानं कैवल्य, साधनम्'
[श्री० जा० उ० ६।४७]

संसार से विरक्त पुरुष को ही कैवल्य-साधन ज्ञान प्राप्त होता है। तथा वर्ण आश्रम, आचार, विद्या, कुल आदि के श्रेष्ठत्व के अहंकार से रहित होना; क्योंकि—

'अहंकाराभिमानेन जीवः स्याद्धि सदाशिवः'

[त्रि० ब्रा० उ० १६]

अहंकाराभिमान से ही शिव जीव होता है और—

'अहंभावोदयाभावो बोधस्य परमावधिः'

[अ० उ० ४१]

अहंभाव का नाश ही बोध की परमावस्था है अर्थात अहंकार नाश से ही जीव शिवत्व को प्राप्त होता है। तथा जन्म-मृत्यु में असह्य पीड़ा, वृद्धावस्था में शरीर का जर्जरित हो जाना, शक्ति और तेज का क्षीण हो जाना और श्वानवत् तिरस्कारादि का होना तथा व्याधि में भी असह्य पीड़ा का होना, मृतकवत् पड़ा रहना आदि दोषों को बार-बार देखते रहना कि जब तक अज्ञान रहेगा तब तक जन्म-मृत्यु, जरा, व्याधि से ग्रस्त यह दुःख रूप शरीर रहेगा और जब तक शरीर रहेगा तब तक दुःखों से मुक्त नहीं हो सकते। अतः शरीर के इन दारुण अवस्थाओं का ध्यान रखते हुये—

'संसारदोषदृष्ट्यैव विरक्तिर्जायते सदा'

[ना० प० उ० ६।२०]

संसार के दोषों का बार-बार चिन्तन करते रहने से वैराग्य उत्पन्न होता है, तथा—

'वैराग्याद्बुद्धि विज्ञानाविर्भावो भवति।
अभ्यासात्तज्ज्ञानं क्रमेण परिपक्वं भवति।
पक्वविज्ञानाज्जीवन्मुक्तो भवति॥'

[त्रि० म० उ० ५।१]

वैराग्य से बुद्धि में विज्ञान का आविर्भाव होता है, अभ्यास के द्वारा वह ज्ञान क्रमशः परिपक्व होता है, परिपक्व विज्ञान से मुमुक्षु जीवन्मुक्त हो जाता है॥ ८॥

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ६ ॥

स्त्री, पुत्र, गृह तथा धन आदि को बन्धन का हेतु समझकर इनकी आसक्ति और संग से मुक्त—परम विरक्त हो जाना; तथा—

'दृष्ट्वारम्यमरम्यं वा स्थेयं पाषाणवत्सदा'

[अन्न० उ० ५।११८]

चित्त का इष्ट-अनिष्ट की प्राप्ति में सदैव पाषाणवत् सम रहना अर्थात्—

'उद्वेगानन्दरहितः समयास्वच्छया धिया'

[म० उ० २।५७]

इष्ट को प्राप्त कर हर्षित न होना और अनिष्ट को प्राप्त कर व्यथित न होना ॥ ६ ॥

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥

मुझ—

'न वासुदेवात्परमस्ति किंचित्'

'वासुदेव से भिन्न अणुमात्र भी नहीं है' इस सर्वात्मदृष्टि—अनन्ययोग से मुझमें अव्यभिचारी—एकान्तिक भक्ति—प्रीति का होना; क्योंकि—

'प्रीतिर्न यावन्मयि वासुदेवे न मुच्यते देहयोगेन तावत्'

[पुराण]

जब तक मुझ वासुदेव में प्रीति नहीं होगी, तब तक मनुष्य देह के योग—जन्म-मृत्यु से मुक्त नहीं हो सकता। इसलिये—

'सजातीय प्रवाहश्च विजातीयतिरस्कृतिः'

[तै० बि० उ० १।१८]

सजातीय—ब्रह्माकार वृत्ति रूप अनन्ययोग के द्वारा विजातीय—अब्रह्माकार वृत्ति का तिरस्कार करते हुये—

'स्वरूपानुसंधानंविनान्यथाचारपरो न भवेत्'

[ना० प० उ० ५।१]

सदैव स्वरूपानुसंधान ही करना तथा विविक्तस्थान—

'शून्यागारवृक्षमूलदेवगृहतृणकूटकुलालशालाग्निहोत्रशाला-¹
ग्निदिगन्तरनदीतटपुलिनभूगृहकन्दरनिर्झरस्थण्डिलेषुवनेषा'

[ना० प० उ० ३।८६]

शून्य आगार, देवमन्दिर, तृणराशि आदि वैराग्योत्पादक एकान्त स्थान में रहने का स्वभाव, क्योंकि ध्यान के परायण होकर—

विविक्तदेश संसक्तो मुच्यते नात्र संशयः'

[ना० प० उ० ३।७६]

एकान्तदेश का सेवन करने वाला पुरुष निश्चित रूप से मुक्त होता है। तथा—

'नानार्येण सहावसेत्' [म० उ० ४।२२]

तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिये बहिर्मुख—विषयलम्पट अनार्य पुरुषों के समाज में प्रीति का न होना अर्थात्—

'अहिरिव जनयोगं सर्वदा वर्जयेत्'

[व० उ० २।३७]

सर्पवत् सामान्य संस्कारशून्य पुरुषों का सर्वथा त्याग करना; क्योंकि—

'असत्सङ्गो विषाधिकः' [म० वै० पु०]

असत्संग विष से भी अधिक भयंकर दुःखदायी है। इसलिये—

'दुःसङ्गः सर्वथैव त्याज्यः'

[ना० भ० सू० ४३]

इनका सर्वथा त्याग ही उचित है।

---

१. शून्यागार, वृक्षमूल, देवालय, तृणकुटीर, कुलालशाला, अग्निहोत्रशाला, अग्नि दिगन्तर, नदीतट, कछार, गुफा, कन्दरा, झरने के पास चबूतरा या वेदी अथवा वन में।

तथा तत्त्वज्ञान के अनुकूल—

'सत्संगमः सुखमयः' [ब्र० वै० पु०]

'तस्मात्सङ्गः सदा त्याज्यः सर्वस्त्यक्तुं न शक्यते¹ ।
महद्भिः सह कर्तव्यः सन्तः सङ्गस्य भेषजम्' ॥
[ग० पु० २।४६।५६]

सुखमय-सत्पुरुषों का समागम करना ॥१०॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥

तथा—

'अभ्यसेद्ब्रह्मविज्ञानं वेदान्तश्रवणादिना'
[ना० प० उ० ६।२१]

वेद-शास्त्रों के श्रवणादि द्वारा अध्यात्मज्ञान—आत्मज्ञान में ही नित्य निष्ठा रखना अर्थात्—

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'
[बृ० उ० ४।५।६]

'आत्मा ही द्रष्टव्य, श्रोतव्य तथा मन्तव्य है ।'

'आत्मैवेदं सर्वम्'
[छा० उ० ७।२५।२]

'यह सब आत्मा ही है ।'

'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति'
[बृ० उ० ४।४।१६]

'जो इस आत्मतत्त्व में नानात्व देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है ।'

---

१. इसलिये संग सर्वदा त्याज्य ही है और यदि सम्पूर्णता से त्याग न कर सके तो महापुरुषों का संग करना चाहिये; क्योंकि सन्त संग—आसक्ति को दूर करने की औषधि है ।

तथा तत्त्वज्ञान के अर्थ का दर्शन अर्थात्—

'अहं ब्रह्मेति चेद्वेद साक्षात्कारः स उच्यते'

[व० उ० २।४१]

'मैं ब्रह्म ही हूँ—इस साक्षात्कार के लिये—

'वेदान्ताभ्यास निरतः शान्तो दान्तो जितेन्द्रियः'

[ना० प० उ० ६।२३]

वेदांत के अभ्यास में निरत, शान्त, दान्त और जितेन्द्रिय होकर उसका बार-बार विचार करना । इस प्रकार **'अमानित्वादि'** *से* **'तत्त्वज्ञानार्थ-दर्शनम्'** *तक के ये बीस दैवी गुण मोक्ष के हेतु होने के कारण ज्ञान कहे गये हैं और इसके विपरीत मानित्व, दम्भित्वादि मोक्ष के विरोधी होने के कारण अज्ञान कहे गये हैं । इसलिये मुमुक्षु को इनका सर्वथा त्याग करके अमानित्वादि दैवी गुणों से युक्त हो मोक्ष-सुख ही प्राप्त करना चाहिये ॥ ११ ॥*

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ १२ ॥

अर्जुन ! मैं उस—

'एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म' [छा० उ० ४।१५।१]

ज्ञेय अमृतस्वरूप अभय ब्रह्म सत्ता का तुझे उपदेश दूँगा,

'य एतमेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति'

[श्वे० उ० ४।२०]

जिसको जानकर मुमुक्षु अमर हो जाते हैं ।
वह ज्ञेय अनादिमत्—आदि अन्त से रहित—

'दोष वर्जितः' [अन्न० उ० ५।७५]

'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः'

[मु० उ० २।१।२]

निर्विकार, प्राणरहित, अमना, शुभ्र पर अक्षर से उत्कृष्ट, निर्गुण, निर्विशेष परब्रह्म—

'साक्षी चेता केवलोनिर्गुणश्च' [श्वे० उ० ६।११]

'आत्मा व्यक्ताव्यक्ताभ्यां भिन्नः तदुभय साक्षित्वात्'

साक्षी होने के कारण न सत्—व्यक्त—कार्य है और न असत्—अव्यक्त—कारण ही अर्थात् वो—

'एकमेवाद्वितीयम्' [छा० उ० ६।२।१]
'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' [श्वे० उ० ६।१६]
'असङ्गो ह्ययं पुरुष.' [बृ० उ० ४।३।१५]

स्वगत, सजातीय, विजातीय भेद तथा जाति, गुण, क्रिया तथा संबंध से रहित, एक, अद्वितीय, निष्कल, निष्क्रिय तथा असंग—

'यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्यमनसा सह ॥'[1]
[तै० उ० २।४]

'निर्विशेषे परानन्दे कथं शब्द प्रवर्तते'[2]
[क० रु० उ० ३२]

वाणी का अविषय—अनिर्वचनीय—

'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि।'
[के० उ० १।३]

जाने और न जाने हुए से भिन्न—

'देशतः कालतो वस्तुतः परिच्छेद रहितं ब्रह्म'
[त्रि० म० उ० १।१]

देश, काल, वस्तु के परिच्छेद से रहित अपरिछिन्न—

'नित्यः सर्वगतो ह्यात्मा कूटस्थो दोषवर्जितः ॥'
[अम० उ० ५।७५]

नित्य, सर्वगत सर्वभूत, कूटस्थ एवं निर्विकार है ॥ १२ ॥

---

१. जहाँ से मन सहित वाणी उस परमात्मतत्त्व को न प्राप्त कर लौट आती है ।

२. निर्विशेष-परानन्द-ब्रह्मतत्त्व में शब्द की प्रवृत्ति कैसे हो सकती है ?

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १३ ॥

वह सर्वगत् ब्रह्म—

'सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः'[1]
[श्वे० उ० ३।११]

सर्वात्मा होने के कारण—

'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबल क्रिया च ।'
[श्वे० उ० ६।८]

अपनी स्वाभाविकी ज्ञान-क्रिया, बल-क्रिया से युक्त अचिन्त्य पराशक्ति से सर्वभूतप्राणियों के अंतःकरण में स्थित है, इसलिये सबके हाथ, पैर आदि उसके हाथ, पैर हैं । अथवा वह विराट् ईश्वर—

'सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्'
[श्वे० उ० ३.१६]

'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोहस्त उत विश्वतस्पात्'
[नि० म० उ० ६।१]

सब ओर से हाथ, पैर, आँख, सिर और मुखवाला है, तथा वह सर्वत्र कान वाला है । इस प्रकार वह—

'उपादानं प्रपञ्चस्य ब्रह्मणोऽन्यच्च विद्यते ।
तस्मात्सर्वं प्रपञ्चोऽयं ब्रह्मैवास्ति च चेतरत् ।'
[यो० शि० उ० ४।३]

सर्वाधिष्ठानस्वरूप एक अद्वितीय ब्रह्म औपाधिक रूप से सबको धारण करके अचेतन इन्द्रियों को चेतनता प्रदान करता हुआ परमार्थतः नित्य निर्विकार रूप से स्थित है ॥ १३ ॥

---

१. वह ईश्वर सर्वमुखोंवाला, सर्वशिरोंवाला एवं सर्व ग्रीवाओंवाला है, वह समस्त भूतप्राणियों के अन्तःकरण में स्थित है ।

'सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नित्यम्' [कै० उ० १।१६]

प्रकृति से परे, अतिसूक्ष्म तथा अमूर्त होने के कारण आत्मज्ञानशून्य स्थूलबुद्धि वाले पुरुषों के लिये—

'दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च'
पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥'
[मु० उ० ३।१।७]

करोड़ों वर्षों में अप्राप्य होने से अति दूर है, परन्तु जो आत्मज्ञान के साधन शम, दमादि से सम्पन्न हैं, उन सूक्ष्मदर्शियों के लिये वह स्वरूपभूत ब्रह्म अति सन्निकट उनका आत्मा ही है ॥१५॥

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१६॥

वह—

'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः'
'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।'
[श्वे० उ० ६।११]

अविभक्त ब्रह्म आकाशवत् नाना घटरूपी स्थावर-जङ्गमात्मक सम्पूर्ण प्राणियों में विभक्त हुआ सा स्थित है तथा वह सर्वाधिष्ठानस्वरूप ब्रह्म ही प्रभविष्णु—सबको उत्पन्न करने वाले ब्रह्मा के रूप में तथा वही भूतभर्तृ—भूतों के धारण-पोषण करने वाले विष्णु के रूप में तथा वही ग्रसिष्णु—सम्पूर्ण प्राणियों के संहार करने वाले महेश के रूप में स्थित है । ऐसा ही कहा भी गया है—

'सृष्टिस्थित्यन्तकरणीं'
ब्रह्मविष्णु शिवात्मिकाम् ।

---

१. वह ब्रह्म दूर से भी दूर है और वह अन्तःकरण में अत्यन्त सन्निकट भी है । वह चेतन प्राणियों में इस शरीर के भीतर उनकी बुद्धि रूप गुहा में स्थित है ।

२. वह एक ही भगवान् जनार्दन ही उत्पत्ति, स्थिति एवं संहारकारिणी ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव रूप संज्ञाओं को प्राप्त हो जाता है ।

स संज्ञां याति भगवा-
नेक एव जनार्दनः ॥'
[वि० पु० १।२।६६]

अभिप्राय यह है कि—

'स ब्रह्मा स विष्णुः स रुद्रः स इन्द्रः
स सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि'
[शा० उ० ३।१]

वह ज्ञेय ब्रह्म ही ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्र सब देवताओं तथा सर्वभूतप्राणियों के रूप में स्थित है क्योंकि—

'उपादानं प्रपञ्चस्य ब्रह्मणोऽन्यन्नविद्यते ।
तस्मात्सर्वं प्रपञ्चोऽयं ब्रह्मैवास्ति न चेतरत् ॥'
[यो० शि० उ० ४।३]

प्रपञ्च का उपादान कारण ब्रह्म से भिन्न नहीं है। इसलिये यह सब प्रपञ्च ब्रह्म ही है, उससे भिन्न अणुमात्र भी नहीं है ॥१६॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥१७॥

वह ज्ञेय परमात्मतत्त्व—

'सर्वेषां ज्योतिषां ज्योतिस्तमसः परमुच्यते'
[त्रि० म० उ० ४।१]

'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमः पारे प्रतिष्ठितम्'[1]
[यो० शि० उ० ३।२२]

सब ज्योतियों की परम ज्योति है।

'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥'
[मु० उ० २।२।१०]

---

१. वह ज्योतियों की भी ज्योति प्रकृति से परे स्थित है।

उस चैतन्य आत्मज्योति से ही ये यह सूर्य, चन्द्र, तारे, अग्नि, विद्युत तथा समस्त ब्रह्माण्ड प्रकाशित हैं। तथा वह ज्ञेय तत्त्व—

'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्'
[श्वे० उ० ३।८]

'आत्मा व्यक्ताव्यक्ताभ्यां भिन्नः तदुभय साक्षित्वात्'

तम—प्रकृति से परे, ज्ञानस्वरूप, साक्षी होने के कारण व्यक्त—कार्य और अव्यक्त—कारण से विलक्षण है। तथा यह ज्ञेय परमात्मतत्त्व ज्ञान—अमानित्वादि ज्ञान के साधनों के द्वारा ज्ञानगम्य—जानने के योग्य सर्वभूतप्राणियों के हृदय में नित्य नियन्ता रूप से स्थित है।

'सर्वज्ञं सर्वगं शान्तं सर्वेषां हृदये स्थितम्'
[यो० शि० उ० ३।२०].

अभिप्राय यह है कि इस ज्ञेय तत्त्व को—

'मनसैवेदमाप्तव्यम्' [क० उ० २।१।११].

विशुद्ध बुद्धि से अपने अन्तःकरण में ही खोजना चाहिये, बाहर नहीं ॥१७॥

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१८॥

इस प्रकार 'महाभूतानि' से लेकर 'धृतिः' तक क्षेत्र का स्वरूप तथा 'अमानित्वम्' से लेकर 'तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्' तक आत्मज्ञान के साधन ज्ञान का स्वरूप और 'अनादिमत्परम्' से 'हृदि सर्वस्यविष्ठितम्' तक ज्ञेय—परमात्मा का स्वरूप संक्षेप से मेरे द्वारा कहा गया, जो कि सम्पूर्ण वेदों और गीता का सार-सार तत्त्व, कैवल्य का साक्षात् हेतु है। इसलिये जो मक्त-मुमु परम गुरु सच्चिदानन्दघन वासुदेव के सर्वात्मभाव से शरणापन्न होकर—

'सर्वमिदमहं च वासुदेवः'

अपने सहित क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय, इन सबको विवेक बुद्धि से वासुदेवस्वरूप जान लेता है, वह—

'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति' [मु० उ० ३।२।६]

ब्रह्मवेत्ता मेरे भाव को अर्थात् ब्रह्ममात्र को प्राप्त होता है ॥१८॥

> प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
> विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥१९॥

प्रकृति—क्षेत्र तथा पुरुष—क्षेत्रज्ञ, इन दोनों को तू—

'अजामेकाम्'[1] [श्वे० उ० ४।५]

'अजो नित्यः' [क० उ० १।२।१८]

अनादि, नित्य जान।

'प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः' [श्वे० उ० ६।१६]

अर्थात् ये दोनों सर्वाधिपति ईश्वर की अनादि प्रकृतियाँ हैं। विकार—बुद्धि से धृति तक तथा सुखदुःखमोहादि रूप से परिणत सत्त्व, रज एवं तम—इन तीनों गुणों को प्रकृति से उत्पन्न हुआ जान, असंग निरवयव एवं निर्विकार आत्मा से नहीं ॥१९॥

> कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
> पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥

शरीर के उत्पन्न करने वाले पञ्चभूत और पञ्चविषय—ये दश कार्य तथा पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि एवं अहंकार—ये तेरह करण; इनके कर्तात्व—सृष्टि में हेतु—कारण प्रकृति कही गई है अर्थात् प्रकृति ही इनका उपादान कारण है और यह पुरुष—क्षेत्रज्ञ सुखदुःखादि भोगों के भोक्तापन में हेतु कहा है ॥२०॥

> पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
> कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२१॥

पुरुष प्रकृति में स्थित होकर ही प्रकृति से उत्पन्न त्रिगुणात्मक शरीर को अपना स्वरूप समझकर—

'स यथा कामो भवति'[2] [बृ० उ० ४।४।५]

---

१. यह माया अज और एक है।
२. यह जैसी कामना वाला होता है।

'कामान्यः कामयते मन्यमानः'[1]

[मु० उ० ३।२।२]

कामनावश जिन दृष्ट-अदृष्ट इष्ट विषयों को चाहता है, उन-उन कर्मों को करता हुआ—

'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः'[3]

[क० उ० १।३।४]

सुखदुःखात्मक भोगों को भोगता है। इस प्रकार यह—

'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' [बृ० उ० ४।३।१५]

'असङ्गो न हि सज्यते' [बृ० उ० ३।६।२६]

असंग, मुक्त आत्मा गुणों के संग से अर्थात् त्रिगुणात्मक शरीर को अज्ञान से अपना स्वरूप समझ कर—

'स कामभिर्जायते तत्र तत्र'[3] [मु० उ० ३।२।२]

कामनाओं के कारण बार-बार सत्-असत्, नीच-ऊँच, देव एवं पशु आदि योनियों में जन्मता रहता है।

ऐसे ही महर्षि पतञ्जलि ने भी योग-दर्शन में कहा है—

'द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेय हेतुः'

[यो० सू० २।१७]

'तस्य हेतुरविद्या' [यो० सू० २।२४]

द्रष्टा और दृश्य अर्थात् पुरुष और प्रकृति का संयोग ही हेय यानी दुःख का हेतु है। और इस संयोग का कारण अविद्या अर्थात् अज्ञान है।

'तदभावात् संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम्'

[यो० सू० २।२५]

---

२. विषयों का चिन्तन करने वाला जो पुरुष भोगों की इच्छा करता है।

३. देह, इन्द्रिय एवं मन से युक्त आत्मा को मनीषी गण भोक्ता कहते हैं।

४. वह उन कामनाओं के द्वारा वहाँ-वहाँ उत्पन्न होता है।

इस अविद्या रूप कारण के अभाव से संयोग रूप कार्य का भी नाश हो जाता है। इसी को आत्मा का कैवल्य—मोक्ष कहते हैं ॥२१॥

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥२२॥

यह आत्मा—

'उपद्रष्टानुमन्तैष आत्मा'

उपद्रष्टा है अर्थात् सबके शुभाशुभ कर्मों का समीपस्थ साक्षी है। अथवा बाह्य चक्षु, मन, बुद्धि आदि बाह्य द्रष्टाओं की अपेक्षा आत्मा अन्तर्द्रष्टा होने के कारण उपद्रष्टा है। तथा जो अपने अपने विषयों में प्रवृत्त बुद्धि आदि की प्रवृत्ति और निवृत्ति को पीछे से जानता है, वह अनुमन्ता है। अथवा जो स्व व्यापार में प्रवृत्त देह, इन्द्रिय आदि को कभी उनके व्यापार से निवारण न करता हुआ—

'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च'

[श्वे० उ० ६।११]

केवल साक्षी रूप से स्थित रहता है, उसे अनुमन्ता कहते हैं। तथा जो अपनी माया से अपने में ही—

'व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः' [श्वे० उ० १।८]

व्यक्त-अव्यक्त समस्त अध्यस्त भूतवर्ग को सत्ता-स्फूर्ति देकर भरण करता है, वह भर्ता है।

तथा यह जीव रूप से भोक्ता है। अथवा जो अपने में अध्यस्त—

'सर्वभुक्सर्वस्येशानः'[1] [मैत्रा० उ० ७।१]

'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः'[2]।

---

१. सबका भोक्ता एवं सबका शासक।

२. जिस ब्रह्म के ब्राह्मण और क्षत्रीय—ये दोनों भात हैं और मृत्यु जिसका शाकादि है।

'मृत्युर्यस्योपसेचनम्' [क० उ० १।२।२५]

समस्त भूतवर्ग को भोगता है अर्थात् निगलकर आत्मरूप बना लेता है, उसे भोक्ता कहते हैं। तथा जो—

'महतो महीयान्' [श्वे० उ० ३।२०]

'तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्'

[श्वे० उ० ६।७]

महान् से भी महान्, ब्रह्मा और शंकरादि का भी ईश्वर होने के कारण महेश्वर है। तथा जो—

'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' [बृ० उ० ४।३।१५]

असंग आत्मा इस पाञ्चभौतिक शरीर में स्थित होने पर भी —

'प्रकृतेः परः' [वि० पु० २।१४।२६]

प्रकृति—अव्यक्त से पर-परम-पुरुष परमात्मा कहा गया है ॥२२॥

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न सभूयोऽभिजायते ॥२३॥

इस प्रकार जो उपद्रष्टा आदि लक्षणों से युक्त पुरुष—परमात्मा को सद्गुरु के शरणापन्न हो, श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन के द्वारा आत्मरूप से साक्षात्कार कर लेता है तथा अपने में गुणों के सहित अध्यस्त प्रकृति को मिथ्या जान लेता है कि—

'मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः'

[माण्डू० का० १।१७]

यह द्वैत-प्रपञ्च माया मात्र है, परमार्थ अद्वैत सत्ता ही है, वही सर्वत्र सर्वरूपों में स्थित है, उससे भिन्न अणुमात्र भी नहीं है, वह—

'देहवासनया मुक्तो देहधर्मैर्न लिप्यते'

[म० उ० ४।६७]

देह-वासना से मुक्त सर्वात्मदर्शी पुरुष प्रारब्धानुसार सब प्रकार से वर्तता हुआ भी देह-धर्म से लिप्त न होने के कारण—

'न भूयः संसृतिं व्रजेत्'

[त्रि० ब्रा० उ० १६१]

फिर पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होता है ॥२३॥

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥२४॥

कितने विवेक, वैराग्यादि साधन चतुष्टय-सम्पन्न उत्तम अधिकारी योगी—

'सततं ध्यानयोगपरायणाः' [श्रुति]

'सजातीय प्रवाहश्च विजातीय तिरस्कृतिः'

[ते० बि० उ० १।१८]

सतत ध्यानयोग के परायण होकर सजातीय—ब्रह्माकार वृत्ति के द्वारा विजातीय—जगदाकार वृत्ति का निरास करते हुये—

'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्व-[1]
स्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥'

[मु० उ० ३।१।८]

ज्ञान के प्रसाद से विशुद्ध सत्त्व होकर अपने विशुद्ध अन्तःकरण में—

'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' [श्वे० उ० ६।१६]

स्वरूपभूत निष्कल, निष्क्रिय, एवं शान्त आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करते हैं कि—

'सर्वमिदमहं च वासुदेवः'

यह सब और मैं वासुदेव ही हूँ । तथा कितने मध्यम अधिकारी सांख्ययोग—ज्ञानयोग के द्वारा आत्मा को इस मिथ्या त्रिगुणात्मक शरीर से पृथक्, इसका साक्षी, नित्य, विभु एवं निर्विकार जानकर नित्य-निरन्तर चिन्तन करते हुये—

---

१. जब ज्ञान के प्रसाद से शुद्धान्तःकरण हो जाता है, तभी वह ध्यान करता हुआ उस निष्कल आत्मतत्त्व को देखता है ।

'ध्यानं निर्विषयं मनः'[1] [स्क० उ० ११]

ध्यान से निर्वासनिक होकर विशुद्धबुद्धि में आत्मा को देखते हैं।

तथा कितने मन्द, विवेक, वैराग्य शून्य कर्मयोगी—

'मत्कर्मकृन्मत्परमः' [गी० ११।५५]

इस पदानुसार कर्मयोग के द्वारा कर्तृत्वाभिमान तथा फलासक्ति से मुक्त होकर भगवदर्थ कर्म करते हुये अपने विशुद्ध-अन्तःकरण में आत्मा को देखते हैं कि—

'वासुदेवः सर्वमिति' [गी० ७।१६]

सब कुछ वासुदेव ही है ॥२४॥

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२५॥

तथा कितने शिक्षाशून्य मन्दतर साधक जो उपर्युक्त साधनों के अधिकारी नहीं हैं, वे अन्य तत्त्वदर्शी आचार्यों से सुनकर अर्थात् उनसे शास्त्रों के निष्कर्ष—

'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवोब्रह्मैवनाऽपरः' [श्रुति]

ब्रह्म को सत्य, जगत् को मिथ्या तथा जीव और ब्रह्म के अभेद को सम्यग्रूपेण समझकर श्रद्धाभक्तिपूर्वक उसका चिन्तन करते हुये केवल सुनने के परायण होकर—

'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति' [श्वे० उ० ३।८]

परमात्मतत्त्व को जानकर मृत्यु को निश्चित रूप से तर जाते हैं अर्थात् अमर हो जाते हैं ॥२५॥

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥२६॥

हे भरतश्रेष्ठ !

---

१. मन का निर्विषय होना ही ध्यान है।

'अणुर्बृहत् कृशः स्थूलो यो यो भावः प्रसिध्यति।
सर्वोऽप्युभय संयुक्तः प्रकृत्या पुरुषेण च॥'
[श्री० भा० ११।२४।१६][1]

जो जो जड़-चैतन्य प्राणि इस संसार में उत्पन्न होते हैं, उन सबको तू क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से उत्पन्न हुआ जान। अभिप्राय यह है कि—

'रज्ज्वज्ञानात्क्षणेनैव यद्वद्रज्जुर्हि सर्पिणी'
[यो० शि० उ० ४।२]

जैसे रज्जु में सर्प तथा शुक्ति में रजत का संयोग रज्जु और शुक्ति के अज्ञान से ही है उसके ज्ञान से नहीं, वैसे ही क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का संयोग अज्ञान कल्पित ही है; क्योंकि क्षेत्र सगुण, विकारी, जड़ तथा दृश्य है और क्षेत्रज्ञ निर्गुण, निर्विकार, चेतन तथा द्रष्टा है। इस प्रकार विवेकी पुरुषों को क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग को मिथ्या अज्ञानकल्पित तथा बन्धन का हेतु समझकर विवेक, वैराग्यादि साधन चतुष्टय-सम्पन्न होकर अपने असंगत्व एवं निर्विकारत्व में स्थित हो जन्म मृत्यु प्रदान करने वाले क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के संयोग से अर्थात् देहाध्यास से मुक्त हो जाना चाहिये ॥२६॥

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥२७॥

जैसे नाना विकारी परिवर्तनशील भूषणों में स्वर्ण सम, निर्विकार रूप से स्थित रहता है तथा जैसे नाना घड़ों में मिट्टी समरूप से स्थित रहती है, वैसे ही जो विशुद्धान्तःकरण पुरुष ज्ञानचक्षु के द्वारा नाशवान् सर्वभूत-प्राणियों में—

'अविनाशी वा अरेऽयमात्मा'
[बृ० उ० ४।५।१४].

'मामेव सर्वभूतेषु बहिरन्तरपावृतम्।
ईक्षेतात्मनि चात्मानं यथा खममलाशयः॥'
[श्री० भा० ११।२६।१२]

---

१. विश्व में छोटे-बड़े, मोटे-पतले जितने भी पदार्थ बनते हैं, वे सब प्रकृति और पुरुष इन दोनों के संयोग से ही सिद्ध होते हैं।

अविनाशी परमात्मा को स्वर्ण, मिट्टी तथा आकाशवत् बाहर-भीतर परिपूर्ण, सम, निर्विकार रूप से स्थित देखता है अर्थात् आत्मरूप से साक्षात्कार करता है, वही सम्यग्दर्शी जीवन्मुक्त है तथा उसी का जीवन शोभनीय है।

'समता चैव सर्वस्मिन्नेतन्मुक्तस्यलक्षणम्'
[ना० प० उ० ३।५४]

'यः समः सर्वभूतेषु जीवितं तस्य शोभते'[1]
[अ० उ० २।३६]

अथवा जैसे—

'यथा मृदि घटो नाम कनके कुण्डलाभिधा'
[यो० शि० उ० ४।१४]

'जगन्नाम्ना चिदाभाति सर्वं ब्रह्मैव केवलम्'
[यो० शि० उ० ४।१८]

मिट्टी में घट तथा स्वर्ण में कुण्डल नाम मात्र को ही है, वस्तुतः नहीं, केवल मिट्टी और स्वर्ण ही घट और कुण्डल के रूप में भास रहे हैं, वैसे ही चिद् परमात्मसत्ता ही जगत् रूप से भास रही है, जगत् नाम की कोई वस्तु नहीं।

अभिप्राय यह है कि परमात्मा से भिन्न अणु मात्र भी नहीं है। इस प्रकार जो अन्वय-व्यतिरेक दृष्टि से सर्वत्र सर्वरूपों में परमात्मतत्त्व को देखता है, वही यथार्थदर्शी—ज्ञानी है ॥ २७ ॥

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥ २८ ॥

इस प्रकार जो स्थावर जंगम संपूर्ण प्राणियों में—

'बहिरन्तश्च सर्वत्र संपश्यन्हि जनार्दनम्'
[ना० प० उ० ५।२६]

बाहर-भीतर सर्वत्र परमात्मतत्त्व को युक्ति स्वानुभूति एवं शास्त्रदृष्टि से सम, निर्विकार रूप से देखता है अर्थात् सम अधिष्ठान सत्ता में विषम अध्यस्त भूतवर्ग का अभाव देखता है, वह परावरैकत्वविज्ञानदर्शी अपने को नित्य,

---

१. जो सर्वभूतप्राणियों में सम है, उसी का जीवन शोभनीय है।

शुद्ध, बुद्ध, मुक्त समझने के कारण अपने द्वारा अपना हनन नहीं करता *अर्थात् शरीर के नाश से अपना नाश नहीं मानता है।* अतः वह अहिंसक सर्वात्मदर्शी ब्रह्मभूत पुरुष परमगति—परमात्मतत्त्व को प्राप्त होता है। जैसा श्रुति भी कहती है कि—

'संपश्यन्ब्रह्म परमं याति' [कै० उ० १।१०]

परन्तु जो देहाभिमानी विषमदर्शी अज्ञानी पुरुष परमात्मा को समरूप से नहीं देखते, वे शरीर के नाश से अपना नाश माननेवाले आत्महत्यारे अपने द्वारा अपना हनन करते हुए आसुरी लोकों को ही प्राप्त होते हैं। जैसा श्रुति भी कहती है कि—

'असुर्या नाम ते लोका' [ई० उ० ३]

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ २६ ॥

जो विवेकी पुरुष देह, इन्द्रियादि के आकार में परिणत प्रकृति—त्रिगुणात्मिका माया से ही—

'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः'
[गी० ३।२७]

सब प्रकार से संपूर्ण विहित-अविहित, श्रवण, दर्शन, ग्रहण, त्यागादि कर्मों को किया हुआ देखता है तथा आत्मा को—

'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' [श्वे० उ० ६।१६]
'अविकारमुदासीनम्' [कु० उ० २३]

निष्कल, निष्क्रिय, शान्त, निर्विकार, साक्षी तथा असंग, समरूप से सर्वत्र स्थित देखता है वही परमार्थदर्शी है। अथवा त्रिगुणात्मिका माया ही आत्मा से चुंबकवत् चेतनता को प्राप्त करके सृष्टि, स्थिति तथा प्रलयरूप संपूर्ण क्रियाओं को करती है—

'न साक्षिणं साक्ष्यधर्माः संस्पृशन्ति विलक्षणम्'[1]
[कु० उ० २३]

१. विलक्षण साक्षी आत्मा को साक्ष्य के धर्म स्पर्श नहीं करते।

'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च'

[श्वे॰ उ॰ ६।११]

साक्षी, असंग, अक्रिय आत्मा से कोई प्रयोजन नहीं; इस प्रकार जो विवेकी देखता है, वही समदर्शी है ॥ २६ ॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्मसंपद्यते तदा ॥ ३० ॥

जिस काल में महात्मा स्थावर-जंगम समस्त भूतों के पृथक्-पृथक् भाव—नानात्व को—

'यदा सर्वाणि भूतानि स्वात्मन्येव हि पश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥'

[श्री जा॰ उ॰ १०।१०]

'सर्वभूतेषु चाऽऽत्मानं सर्वभूतानि चाऽऽत्मनि ।[1]
यदा पश्यति भूतात्मा ब्रह्म संपद्यते तदा ॥'

[ब्र॰ पु॰ २३५।२२]

एक अद्वितीय आत्मसत्ता में देखता है—

'यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः'

[ई॰ उ॰ ७]

अर्थात् सबको आत्मा ही जानता है । तथा एक अद्वितीय आत्मसत्ता ही नाना आभूषण रूप स्थावर जंगमात्मक प्राणियों के रूप में स्थित है अर्थात् उसी से संपूर्ण भूतप्राणियों की सृष्टि हुई है इसीलिये तद्रूप ही है, क्योंकि—

'यस्माद्यदुत्पद्यते तत्तन्मात्रमेव'

'जिससे जो उत्पन्न होता है, वह तद्रूप ही होता है' इस नियम से—

---

१. जब जीवात्मा सर्वभूतों में अपनी आत्मा को और अपनी आत्मा में सर्वभूतों को देखता है; तब ब्रह्म को प्राप्त होता है ।

'ब्रह्मणः सर्वभूतानि जायन्ते परमात्मनः।[1]
तस्मादेतानि ब्रह्मैव भवन्तीति विचिन्तय॥'
[यो० शि०उ० ४।५]

ब्रह्म से सृष्ट सब भूतवर्ग ब्रह्म ही है। जैसा श्रुति भी कहती है—

आत्मतः प्राण आत्मत आशाऽऽत्मतः स्मर आत्मत आकाश आत्मतस्तेज आत्मत आप आत्मत आविर्भावतिरोभावा-वात्मतोऽन्नमात्मतो बलमात्मतो विज्ञानमात्मतो ध्यानमात्मतश्चित्तमात्मतः संकल्प आत्मतो मनं आत्मतो वागात्मतो नामात्मतो मन्त्रा आत्मतः कर्माण्यात्मत एवेदं सर्वमिति॥' [छा० उ० ७।२६।१]

'आत्मा से प्राण, आत्मा से आशा, आत्मा से स्मृति, आत्मा से आकाश; आत्मा से तेज, आत्मा से जल, आत्मा से आविर्भाव और तिरोभाव, आत्मा से अन्न, आत्मा से बल, आत्मा से विज्ञान, आत्मा से ध्यान, आत्मा से चित्त आत्मा से संकल्प, आत्मा से मन, आत्मा से वाक्, आत्मा से नाम, आत्मा से मंत्र, आत्मा से कर्म और आत्मा से यह सब हो जाता है। ऐसे ही पुराण में भी कहा गया है—

'आत्मैव तदिदं विश्वं सृज्यते सृजति प्रभुः।
त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वरः॥'
[श्री० भा० ११।२८।६]

'यह व्यक्ताव्यक्त संपूर्ण विश्व यह आत्मा ही है, वही सर्वसमर्थ भी है, वही जगत् का स्रष्टा और जगत् रूप से सृष्ट भी है, वही रक्षक और रक्षित भी है तथा वही संहर्ता और संहृत भी है।'

इस प्रकार जिस समय ब्रह्मात्मैक्य बुद्धि से युक्त समदर्शी महात्मा—
'अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा'
[श्री० भा० २।६।३५]

१. समस्तभूत परमात्मा ब्रह्म से ही उत्पन्न होते हैं, इसलिये ये सब ब्रह्म ही हैं—ऐसा चिन्तन करो।

अन्वय-व्यतिरेक दृष्टि से—

'सर्वमिदमहं च वासुदेवः'

सर्वत्र अपने को ही देखता, सुनता एवं समझता है, उस समय—

'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः'

[ई० उ० ७]

शोक-मोह से पूर्णरूपेण मुक्त हो ब्रह्म को प्राप्त होता है। अथवा जैसे नाना घटाकाश एक महाकाश में स्थित है और एक महाकाश नाना घटाकाश के रूप में स्थित प्रतीत होता है अर्थात् घटाकाश ही महाकाश और महाकाश ही घटाकाश है; क्योंकि इसका पार्थक्य केवल घट की उपाधि के कारण ही है वस्तुतः नहीं, वैसे ही जो प्राणियों के नाना जीवभाव को एक अखंड परमात्मा में कल्पित देखता है और एक अखंड परमात्मा को नाना प्राणियों में स्थित देखता है अर्थात् ब्रह्मात्मैक्य दृष्टि से जीव परमात्मा में अभेद देखता है, उस काल में ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म को प्राप्तकर—

'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति' [मु० उ० ३।२।९]

ब्रह्म ही हो जाता है ॥ ३० ॥

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥ ३१ ॥

यह—

'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म' [बृ० उ० ३।४।१]

अपरोक्ष प्रत्यगभिन्न परमात्मा अनादि—आदि रहित होने के कारण अव्यय है क्योंकि—

'न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः'

[श्वे० उ० ६।९]

'तद्धेतुः सर्वभूतानां तस्य हेतुर्न विद्यते'[1]

[अव० उ० ४।७०]

---

१. वह परमात्मतत्त्व सर्वभूतप्राणियों का हेतु है; परन्तु उसका हेतु कोई नहीं है।

उसकी उत्पत्ति का कोई उपादान अथवा निमित्त कारण नहीं है। इसलिये ही वह—

'अजो नित्यः' [क० उ० १।२।१८]

अज, नित्य—

'अविनाशी वा अरेऽयमात्मा' [बृ० उ० ४।५।१४]

'प्रियात्मजननवर्धन परिणाम क्षयनाशाः षड्भावाः'

[मुद्ग० उ० ४।६]

षड्भावविकारों से रहित; निर्विकार एवं अविनाशी है।

'परमात्मा गुणातीतः' [ते० बि० उ० ४।४१]

तथा यह निर्गुण—सत्त्वादि गुणों से रहित गुणातीत होने के कारण भी अव्यय है। इसलिए शरीर में स्थित होता हुआ भी—

'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' [बृ० उ० ४।३।१५]

'नात्मानं माया स्पृशति' [नृ० पू० उ० १।५।१]

'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' [श्वे० उ० ६।१९]

'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च'

[श्वे० उ० ६।११]

माया के संसर्ग से रहित, निष्फल, निष्क्रिय, शान्त एवं साक्षी आत्मा पाप-पुण्यात्मक किसी भी प्रकार के कर्मों को नहीं करता और न उसके फल से ही लिप्त होता है ॥ ३१ ॥

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ ३२ ॥

जैसे सर्वगत् व्यापक आकाश सूक्ष्म होने के कारण समस्त वस्तुओं के बाहर-भीतर होने पर भी उन वस्तुओं के धर्म, गुण; दोष; सुगन्धि दुर्गन्धि आदि से लिप्त नहीं होता, वैसे ही यह साक्षी—

'खादप्यतितरां सूक्ष्मम्'[1] [अन्न० उ० ५।६५]

---

१. आकाश से भी अति सूक्ष्मतर।

— 'सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति'[1]

[मु० उ० ३।१।७]

सर्वगत, क्षेत्रज्ञ आत्मा आकाश से भी अतिसूक्ष्म होने के कारण सब शरीरों—क्षेत्रों में बाहर भीतर स्थित होने पर भी उनके पाप पुण्यात्मक कर्मों से लिप्त नहीं होता है ॥ ३२ ॥

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ३३ ॥

जैसे एक ही सूर्य संपूर्ण लोक को अलिप्त भाव से प्रकाशित करता है, वैसे ही एक अद्वितीय असंग क्षेत्री-क्षेत्रज्ञ आत्मा समस्त शरीर अर्थात् ब्रह्मांड को अलिप्त भाव से प्रकाशित करता है। जैसा श्रुति भी कहती है कि—

'सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षु-
र्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
न लिप्यते लोक दुःखेन बाह्यः ॥'

[क० उ० २।२।११]

जैसे समस्त लोकों का चक्षु होने पर भी सूर्य चक्षु संबंधी बाह्य दोषों से लिप्त नहीं होता, वैसे ही समस्त भूतों का एक ही अन्तरात्मा संसार के दुःख से लिप्त नहीं होता; प्रत्युत परमार्थतः उससे बाहर ही रहता है ॥ ३३ ॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ ३४ ॥

इस प्रकार जो मुझसे उपदिष्ट क्षेत्र—प्रकृति और क्षेत्रज्ञ—पुरुष के अन्तर—विलक्षणता को शास्त्र और आचार्यों के उपदेश से जन्य—

'ज्ञाननेत्रं समाधाय स महत्परमं पदम्।
निष्कलं निश्चलं शान्तं ब्रह्माहमिति संस्मरेत् ॥'[2]

[त्रि० ता० उ० ५।२०]

---

१. वह [आत्मतत्त्व] सूक्ष्म से सूक्ष्मतर भासित होता है।

२. ज्ञानदृष्टि से संयत होकर उस महान् परम पद का इस प्रकार अनुभव करे कि यह निष्कल, निश्चल एवं शान्त परब्रह्म मैं ही हूँ।

'सर्वगं सच्चिदात्मानं ज्ञानचक्षुर्निरीक्षते'[1]

[व० उ० २।१८]

विवेक-विज्ञान के द्वारा सम्यग्रूपेण जानते है कि क्षेत्र जड़, दृश्य एवं विकारी है तथा मैं क्षेत्रज्ञ द्रष्टा एक निर्विकार हूँ। तथा जो शुक्ति में रजतवत्; भूत—व्यक्त—कार्य, प्रकृति–अव्यक्त-कारण का सर्वाधिष्ठानस्वरूप आत्मसत्ता में—

'न सत्तन्नासदुच्यते' [गी० १३।१२]

मोक्ष—अभाव देखते हैं अर्थात्—

'एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन'

[अ० उ० ६३]

'स्वपूर्णात्मातिरेकेण जगज्जीवेश्वरादयः।[2]
न सन्ति नास्ति माया च तेभ्यश्चाहं विलक्षणः॥'

[व० उ० २।११, १२]

जो एक अद्वितीय परिपूर्ण स्वात्मा में जगत्, जीव; ईश्वर तथा माया को शुक्ति में रजतवत् एवं रज्जु में सर्पवत् मिथ्या जानते हैं, केवल आत्मसत्ता को ही सर्वत्र सर्वरूपों में देखते हैं, वे—

'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' [तै० उ० २।१]

ब्रह्मवेत्ता परमपद को प्राप्त होते हैं ॥ ३४ ॥

॥ तेरहवाँ अध्याय समाप्त ॥

---

१. ज्ञानचक्षु वाला पुरुष ही सर्वगत् सच्चिदानन्द आत्मा को देखता है।

२. अपने पूर्णस्वरूप आत्मा से अतिरिक्त जगत्, जीव, ईश्वरादि एक भी नहीं हैं तथा माया भी नहीं है, मैं इनसे विलक्षण हूँ।

चौदहवाँ अध्याय

गुणत्रय-विभाग-योग

॥ ॐ ॥

चौदहवाँ अध्याय

पूर्वाध्याय में भगवान् ने कहा कि—

'यावत्संजायते किंचित्सत्त्वम्' [गी० १३।२६]

'क्षेत्रक्षेत्रज्ञ संयोगात्' [गी० १३।२६]

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से समस्त स्थावर-जंगम प्राणियों की सृष्टि होती है तथा—

'पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान्गुणान्' [गी० १३।२१]

पुरुष—क्षेत्रज्ञ प्रकृतिस्थ होकर कर्तृत्व-भोक्तृत्व से युक्त हो गुणों के संग के कारण ही शुभाशुभ योनियों को प्राप्त होता है, स्वरूपतः नहीं। इस अध्याय में भी उसी का विस्तार से विवेचन करने के लिए अर्थात् गुणों से सृष्टि कैसे होती है? गुण जीव के बन्धन के हेतु कैसे होते हैं? उनसे मुक्त पुरुषों के क्या लक्षण हैं? तथा उन गुणों से साधक मुक्त कैसे होते हैं? इन प्रश्नों के निर्णयार्थ परम कारुणिक भगवान् बोले—

श्री भगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥ १ ॥

श्री भगवान् बोले—हे अर्जुन! मैं तुझ अनन्य भक्त के प्रति ज्ञानों में—

'सर्वेषां कैवल्यमुक्तिर्ज्ञानमात्रेणोक्ता।
न कर्म सांख्य योगोपासनादिभिः॥'

[मुक्ति० उ० १।५६]

अर्थात् कर्म, सांख्य, योग, उपासना आदि विषयक ज्ञानों में श्रेष्ठ—उत्तम मोक्ष के साक्षात् साधन रूप ज्ञान को फिर कहूँगा; जिसको जानकर—

'सर्वे मुनयः सिद्धिं गताः' [त्रि० म० उ० ८।१]

'असंख्याता परम योगिनश्च सिद्धिं गताः'
[त्रि० म० उ० ८।१]

सब मननशील मुनिजन इस त्रिगुणात्मक संसार के जन्म-मृत्यु से मुक्त होकर मोक्षरूप परम सिद्धि को प्राप्त हुये ॥ १ ॥

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथयन्ति च ॥ २ ॥

इस उपर्युक्त क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ संबंधी परम पावन ज्ञान का सम्यक् आश्रय लेकर अर्थात् गुणातीतावस्था को प्राप्तकर महात्मा शोक-मोह से मुक्त हो—

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' [तै० उ० २।१]

मुझ सत्य, ज्ञान, अनन्त, निर्गुण, निर्विशेष परब्रह्म के साधर्म्य—अत्यन्ताभेदावस्था को प्राप्त होकर—

'भूयस्ते न निवर्तन्ते परावरविदो जनाः'
[कु० उ० २२]

'ब्रह्म संपद्यते योगी न भूयः संसृतिं व्रजेत्'[1]
[त्रि० ब्रा० उ० १६१]

महासृष्टि—ब्रह्मा के उत्पत्तिकाल में भी उत्पन्न नहीं होते तथा महाप्रलय—ब्रह्मा के विनाश काल में भी व्यथित नहीं होते ॥ २ ॥

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥

हे भारत ! संपूर्ण भूतों की—

'प्रकृतिर्ह्यस्योपादानमाधारः पुरुषः परः'
[श्री० भा० ११।२४।१६]

| योनि—उपादान कारण प्रकृति—

१. वह योगी ब्रह्म को प्राप्त होकर पुनः जन्म-मृत्यु रूप संसृति को नहीं प्राप्त होता ।

'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्'

[श्वे० उ० ४।१०]

जो सब कार्यों की अपेक्षा महद् तथा मुक्त ब्रह्म की उपाधि होने के कारण ब्रह्म कहलाती है, उस महद्ब्रह्म रूप त्रिगुणात्मिका प्रकृति में मैं ईश्वर जगत् के विस्तार के लिये स्वाभास रूप गर्भ को धारण करता हूँ अर्थात्—

'एकोऽहं बहुस्याम' [श्रुति]

मेरे बहुत होने के संकल्प से, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त समस्त स्थावर जंगमात्मक प्राणियों की सृष्टि होती है ॥ ३ ॥

सर्व योनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥

हे कुन्तीपुत्र ! अंडज, पिंडज, स्वेदज तथा उद्भिज—इन चार प्रकार की योनियों में जो जो भी मूर्तियाँ अर्थात् शरीराकार प्राणी उत्पन्न होते हैं—

'समस्त ब्रह्माण्ड समष्टि जननीं वैष्णवीं महामायाम्'[1]

[त्रि० म० उ० ६।१]

उन सब मूर्तियों की योनि महद्ब्रह्म तो गर्भधारण करनेवाली माता है और मैं बीज प्रदान करनेवाला अर्थात् गर्भाधान करनेवाला पिता हूँ। इससे यह सिद्ध होता है कि माता प्रकृति और पिता मुक्त ईश्वर की कृपा से ही जीव मुक्त हो सकता है। जैसा कहा भी गया है कि—

'बुद्धि प्रसादाच्च शिवप्रसादाद् गुरु प्रसादात्पुरुषस्य मुक्तिः'

[स्मृति]

बुद्धि के रूप में परिणत प्रकृति माता की कृपा से तथा शिव एवं गुरु स्वरूप मुक्त ईश्वर के प्रसाद से ही पुरुषों की मुक्ति होती है ॥ ४ ॥

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृति संभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥

हे आजानुबाहो ! सृष्टिकाल में—

---

१. संपूर्ण ब्रह्मांड—समष्टि की जननी विष्णु की महामाया को ।

'तमोरजः सत्त्वमिति प्रकृतेरभवन् गुणाः'[1]

[श्री० भा० ११।२४।५]

सत्त्व, रज और तम—ये त्रिगुण प्रकृति से उत्पन्न होकर इस देह में देहधारी—शरीरी निर्विकार गुणातीत आत्मा को अपने विकारों से आच्छादित करके देहाध्यास के द्वारा बाँधते हैं अर्थात् देह के सुख दुःख से सुखी दुःखी करते हैं ॥ ५ ॥

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥ ६ ॥

हे निष्पाप ! उन गुणों में सत्त्वगुण—

'सत्त्वं भास्वरं विशदं शिवम्'

[श्री० भा० ११।२५।१३]

निर्मल होने के कारण आत्मतत्त्व का प्रकाशक तथा अनामय निरुपद्रव एवं शान्त है । अतः शान्त होने के कारण अपने कार्य—

'सुखेन युज्येत् धर्मज्ञानादिभिः पुमान्'

[श्री० भा० ११।२५।१३]

सुख के संग से बाँधता है, तथा स्वच्छ और प्रकाशक होने के कारण अपने कार्य धर्म और ज्ञान के द्वारा बाँधता है अर्थात् 'मैं सुखी हूँ' 'मैं धर्मी हूँ' इस अनात्म मनोधर्म के द्वारा बाँधता है । ऐसा ही श्रीमद्भागवत में भी कहा गया है—

'शमो दमस्तितिक्षेक्षा तपः सत्यं दया स्मृतिः ।
तुष्टिस्त्यागोऽस्पृहा श्रद्धा ह्रीर्दयादिः स्वनिर्वृतिः ॥'

[श्री० भा० ११।२५।२]

शम, दम, तितिक्षा, विवेक, तप, सत्य, दया, स्मृति, संतोष, त्याग, अस्पृहा, श्रद्धा, लज्जा, आत्मप्रीति और दान आदि—ये सब सत्त्वगुण की वृत्तियाँ हैं ॥ ६ ॥

---

१. प्रकृति से सत्त्व, रज एवं तम—ये गुण उत्पन्न हुए ।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्ग समुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥ ७॥

हे कुन्ती पुत्र ! तू रजोगुण को रागात्मक—स्पृहायुक्त जान; क्योंकि यह तृष्णा और संग—आसक्ति से उत्पन्न हुआ है, इसलिये यह देहधारी आत्मा को इस लोक और परलोक के भोगों में आसक्त करके—

'कर्मणा बध्यते जन्तुः' [सं० उ० २।६८]

कर्मासक्ति के द्वारा बाँधता है अर्थात् विवेकियों को भी बहिर्मुख बनाकर कर्मासक्त कर देता है। जैसा श्रीमद्भागवत में भी कहा गया है—

'काम ईहा मदस्तृष्णा स्तम्भ आशीर्भिदा सुखम्।
मदोत्साहो यशः प्रीतिर्हास्यं वीर्यं बलोद्यमः ॥'
[श्री० भा० ११।२५।३]

इच्छा, प्रयत्न, घमंड, तृष्णा; ऐंठ, स्तब्धता, याचना, भेदबुद्धि, विषय सुख, यश से प्रीति, हास्य, पराक्रम और बलपूर्वक उद्योग करना आदि—ये सब रजोगुण की वृत्तियाँ हैं ॥ ७ ॥

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वं देहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥

हे भारत ! तू—

'तमो मूढं लयं जडम्' [श्री० भा० ११।२५।१५]

सब प्राणियों को मोहित करनेवाले अर्थात् विवेक बुद्धि के नाशक इस तमोगुण को अज्ञान से उत्पन्न हुआ जान। यह जीवात्मा को प्रमाद, आलस्य और निद्रा के द्वारा बाँधता है। जैसा श्री मद्भागवत में भी कहा गया है—

'क्रोधो लोभोऽनृतं हिंसा याञ्चा दम्भः क्लमः कलिः।
शोकमोहौ विषादार्तौ निद्राऽऽशा भीरनुद्यमः ॥'
[श्री० भा० ११।२५।४]

क्रोध, लोभ, मिथ्याभाषण, हिंसा, याचना, पाखंड, श्रम, कलह, शोक, मोह, विषाद, दीनता, निद्रा, आशा, भय और अनुद्यमशीलता आदि—ये सब तमोगुण की वृत्तियाँ हैं ॥ ८ ॥

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥ ९ ॥

हे भारत ! सत्त्वगुण—

'सुखेन युज्येत' [श्री० भा० ११।२५।१३]

सुख में जोड़ता है और रजोगुण—

'युज्येत कर्मणा' [श्री० भा० ११।२५।१४]

'कर्मेच्छा रजोगुणात्' [ब्र० वै० पु०]

कर्म में जोड़ता है। तथा तमोगुण ज्ञान को आच्छादित करके प्रमाद, आलस्य और निद्रा में लगाता है। अथवा—

'तमोगुणाज्जीव हिंसा कोपोऽहंकार एव च'
[ब्र० वै० पु०]

तमोगुण से जीव हिंसा, कोप और अहंकार होता है ॥ ९ ॥

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ १० ॥

हे भारत ! रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सत्त्वगुण प्रबल होकर अपना व्यापार करता है और रजोगुण तथा सत्त्वगुण को दबाकर तमोगुण अपना व्यापार करता है तथा तमोगुण और सत्त्वगुण को दबाकर रजोगुण अपना व्यापार करता है ॥ १० ॥

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ ११ ॥

जब—

'यदा चित्तं प्रसीदेत इन्द्रियाणां च निर्वृतिः।
देहेऽभयं मनोऽसङ्गं तत् सत्त्वं विद्धि मत्पदम् ॥'
[श्री० भा० ११।२५।१६]

इस भोगायतन शरीर के श्रोत्रादि द्वारों—इन्द्रियों में प्रकाश—ज्ञान उत्पन्न हो अर्थात् जब चित्त प्रसन्न, शुद्ध, विषयों के सम्पर्क से रहित हो, इन्द्रियाँ

शान्त हों; देह निर्भय हो तथा मन वैराग्ययुक्त—रागरहित हो, उस समय सत्त्वगुण की वृद्धि समझनी चाहिए, जो मुझ परमात्मा की प्राप्ति का साधन है ॥ ११ ॥

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! लोभ—वित्तैषणा, पुत्रैषणा एवं लोकैषणा की प्रबल इच्छा प्रवृत्ति—न करने योग्य कर्मों में भी प्रवृत्त होना, कर्मारम्भ—लौकिक-वैदिक सकाम कर्मों को करना; अशम—काम, संकल्पादि के कारण मन का अशान्त होना, स्पृहा—वस्तुओं के प्रति राग—आसक्ति—ये सब लक्षण रजोगुण के बढ़ने पर उत्पन्न होते हैं। जैसा कि श्रीमद्भागवत में भी कहा गया है—

'विकुर्वन् क्रियया चाधीरनिर्वृत्तिश्च चेतसाम्।
गात्रास्वास्थ्यं मनो भ्रान्तं रज एतैर्निशामय ॥'
[श्री० भा० ११।२५।१७]

जब कर्म करते हुए बुद्धि अधीर, ज्ञानेन्द्रियाँ अतृप्त, कर्मेन्द्रियाँ विकृत, शरीर अस्वस्थ एवं मन भ्रान्त हो जाय; तब रजोगुण को बढ़ा हुआ समझना चाहिए ॥ १२ ॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ १३ ॥

हे कुरुनन्दन ! अप्रकाश—विवेक बुद्धि का लुप्त होना, अप्रवृत्ति—स्तब्धता कर्मों में प्रवृत्त न होना; प्रमाद-प्राप्त कर्मों को न करना अर्थात् कर्मों में असावधानी का होना; जी का न लगना; मोह—मूढ़ता, मिथ्या अभिनिवेश—ये सब लक्षण तमोगुण के बढ़ने पर उत्पन्न होते हैं। ऐसे ही श्री मद्भागवत में भी कहा गया है—

'सीदच्चित्तं विलीयेत चेतसो ग्रहणेऽक्षमम्।
मनो नष्टं तमो ग्लानिस्तमस्तदुपधारय ॥'
[श्री० भा० ११।२५।१८]

"जब चित्त इन्द्रियों से विषयों को ग्रहण करने में असमर्थ हो जाय और खिन्न होकर विलीन होने लगे, मन नष्ट सा हो जाय तथा अज्ञान और ग्लानि की वृद्धि हो; तब तमोगुण को बढ़ा हुआ समझना चाहिये।"—

'यदा जयेद् रजः सत्त्वं तमो मूढं लयं जडम्।
युज्येत शोकमोहाभ्यां निद्रयाहिंसयाऽऽशया॥'
[श्री० भा० ११।२५।१५]

जब मोह, लय और जड़ता के स्वभाववाला तमोगुण, रजोगुण और सत्त्वगुण को जीत लेता है, तब जीव शोक; मोह, निद्रा, हिंसा और आशा से युक्त हो जाता है ॥ १३ ॥

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥

जब यह देहधारी—देहाभिमानी जीवात्मा—

'सत्त्वे प्रलीनाः स्वर्यान्ति' [श्री० भा० ११।२५।२२]

सत्त्वगुण की वृद्धि में मृत्यु को प्राप्त होता है, तब तत्त्वज्ञों के मलरहित स्वर्गादि उत्तम लोकों को प्राप्त होता है ॥१४॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥१५॥

और जब—

'नरलोकं रजोलयाः'
[श्री० भा० ११।२५।२२]

रजोगुण की वृद्धि के समय मृत्यु को प्राप्त होता है, तो कर्मों में आसक्त मनुष्यों की योनि में उत्पन्न होता है तथा जब तमोगुण की वृद्धि में मृत्यु को प्राप्त होता है, तब मूढयोनियों में अर्थात् पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि योनियों में उत्पन्न होता है।

अथवा—

'तमोलयास्तु निरयं यान्ति'
[श्री० भा० ११।२५।२२]

नरक को प्राप्त होता है ॥१५॥

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥१६॥

ऋषियों ने ईश्वरार्पण बुद्धि से अनुष्ठित सात्त्विक कर्म का फल सात्त्विक और निर्मल कहा है अर्थात् सुख और ज्ञान बतलाया है; तथा राजस कर्म का फल बार-बार जन्म-मृत्यु रूप दुःख बतलाया है; तथा तामस कर्म का फल अज्ञान बतलाया है ॥१६॥

> सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
> प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥१७॥

इस प्रकार सत्त्वगुण की वृद्धि से ज्ञान उत्पन्न होता है और रजोगुण की वृद्धि से लोभ उत्पन्न होता है और तमोगुण की वृद्धि से प्रमाद, मोह एवं अज्ञान उत्पन्न होता है ॥१७॥

> ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
> जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥१८॥

सत्त्वगुण—

> 'सत्त्वसङ्गादृषीन् देवान् रजसासुरमानुषान्' ।
> तमसा भूततिर्यक्त्वं भ्रामितो याति कर्मभिः ॥
> [श्री० भा० ११।२२।५१]

में स्थित सात्त्विक पुरुष ऊर्ध्व अर्थात् श्रेष्ठ देवलोकादि उच्च लोकों को प्राप्त करते हैं और रजोगुण में स्थित राजस पुरुष मध्य अर्थात् मनुष्य लोक को प्राप्त होते हैं; तथा जघन्य—निकृष्ट तमोगुण में स्थित तमोगुणी पुरुष नीच पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि योनियों को प्राप्त होकर बार-बार जन्मते और मरते रहते हैं ॥१८॥

> नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
> गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥१६॥

जिस काल में द्रष्टा—साक्षी पुरुष—

---

१. अपने कर्मों के अनुसार भ्रमता हुआ जीव सत्त्वगुण के संग से ऋषियों और देवों के लोक में, रजोगुण के संग से असुरों और मनुष्यों की योनि में तथा तमोगुण के संग से भूत, प्रेत एवं पशु, पक्षी आदि योनियों में जाता है ।

'ज्ञात्वा तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते'' [ना० प० उ० ६।१]

जन्म-मृत्यु और जरा आदि दुःखों से मुक्त होकर—

'विद्वानमृत इह भवति'[२] [नृ० पू० उ० १।६]

अमृतस्वरूप आत्मतत्व को प्राप्त होता है ॥ २० ॥

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥ २१ ॥

अर्जुन बोला—हे प्रभो! इन तीनों से अतीत—पार हुआ गुणातीत पुरुष किन-किन लक्षणों से युक्त होता है? और वह कैसे आचरणवाला होता है? तथा मनुष्य किस प्रकार इन तीनों गुणों का अतिक्रमण कर सकता है? ॥ २१ ॥

श्री भगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥२२॥

गुणातीत पुरुष सत्त्वगुण के कार्य प्रकाश, रजोगुण के कार्य प्रवृत्ति तथा तमोगुण के कार्य मोह के प्रवृत्त—प्राप्त होने पर दुःखबुद्धि से द्वेष नहीं करता और न सुख बुद्धि से उनकी निवृत्ति की इच्छा ही करता है; क्योंकि—

'विक्षेपो वा समाधिर्वा मनसः स्याद्विकारिणः'

[अव० उ० २१]

विक्षेप और समाधि मन के ही धर्म हैं, निर्विकार आत्मा के नहीं। इसलिये गुणातीत पुरुष इन्द्रियों के समाहित तथा विक्षिप्त होने पर राग द्वेष को प्राप्त नहीं होता; किन्तु—

'साक्षीचेता केवलो निर्गुणश्च' [श्वे० उ० ६।११]

---

१. उस परमात्मतत्व को जानकर जीव मृत्यु के मुख से मुक्त हो जाता है।

२. विद्वान् यहीं जीते जी अमर हो जाता है।

'न साक्षिणं साक्ष्यधर्माः संस्पृशन्ति विलक्षणम् ।[1]
अविकारमुदासीनं गृहधर्माः प्रदीपवत् ॥'
[कु० उ० २२]

'सूर्यवत् अथवा दीपकवत् इनको प्रकाशित करता हुआ अपने साक्षित्व, निर्विकारत्व एवं उदासीनत्व में शान्त रूप से स्थित रहता है। इस प्रकार इस पद से गुणातीत महात्मा का स्वसंवेद्य लक्षण कहा गया ॥ २२ ॥

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥ २३ ॥

जो—

'स्वमसङ्गमुदासीनं परिज्ञाय नभो यथा'
[अ० उ० ५१]

सदैव अपने स्वरूप में आकाशवत् असंग, उदासीन एवं साक्षी रूप से स्थित रहने के कारण यह अनुभव करता है कि—

'इन्द्रियैरिन्द्रियार्थेषु गुणैरपि गुणेषु च'
[भा० मा० ११।११।६]

केवल सत्त्वादि गुण ही अपने अपने कार्य राग द्वेष के द्वारा अपने गुणों में बर्तते हैं, मुझ—

'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' [श्वे० उ० ६।१६]

'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' [बृ० उ० ४।३।१५]

निष्कल, निष्क्रिय, शान्त, असंग एवं गुणातीत आत्मा का इनसे कोई भी प्रयोजन नहीं। इस प्रकार जो—

'शुद्धसन्मात्र संवित्तेः स्वरूपान्न चलन्ति ये[2]'
[म० उ० ५।३]

---

१. जैसे दीपक गृह के धर्म से लिप्त नहीं होता वैसे ही निर्विकार उदासीन, विलक्षण साक्षी साक्ष्य अनात्मबुद्धि आदि के धर्म से लिप्तायमान नहीं होता।

२. शुद्ध सन्मात्र संवित् आत्मा के स्वरूप से जो विचलित नहीं होते।

आत्मा के अपरोक्षानुभव से युक्त होने के कारण अपने स्वरूप से कभी कम्पित नहीं होता; उसको गुणातीत कहते हैं ॥ २३ ॥

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्य निन्दात्म संस्तुतिः ॥ २४ ॥

जो—

'रागद्वेषवियुक्तात्मा समलोष्टाश्मकाञ्चनः'
[ना० प० उ० ३।३४]

राग-द्वेष से मुक्त समदर्शी जीवन्मुक्त पुरुष—

जीवन्मुक्ता न मज्जन्ति सुखदुःखरसस्थितेः'
[म० उ० ५।३७]

सुख-दुःख में सम रहता है; तथा जो द्वैतामाव देखने के कारण स्वस्थ, सर्वदा केवल अपने स्वरूप में ही स्थित रहता है; तथा सर्वत्र सर्वात्मदर्शन के कारण मिट्टी, पत्थर और स्वर्ण में समदृष्टि वाला है; तथा—

'प्रियाप्रिये न स्पृशतः'[1] [श्रा० उ० १५]

'दृष्ट्वा रम्यमरम्यं वा स्थेयं वा पाषाणवत्सदा'
[अ० उ० ५।११८]

'उद्वेगानन्द रहितः समया स्वच्छया धिया'
[म० उ० २।५७]

जो प्रिय—इष्ट, अप्रिय—अनिष्ट में सदैव पाषाणवत्, उद्वेग—आनन्द से रहित, सम, शान्त रहता है; तथा जो धीर निर्विषयी पुरुष—

'स्तूयमानो न तुष्येत निन्दितो न शपेत्परान्'[2]
[कु० उ० १२]

निन्दा-स्तुति में सम रहता है, उसे गुणातीत कहते हैं ॥ २४ ॥

---

१. ब्रह्मवित् को प्रिय और अप्रिय स्पर्श नहीं करते ।
२. स्तुति होने पर जो तुष्ट नहीं होता और निन्दित होने पर दूसरों को शाप नहीं देता ।

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ २५ ॥

जो जीवन्मुक्त सर्वात्मदर्शन के कारण—

साधुभिः पूज्यमानेऽस्मिन्पीड्यमानेऽपि दुर्जनैः ।
समभावो भवेद्यस्य स जीवन्मुक्त इष्यते ॥'

[श्र० उ० ४७]

साधु पुरुषों से पूजित—मान के प्राप्त होने पर तथा दुष्टों से तिरस्कृत—अपमानित होने पर हर्ष-विषाद से शून्य सदैव सम रहता है; तथा जो—

'शत्रुमित्रसमानदृक्' [म० उ० ६।६४]

शत्रु-मित्र में निग्रह—अनुग्रह से रहित सम शान्त रहता है; तथा जो—

'आप्तकामस्य का स्पृहा' [माण्डू० का० १।६]

'नित्यतृप्तो निराश्रयः' [अन्न० उ० ५।६७]

आप्तकाम पुरुष परमात्मा में नित्य तृप्त एवं निरपेक्ष होने के कारण देहयात्रा के अतिरिक्त—

'सर्वकर्मपरित्यागी' [अन्न० उ० ५।६७]

दृष्ट-अदृष्ट फल के जनक सम्पूर्ण लौकिक अथवा वैदिक कर्मों का त्यागी है, उसे गुणातीत कहते हैं। इस प्रकार भगवान् ने 'उदासीनवत्' से लेकर इस पद तक गुणातीत पुरुष के परसंवेद्य आचरण को बतलाया ॥ २५ ॥

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २६ ॥

जो मुझ सर्वभूतान्तर्यामी परमानन्दघन वासुदेव को द्वादश अध्याय में कथित अव्यभिचारी—प्रेम लक्षणा ऐकान्तिक भक्तियोग के द्वारा उत्कण्ठित हृदय से मेरे संयोग—वियोग से सुखी-दुःखी होता हुआ, आसक्तचित्त होकर तैलधारावत् अविच्छिन्नरूप से सर्वदा सेवन—भजन करता है, वह इन सत्त्वादि गुणों का अतिक्रमण करके ब्रह्मभाव को प्राप्त होने के योग्य होता है अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होता है।

ऐसे ही भगवान् कपिल ने भी कहा है—

'मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे।'
[श्री० भा० ३।२९।११,१२]

'स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः।
येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते॥'
[श्री० भा० ३।२९।१४]

जैसे गंगा का प्रवाह अविच्छिन्नरूप से समुद्र की ओर बहता रहता है, वैसे ही मेरे गुण के श्रवणमात्र से मुझ सर्वान्तर्यामी में मन की गति का तैलधारावत् अविच्छिन्नरूप से हो जाना तथा मुझ पुरुषोत्तम में अहैतुकी अव्यभिचारिणी अनन्य प्रीति का होना ही निर्गुण भक्ति योग का लक्षण कहा गया है। वह अनन्य भक्तियोग ही आत्यन्तिक साध्य—परम निःश्रेयस कहा गया है, इसके द्वारा भक्त तीनों गुणों का अतिक्रमण करके मेरे भाव—ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है॥ २६॥

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥ २७॥

क्योंकि मैं निर्गुण निरुपाधिक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही सोपाधिक अमृतस्वरूप-अविनाशी, अव्यय—निर्विकार ब्रह्म की प्रतिष्ठा हूँ, तथा उसके साधन शाश्वत—सनातन धर्म की भी प्रतिष्ठा-आश्रय हूँ और ऐकान्तिक—अखंडित सुख-भूमानन्द का भी मैं परमानन्दस्वरूप परमात्मा ही प्रतिष्ठा-आश्रय हूँ। इसी प्रकार ब्रह्माजी ने भी कहा है—

'एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः[1]
सत्यः स्वयं ज्योतिरनन्त आद्यः।

१. आप एक सर्वात्मा, सनातन पुरुष, सत्य, स्वयं प्रकाश, अनन्त, सबके आदि मूल कारण, नित्य, अक्षर, अखंडानन्दस्वरूप कल्मष-रहित—शुद्ध, पूर्ण, अद्वितीय, संपूर्ण उपाधियों से मुक्त एवं अमृतस्वरूप हैं।

नित्योऽक्षरोऽजस्रसुखो निरञ्जनः
पूर्णोऽद्वयो मुक्त उपाधितोऽमृतः ॥' -
[श्री० भा० १०।१४।२३]

'अमृतवपुः' [स्मृति]

'सर्वेषामपि वस्तूनां भावार्थो भवति स्थितः ।[1]
तस्यापि भगवान्कृष्णः किमतद्वस्तु रूप्यताम् ॥'
[श्री० भा० १०।१४।५७]

सब वस्तुओं के कारण के भी परमकारण हैं आनन्दकन्द सच्चिदानंद भगवान् श्री कृष्णचन्द्र। इसलिये उनसे भिन्न अणुमात्र भी नहीं है। जैसा कि भगवान् ने स्वयं कहा है—

'मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति' [गी० ७।७]

इसलिए गुणों के प्रवाह से मुक्त होने के लिए भक्तों को भक्तिभाव-समन्वित होकर अनन्ययोग से उस सच्चिदानन्दघन मूर्ति परम प्रियतम श्री कृष्णचंद की प्रेमाभक्ति से उपासना करनी चाहिए ॥ २७ ॥

॥ चौदहवाँ अध्याय समाप्त ॥

---

१. समस्त वस्तुओं का भावार्थ—परमार्थरूप अपने कारण में स्थित होता है, उसके भी परमकारण हैं भगवान् श्री कृष्ण: तो फिर उनसे भिन्न किस वस्तु को बताया जाय।

पन्द्रहवाँ अध्याय

पुरुषोत्तमयोग

॥ ॐ ॥

पन्द्रहवाँ अध्याय

आनन्दकन्द सच्चिदानन्दघन वासुदेव ने पूर्वाध्याय के अंत में कहा कि–

'मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते'

[गी० १४।२६]

जो अव्यभिचारी ऐकान्तिक भक्तियोग के द्वारा मेरा भजन करता है, वह मेरी कृपा से गुणों का अतिक्रमण करके ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है। परन्तु यह ब्राह्मी अवस्था बिना वैराग्य के प्राप्त होनी असंभव है। इसलिये भगवान् गीता के सर्वश्रेष्ठ अध्याय में वैराग्य की उत्पत्ति के लिए वृक्ष का रूपक देकर संसार के स्वरूप का वर्णन करते हुए बोले।

श्री भगवानुवाच

ऊर्ध्वं मूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥ १॥

भक्तवत्सल भगवान् ने कहा कि हे अर्जुन! इस संसार-वृक्ष का मूल-कारण क्षर-अक्षर से उत्कृष्ट, अतिसूक्ष्म, नित्य, निर्विकार सर्वाधिष्ठानस्वरूप–

'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' [त्रि० म० उ० ३।१]

एक अद्वितीय ब्रह्म है। जैसा कि श्रुति भी कहती है–

'ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः'

[क० उ० २।३।१]

'जिसका मूल ऊपर की ओर और शाखायें नीचे की ओर है ऐसा यह अश्वत्थ वृक्ष सनातन है।'

ऐसे ही पुराण में भी कहा गया है–

'अव्यक्त मूल प्रभवस्तस्यै वानुग्रहोत्थितः।
बुद्धिस्कन्धमयश्चैव इन्द्रियान्तरकोटरः॥

महाभूतविशाखश्च विषयैः पत्रवांस्तथा।
धर्माधर्मसुपुष्पश्च सुखदुःखफलोदयः॥
आजीव्यः सर्वभूतानां ब्रह्मवृक्षः सनातनः।
एतद्ब्रह्मवनं चैव ब्रह्माचरति नित्यशः॥
एतच्छित्त्वा च भित्त्वा च ज्ञानेन परमासिना॥
ततश्चात्मरतिं प्राप्य तस्मान्नावर्तते पुनः॥'

[पुराण]

'अव्यक्त रूप मूल से उत्पन्न हुआ, उसी के अनुग्रह से बढ़ा हुआ, बुद्धि रूप प्रधान शाखा से युक्त, बीच बीच में इन्द्रिय रूप कोटरोंवाला महाभूत रूप शाखा-प्रतिशाखाओं वाला, विषयरूप पत्तोंवाला, धर्म और अधर्म रूप सुन्दर पुष्पोंवाला तथा जिसमें सुख दुःख रूप फल लगे हुए हैं, ऐसा यह भूतों का आजीव्य सनातन ब्रह्मवृक्ष है। यही ब्रह्मवन है, इसमें ब्रह्म सदा रहता है। ऐसे इसी ब्रह्मवृक्ष का ज्ञानरूप श्रेष्ठ खड्ग द्वारा छेदन-भेदन करके और आत्मा में प्रीति लाभ करके फिर वहाँ से नहीं लौटता।' तथा ब्रह्मा उससे निकृष्ट, अर्वाचीन होने के कारण शाखा है अर्थात् जिस प्रकार शाखाओं से वृक्ष का विस्तार होता है, वैसे ही—

'ब्रह्मणा तन्यते विश्वं मनसैव स्वयंभुवा'

[म० उ० ४।५०]

ब्रह्मा के मानसिक संकल्प से इस संसार रूपी वृक्ष की अण्डज, पिण्डज स्वेदज और उद्भिज रूपी डालियाँ सर्वत्र फैली हुई हैं। तथा यह संसार-वृक्ष—

'प्रलयादिकं श्रूयमाणत्वादनित्यत्वं वदन्त्यन्ये'[1]

[त्रि० म० उ० ३११]

सृष्टि और प्रलयादि से युक्त होने के कारण कल तक भी न टिकने वाला, क्षणभंगुर, अनित्य, मृगजलवत् तथा गन्धर्वनगरवत् मिथ्या है;

'प्रतिभासत एवेदं न जगत्परमार्थतः'

[म० उ० ५।१०८]

---

१. इस संसार का शास्त्रों में प्रलयादि का वर्णन सुनने से कुछ लोग इसको अनित्य कहते हैं।

केवल इसकी प्रतीतिमात्र है, परमार्थतः है नहीं।

'प्रवाहतो नित्यत्वं वदन्ति केचन'[1]

[श्रि० म० उ० ३।१]

'एष संसारतरुः पुराणः'[2]

[श्री० भा० ११।१२।२१]

परन्तु यह अनादिकाल से नदी के प्रवाहवत् अविच्छिन्न रूप से चला आ रहा है, इसलिये इसको कोई अव्यय कहते हैं। अथवा जैसे लट्टू अति वेग से घूमने के कारण अपने स्थान पर स्थिर सा प्रतीत होता है, वैसे ही यह संसार भी अतिवेग से घूमने-परिवर्तित होने के कारण स्थूल बुद्धि से अपने स्थान पर स्थिर सा प्रतीत होता है, इसलिये भी इसे अव्यय कहते हैं। तथा वेद ही जिसके पत्ते हैं अर्थात् जैसे पत्तों से ही वृक्ष की रक्षा तथा शोभा होती है, वैसे ही ऋक्सामादि वेदरूप पत्ते श्रौत स्मार्त आदि वैदिक कर्मों के द्वारा इस संसार वृक्ष की रक्षा और वृद्धि करते हैं तथा उसकी शोभा को भी बढ़ाने वाले हैं।

ऐसे ही मनु जी ने भी कहा है:—

'चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति॥
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः।
वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिगुण कर्मतः॥
बिभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम्।'

[म० स्मृ० १२।९७-९९]

चारो वर्ण, तीनों लोक, चारो आश्रम और भूत, वर्तमान एवं भविष्य ये सब वेद से ही सिद्ध होते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और पाँचवाँ गन्ध ये सब प्रसूतिगुण कर्मानुसार वेद से ही उत्पन्न होते हैं। सनातन वेद-शास्त्र ही सम्पूर्ण भूतप्राणियों का भरण-पोषण करता है।' इस प्रकार जो वेदों के द्वारा इस संसार वृक्ष के मूल सर्वाधिष्ठान स्वरूप उत्कृष्ट परमात्मतत्त्व को नित्य-निर्विकार एवं—

१. कुछ लोग प्रवाह रूप से चले आने के कारण नित्य कहते हैं।
२. यह संसार वृक्ष अनादि है।

'ब्रह्मादि स्तम्बपर्यन्तं मृषामात्रा उपाधयः'

[अ० उ० १६]

'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनः' [गी० ८।१६]

ब्रह्मादि समस्त लोक लोकान्तर को—

'मायामयं वेद स वेदवेदम्'[1]

[श्री० भा० ११।१२।२३]

मायामय—मिथ्या, क्षणभंगुर और बन्धन का हेतु समझकर विवेक, वैराग्यादि साधन चतुष्टय-सम्पन्न होकर सम्पूर्ण कल्पित धर्मों की उपेक्षा करके केवल एक परमात्मा के ही शरणागत होकर अनन्य भक्ति से नित्य निरन्तर भगवद्भजन करता है, वस्तुतः वही वेदवेत्ता वही सर्वज्ञ और वही पण्डित है ।

अथवा जो—

'कार्यं कारणमात्रमेव'

कार्य कारण रूप ही होता है' इस नियमानुसार कार्य-कारण में अभेद देखने के कारण—

'सर्वं लोकं च निर्माणं रचना महान् च निर्मायकम्'

[तै० वि० उ० २।२६]

सब लोक तथा रचना, महान् को निर्माय जानता है, वही वेदवेत्ता है; क्योंकि—

'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' [क० उ० १।२।१५]

सारे वेदों का अर्थ परमात्मा ही है । इसलिये जो वेदों के मूल परमात्मा को जानता है, वही वेदवेत्ता, सर्वज्ञ है, अन्य नहीं ॥ १ ॥

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुण प्रवृद्धा विषय प्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥

---

१. जो नाम रूपात्मक विश्वप्रपञ्च को मायामय जानता है, वही वेदवेत्ता है ।

इस संसार रूपी वृक्ष की शाखायें सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों से बढ़ी हुई तथा रूप, रस, गन्ध, शब्दादि विषयरूपी कोंपलों के द्वारा अपने कर्मानुसार—

'ऊर्ध्वं सात्विकीमध्येराजसोऽधस्तामस इति'

[शारी० उ० ५]

देव, मनुष्य और तिर्यगादि योनियों के रूप में नीचे, ऊपर सर्वत्र फैली हुई हैं। इस प्रकार पूर्वकथित मुख्य मूलकारण परमात्मा से भिन्न इस संसार-वृक्ष की काम एवं कर्म की उत्पत्ति की अवान्तर कारणभूता बाँधनेवाली अहंता-ममता एवं वासनारूपी मूलें—जड़ें देवादि लोकों की अपेक्षा नीचे मनुष्य लोक में भी सर्वत्र फैली हुई हैं। तात्पर्य यह है कि मनुष्य लोक में ही कर्माधिकार है। इसलिये जैसा जो कर्म करता है उसके अनुसार ही वह नीची-ऊँची योनियों को प्राप्त होता है॥ २॥

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्वा॥ ३॥

अर्जुन! इस संसार वृक्ष का जैसा स्वरूप वर्णन किया गया है, वस्तुतः विचारकाल में वैसा उपलब्ध नहीं होता; क्योंकि यह—

'यथागन्धर्वनगरं यथा वारि मरुस्थले'

[अद्य० उ० १।२०]

'असद्रूपो यथा स्वप्न' [यो० शि० उ० ४।१०]

गन्धर्व नगरवत्, मृगजलवत् एवं स्वप्नवत् मिथ्या है।

'इदं प्रपञ्चं नास्त्येव नोत्पन्नं नोस्थितं क्वचित्'

[ते० बि० उ० ५।३१]

वस्तुतः इस प्रपञ्च की त्रिकाल में भी सत्ता नहीं है—

'प्रतिभासत एवेदं न जगत्परमार्थतः'

[म० उ० ५।१०८]

केवल अज्ञान से ही इसकी प्रतीति हो रही है, परमार्थतः है नहीं।

तथा जैसे वन्ध्या के पुत्र का न आदि—जन्म है और न अन्त—मृत्यु ही; तथा जैसे मृगजल के स्रोत का न आदि है और न अन्त ही, वैसे ही—

'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्'

[छा० उ० ६।१।४]

वाचारम्भणमात्र इस मिथ्या संसार का न आदि है और न अन्त; केवल बीच में ही मोह से इसकी मरुमरीचिकावत् प्रतीति हो रही है, जो कि नितान्त मिथ्या है; क्योंकि—

'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा'

[माण्डू० का० २।६]

जिसका आदि-अन्त नहीं होता, उसका मध्य भी नहीं होता। जैसे स्वर्ण में कुण्डल बनने के पूर्व कुण्डल का कोई रूप नहीं था और न नष्ट होने के पश्चात् ही कोई रूप रहता है, वैसे ही मध्य में अर्थात् कुण्डल की प्रतीति काल में भी कुण्डल नाम की कोई वस्तु नहीं है; क्योंकि यदि कुण्डल से स्वर्ण निकाल लिया जाय तो कुण्डल की सत्ता समाप्त हो जायेगी, केवल सत् स्वर्ण ही अपने स्वरूप में स्थित रहेगा। इससे सिद्ध हुआ कि—

'यस्तु यस्यादिरन्तश्च स वै मध्यं च तस्य सन्'

[श्री० भा० ११।२४।१७]

जो जिसके आदि-अन्त में होता है, वही मध्य में भी होता है और वही सत्य है, वैसे ही सत् परमात्मा रूपी स्वर्ण में इस संसार रूपी कुण्डल का न आदि है, न अन्त और न मध्य ही है।

'एक मेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन'

[अ० उ० ६३]

केवल एक, अद्वितीय अधिष्ठानस्वरूप ब्रह्मसत्ता ही अपने स्वरूप में ज्यों की त्यों स्थित है; परन्तु जो भ्रान्त और अशान्त पुरुष हैं, वे *इस मिथ्या* संसार को सत्य मानकर बार-बार जन्म-मृत्यु को प्राप्त होते रहते हैं। इसलिये तुम—

'प्रत्यक्षेणानुमानेन निगमेनात्मसंविदा[1] ।
आद्यन्तवदसज्ज्ञात्वा निःसङ्गो विचरेदिह ॥'
[श्री० भा० ११।२८।६]

प्रत्यक्ष, अनुमान, शास्त्र एवं स्वानुभूति आदि सभी प्रमाणों से इस संसार को विनाशशील असत् एवं बन्धन का हेतु समझकर—

'निर्वेद आशापाशानां पुरुषस्य यथा ह्यसिः[2]'
[श्री० भा० ११।८।२८]

राग-द्वेष तथा अहंता-ममता से सुष्ठ सुदृढ़ मूलवाले इस अश्वत्थ संसार-वृक्ष को असंग शस्त्र—वैराग्य अथवा विवेकरूपी तलवार के द्वारा काटकर अर्थात् विवेक, वैराग्यादि साधनचतुष्टय से सम्पन्न हो—

'पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च[3]
व्युत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्ति'
[बृ० उ० ४।४।२२]

पुत्रैषणा, वित्तैषणा तथा लोकैषणा से सर्वथा उपरत हो, सर्वकर्मों के संन्यास के द्वारा केवल परमात्मतत्त्व का सच्चा जिज्ञासु बनकर ॥ ३ ॥

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥

उसके पश्चात् गुरु के शरणापन्न होकर वेदान्त-वाक्य-विचार के द्वारा—

---

१. प्रत्यक्ष, अनुमान, शास्त्र एवं स्वानुभूति—इन सभी प्रमाणों से जगत् को आदि अन्तवान् और असत् जानकर असंग हो इस संसार में विचरे।

२. पुरुष के आशारूप पाशों को काटने के लिये वैराग्य तलवार के समान है।

३. वे आत्मज्ञानी पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा से व्युत्थान कर पुनः भिक्षाचर्या करते थे।

'सोऽन्वेष्टव्यः स हि विजिज्ञासितव्यः'

[छा० उ० ८।७।१]

उस परम वैष्णव पद को खोजना—जानना चाहिये, जिस निर्गुण निर्विशेष पद में गये—प्रविष्ट हुए—

'न चास्ति पुनरावृत्तिरस्मिन्संसार मण्डले'

[यो० शि० उ० ५।६१]

इस *संसार-मंडल* में फिर पुनरावर्तन को नहीं प्राप्त होते अर्थात् मुक्त हो जाते हैं। उस पद को कैसे खोजना चाहिए ? इस पर कहते हैं कि—

'तं ह देवात्मबुद्धि प्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये'[1]

[श्वे० उ० ६।१८]

मुमुक्षु को परमकारुणिक भक्तवत्सल आत्मबुद्धि के प्रकाशक उस आदि पुरुष परमात्मा के शरणापन्न होकर खोजना चाहिए। जिस—

'अधिष्ठानं समस्तस्य जगतः सत्यचिद्घनम्'

[अन्न० उ० ४।३५]

सर्वाधिष्ठानस्वरूप सद्घन, चिद्घन, आनन्दघन परमात्मसत्ता से यह अनादि संसार वृक्ष विस्तार—सृष्टि को प्राप्त हुआ है ॥ ४ ॥

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ५ ॥

जो मान, अहंकार, मोह—अविवेक को बन्धन का हेतु तथा—

'अहंकार ग्रहान्मुक्तः स्वरूपमुपपद्यते'

[अ० उ० ११]

'अहंभावोदयाभावो बोधस्य परमावधिः'

[अ० उ० ४१]

---

१. मैं मुमुक्षु अपनी बुद्धि को प्रकाशित करनेवाले उस परमात्मदेव की शरण ग्रहण करता हूँ।

'ममेति बध्यते जन्तुर्निर्ममेति विमुच्यते'

[प० उ० २।४३]

निरहंकारता और निर्ममता को कैवल्य का हेतु समझकर—

'निर्ममो निरहंकारः' [ना० प० उ० ६।१६]

'निर्मानश्चानहंकारः' [ना० प० उ० ५।१७]

निर्मान तथा निर्मोह हो चुके हैं अर्थात्—

'देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि।[1]
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र परामृतम्॥'

[स० र० उ० ३१]

देहाभिमान से मुक्त हो परमात्मतत्त्व के साक्षात्कार के द्वारा स्वरूपस्थिति प्राप्त कर चुके हैं; तथा जो योगी—

'एतावानेव योगेन समग्रेणेह योगिनः।
युज्यतेऽभिमतो ह्यर्थो यदसङ्गस्तु कृत्स्नशः॥'

[श्री० भा० ३।३२।२७]

संपूर्ण ब्रह्मांड में आसक्ति के अभाव को ही समस्त योगों का एकमात्र अभीष्ट फल समझकर—

'सर्वसङ्गविवर्जितः' [ना० प० उ० ६।१६]

'सर्वसङ्गनिवृत्तात्मा' [व० उ० २।३६]

स्त्री, पुत्रादि सभी सांसारिक इष्ट वस्तुओं के संग से मुक्त हैं; तथा जो—

'अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निराशिषः[2]

[ना० प० उ० ३।४४]

---

१. देहाभिमान के नष्ट हो जाने तथा परमात्मा के साक्षात् विज्ञात हो जाने पर जहाँ जहाँ मन जाता है, वहाँ वहाँ अमृत का अनुभव होता है।

२. [मुक्तार्थी] अध्यात्मतत्त्व में रतिवान् होकर बैठे, किसी से कोई अपेक्षा न रखे, मनोगत समस्त कामनाओं का परित्याग कर दे।

'अध्यात्मरतिरासीनः पूर्णः पावनमानसः'[1] [म० उ० २।४७]

अध्यात्मतत्त्व—आत्मज्ञान में ही निरत—परिनिष्ठित आत्मारामी है अर्थात् जो—

'सर्वमिदमहं च वासुदेवः'

अपने सहित सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को वासुदेवस्वरूप देखने के कारण निरपेक्ष, निष्काम तथा पूर्ण पवित्र मन वाले हैं, इसलिये जो—

'ब्रह्मानन्दे निमग्नस्य विषयाशा न तद्भवेत्'
[आ० प्र० उ० १६]

'समाधिस्थ आत्मकाम आप्तकामो पूर्णकाम निष्कामो जीर्णकाम.'
[सु० उ० १३]

ब्रह्मानन्द में निमग्न समाधिस्थ, आप्तकाम, पूर्णकाम पुरुष सर्वात्मदर्शन के कारण—

'सर्वान्कामान्परित्यज्य अद्वैते परमेस्थितिः'[2] [प० उ०]

'हृदयात्संपरित्यज्य सर्ववासनपङ्क्तयः'
[म० उ० ६।८]

'अमृतत्वं समाप्नोति यदाकामात्प्रमुच्यते'[3]
[सु० उ० २३]

मनोगत सम्पूर्ण कामनाओं—वासनाओं से रहित हो परम अद्वैतरूप अमृतत्व को प्राप्त हैं, तथा जो—

'सर्वद्वन्द्वैर्विनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते'
[ना० प० उ० ३।५२]

सुख-दुःख संज्ञक शीत-उष्ण, प्रिय—अप्रिय एवं शत्रु-मित्र आदि सम्पूर्ण

---

१. जो नित्य आत्मा में ही रत है तथा जिसका मन पूर्ण और पवित्र है।

२. सब कामनाओं का परित्याग कर योगी परमहंस की परम अद्वैत में स्थिति होती है।

३. जब ज्ञानी पुरुष कामना से पूर्णरूपेण मुक्त हो जाता है, तब अमृतत्व को प्राप्त होता है।

द्वन्द्वों से सर्वात्मदर्शन के कारण मुक्त, ब्रह्म में स्थित हैं, वे परावरैकत्व विज्ञान-दर्शी अमूढ़—अहं-मम रहित जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुष उस—

'नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययम्'

[मु० उ० १।१।६]

नित्य, विभु—व्यापक, अतिसूक्ष्म अव्यय पद को प्राप्त होते हैं, जहाँ से—

'भूयस्ते न निवर्तन्ते परावरविदोजनाः'

[कु० उ० २२]

फिर पुनरावर्तन को नहीं प्राप्त होते ॥ ५ ॥

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥

उस—

'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः'

[यो० शि० उ० ३।१२]

ज्योतियों के परम ज्योति स्वयं प्रकाश स्वरूप वैष्णव परम पद को—

'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं[1]
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥'

[क० उ० २।२।१५]

न सबका प्रकाश करने में समर्थ सूर्य ही प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा और न अग्नि आदि ही; किन्तु उस चैतन्य आत्मज्योति से ही सूर्य, चन्द्र, तारे, विद्युत आदि तथा यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड प्रकाशित है। जैसे घट के टूटने

---

१. उस ब्रह्मधाम में सूर्य प्रकाशित नहीं होता, न चन्द्रमा और तारे ही प्रकाशित होते हैं और न यह विद्युत ही चमकती है; फिर दृष्टि का विषयभूत अग्नि का कहना ही क्या ? उस परमात्मा के प्रकाशित होते हुये ही ये सब सूर्य, चन्द्रादि प्रकाशित होते हैं तथा उसके प्रकाश से ही यह समस्त विश्व भासता है।

पर घटाकाश महाकाश को प्राप्त होकर नहीं लौटता अथवा जैसे सूर्य का प्रतिबिम्ब सूर्य को प्राप्त होकर नहीं लौटता, वैसे ही जिस वैष्णव पद को प्राप्त होकर जीव—

'न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते'
[छा० उ० ८।१५।१]

फिर नहीं लौटता, वह—

'तद्विष्णोः परमं पदम्'
[क० उ० १।३।६]

मुझ विष्णु का परमधाम है ॥ ६ ॥

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥

मुझ—

'एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन'
[अ० उ० ६२]

'एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते'
[श्री० भा० ११।११।४]

'निर्गुणः सच्चिदानन्दांशाज्जीवसंज्ञकः'
[ग० पु० २।४६।७]

निरवयव, अखण्ड, आकाशस्वरूप, सर्वगत् एक, अद्वितीय, निर्गुण, सच्चिदानन्दस्वरूप निरंश परमात्मा का जीव घटाकाशवत् माया कल्पित इस शरीर में सनातन अंश है, जो कि परमार्थतः मेरा स्वरूप ही है। परन्तु अज्ञानवश अपने को कर्ता-भोक्ता मानकर छठें मन के सहित अपने अपने प्रकृति-गोलकों में स्थित श्रोत्रादि पञ्च ज्ञानेन्द्रियों को भोगार्थ रूप, रस, शब्दादि-विषयों की ओर खींचता है ॥ ७ ॥

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८ ॥

जब इस शरीर का स्वामी जीवात्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर

को ग्रहण करता है, तब मन सहित छः इन्द्रियों को वैसे ही साथ ले जाता है, जैसे वायु-पुष्प चन्दनादि गंध के स्थानों से गंध को लेकर दूसरे स्थान को जाता है ॥ ८ ॥

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

यह जीवात्मा श्रोत्र, चक्षु, त्वचा, रसना, घ्राण और उसके साथ छठे मन को आश्रय बनाकर शब्दादि विषयों का सेवन—भोग करता है और श्रुति भी कहती है:—

आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः'
[क० उ० १।३।४]

शरीर, इन्द्रिय एवं मन से युक्त आत्मा को भोक्ता कहते हैं ॥ ९ ॥

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥ १० ॥

इस प्रकार शरीर से उत्क्रमण करते हुये अर्थात् एक शरीर से दूसरे शरीर को जाते हुये अथवा शब्दादि विषयों का उपभोग करते हुये अथवा गुणों से युक्त सुख दुःखादि का अनुभव करते हुये—

'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म' [बृ० उ० ३।४।१]

इस साक्षात् प्रत्यक्ष आत्मा को जो सब अवस्थाओं में शरीर में स्थित अपना स्वरूप ही है, आश्चर्य है कि जैसे अन्धे सूर्य को नहीं देखते, वैसे ही—

'नेतरे माययावृताः' [अन्न० उ० ४।३६]

'अज्ञान चक्षुर्नेक्षेत भास्वन्तं भानुमन्धवत्'[1]
[व० उ० २।१२]

माया से आवृत अज्ञान चक्षुवाले विषयी मूढ़ पुरुष उस प्रत्यक्ष आत्मा को नहीं देखते । परन्तु जो—

---

१. अज्ञान नेत्रवाला पुरुष उस नित्य प्रकाशमान परमात्मा को वैसे ही नहीं देखता है जैसे अन्धा, सूर्य को ।

'क्षीणदोषाः प्रपश्यन्ति' [अक्ष० उ० ४।३६]

सर्वगं सच्चिदात्मानं ज्ञानचक्षुर्निरीक्षते'
[अ० उ० १।१८]

निष्पार ज्ञानचक्षु विचक्षण समाहित पुरुष हैं, वे उस सर्वगत् सच्चिदानन्द-स्वरूप आत्मतत्त्व को देखते हैं ॥ १० ॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥ ११ ॥

जो विवेक-वैराग्य सम्पन्न प्रयत्नशील योगी हैं, वे—

'तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीराः'
[क० उ० २।२।१२]

अपने विशुद्धान्तःकरण में आत्मा का सर्व अवस्थाओं में नित्य निर्विकार एवं साक्षी रूप से स्थित देखते हैं। परन्तु जिनका अन्तःकरण स्वधर्माचार से विरत रहने के कारण शुद्ध नहीं है, वे रागद्वेष से ग्रस्त—

'सुदुर्बोधमचेतसाम्'[१] [यो० शि० उ० ३।२०]

अविवेकी पुरुष श्रवण, मनन के द्वारा आत्मसाक्षात्कार का प्रयत्न करते हुये भी आत्मदर्शन नहीं कर पाते ॥ ११ ॥

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ १२ ॥

जो सूर्य में स्थित तेज समस्त जगत् को प्रकाशित करता है, तथा जो तेज चन्द्रमा में स्थित है तथा जो तेज अग्नि में स्थित है, उस तेज को तू मेरा ही तेज जान। जैसा श्रुति भी कहती है—

'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥'
[क० उ० २।२।१५]

---

१. अनिग्रहीत पुरुषों को आत्मज्ञान अत्यन्त दुर्बोध है।

उस परमात्म सत्ता के प्रकाशित होने से ही सब प्रकाशित होता है और यह सब कुछ उसी के प्रकाश से प्रकाशमान है ॥ १२ ॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ १३ ॥

मैं पृथ्वी में प्रविष्ट होकर अपने तेज—शक्ति से समस्त प्राणियों को अथवा समस्त ब्रह्माण्ड को धारण करता हूँ—जैसा वेद मन्त्र भी कहते हैं:—

'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा' [तै० सं० ४।१।८]

"जिससे द्युलोक और भारवती पृथ्वी दृढ़ है ।"

'स दाधार पृथिवीम्' [तै० सं ४।१।८]

यह पृथ्वी को धारण करता है ।'

'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि
द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठत'

[बृ० उ० ३।८।९]

'हे गार्गि । इस अक्षर के ही प्रशासन में द्युलोक और पृथ्वी विशेषरूप से धारण किये हुए स्थित हैं ।' तथा मैं ही रसस्वरूप चन्द्रमा होकर पृथ्वी से सब सम्पूर्ण ओषधियाँ—अन्नों को पुष्ट करता हूँ अर्थात् जीवन प्रदान करता हूँ ॥ १३ ॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापान समायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४ ॥

तथा मैं ही समस्त प्राणियों के शरीरों में वैश्वानर—जठराग्नि होकर प्राण-अपान से युक्त होकर भक्ष्य, भोज्य, लेह्य एवं चोष्य, इन चार प्रकार के अन्नों को पचाता हूँ ।

जैसा कि श्रुति भी कहती है:—

'अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते'

[बृ० उ० ५।९।१]

'यह अग्नि वैश्वानर है, जो यह पुरुष के भीतर है और जिससे यह अन्न पचाता है' ॥ १४ ॥

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५ ॥

मैं—

'सर्वव्यापी सर्वभूतानां हृदये संनिविष्टः'
[शा० उ० ३।१]

सर्वव्यापी परमात्मा सर्वभूतप्राणियों के अन्तःकरण में साक्षी रूप से स्थित हूँ। इसलिये मुझसे ही पुण्यकर्मा विशुद्धान्तःकरण प्राणियों को—

'स आत्मा तत्त्वमसि' [छा० उ० ६।८।७]

'संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः'

'वह आत्मा तू है' ऐसी पूर्व संस्कार-जन्य स्मृति तथा—

'सर्वमिदमहं च वासुदेवः'

'यह सब और मैं वासुदेव ही हूँ' ऐसा परावरैकत्व—विज्ञानरूप ज्ञान होता है और अशुद्धान्तःकरण पापियों के स्मृति और ज्ञान का लोप—अभाव होता है। तथा—

'सर्वेवेदा यत्पदमामनन्ति' [क० उ० १।२।१५]
'वेदैरनेकैरहमेववेद्यः[१]' [कै० उ० १।२२]

सम्पूर्ण वेद जिस पद को कहते हैं, वह—

'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' [श्वे० ६।१६]
'नित्यं शुद्धं बुद्धं मुक्तं सत्यं सूक्ष्मं परिपूर्णमद्वयं
सदानन्दचिन्मात्रम्' [नृ० उ० उ० ६]

निष्कल, निष्क्रिय, शान्त, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य, सूक्ष्म, परिपूर्ण, अद्वय, सदानन्द, चिन्मात्र—

---

१. अनेक वेदों के द्वारा मैं ही जानने के योग्य हूँ।

'अमितवेदान्तवेद्यं ब्रह्म' [त्रि० म० उ० १।१]

अमित वेदान्तवेद्य ब्रह्म मैं ही हूँ। तथा जो—

'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै'
[श्वे० उ० ६।१८]

ब्रह्मा को पहले सृष्टि करता है और उन्हें वेदों को देता है, वह वेदान्त—अध्यात्मविद्या का उपदेशक वेदान्ताचार्य मैं हूँ।

अथवा—

'वेदान्तकृत्' [कै० उ० १।२२]

वेदान्त के अर्थ का प्रवर्तक वेदव्यास मैं हूँ। तथा—

'वेदविदेव चाहम्' [कै० उ० १।२२]

मैं ही कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड, एवं ज्ञानकाण्डात्मक सम्पूर्ण वेदों के अर्थ का जानने वाला हूँ ॥ १५ ॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥

इस लोक—संसार में दो पुरुष हैं—एक क्षर और दूसरा अक्षर। जिसमें ब्रह्मा से लेकर स्थावरपर्यंत समस्त भूत क्षर पुरुष है और कूटस्थ—ईश्वर की मायाशक्ति प्रकृति शब्द वाच्य अव्यक्त को अक्षर पुरुष कहते हैं ॥१६॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१७॥

परन्तु उत्तम पुरुष तो—

'न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः'[1]

उपर्युक्त क्षर और अक्षर दोनों जड़ एवं दृश्यवर्ग से भिन्न चेतन और द्रष्टा है, जो कि वेदों में परमात्मा नाम से कहा गया है; तथा जो तीनों लोकों में प्रविष्ट होकर—

'व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः' [श्वे० उ० १।८]

१. पुरुष न प्रकृति है और न विकृति है अर्थात् कार्य-कारण से रहित है।

-व्यक्त-अव्यक्त सम्पूर्ण भूतप्राणियों को सत्ता-स्फूर्ति देकर भरण-पोषण करता है तथा जो अव्यय, निर्विकार एवं सबका नियन्ता ईश्वर है ॥१७॥

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥

मैं चेतन और साक्षी होने के कारण—

'आत्माव्यक्ताव्यक्ताभ्यां भिन्नः तदुभयसाक्षित्वात्'[1]
'कार्यकारण सम्बन्धरहितः केवलः शिवः' [स्मृति]

'अव्यक्तात्पुरुषः पुरुषः परः । पुरुषान्न परं किंचित्'
[क० उ० १।३।११]

व्यक्त—क्षर पुरुष—कार्यवर्ग और अव्यक्त—अक्षरपुरुष—कारणवर्ग से अतीत—उत्तम हूँ अर्थात्—

'त्वमेव सदसद्विलक्षणः' [त्रि० म० उ० १।१]

मैं सत् एवं असत् से विलक्षण हूँ, इसलिये मैं पुराणों और वेदों में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ ।

अभिप्राय यह है, कि जैसे पट में चित्र की केवल कल्पना मात्र होती है, चित्र नाम की कोई वस्तु नहीं; केवल पट ही चित्राकार होकर भासता है, वैसे ही—

'स्वपूर्णात्मातिरेकेण जगज्जीवेश्वरादयः ।
न सन्ति नास्ति माया च तेभ्यश्चाहं विलक्षणः' ॥
[व० उ० २।११, १२]

मुझ पूर्ण, एक अद्वितीय परमात्मा में जगत्, जीव, ईश्वर और माया की केवल प्रतीतिमात्र है वस्तुतः है नहीं, केवल मैं ही उन रूपों में भास रहा हूँ । इसलिये विवेकी पुरुषों को सर्वत्र मेरी ही भावना करनी चाहिये ॥१८॥

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥१९॥

---

१. आत्मा व्यक्ताव्यक्त—कार्य-कारण से भिन्न है दोनों का साक्षी होने से ।

इस प्रकार जो अज्ञान रहित ज्ञानी पुरुष मुझ कृष्ण को पुरुषोत्तम जानता है अर्थात् आत्मरूप से साक्षात्कार करता है—

'स ब्रह्मवित्स लोकवित्स देववित्स वेदवित्स'
भूतवित्स आत्मवित्स सर्वविदिति'

[बृ० उ० ३।७।१]

वह सर्ववित्—

'सर्वमिदमहं च वासुदेवः'

'यह सब और मैं वासुदेव ही हूँ' इस सर्वात्मभाव से; अथवा प्रेम लक्षणा भक्ति से सब प्रकार से, सब रूप में, सर्व अवस्थाओं में सर्वत्र सर्वदा अनन्य रूपेण मेरा ही भजन करता है ॥१६॥

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥२०॥

हे निष्पाप अर्जुन ! इस प्रकार मेरे द्वारा ब्रह्मतत्त्व को प्रकाशित करने वाला यह अत्यन्त गोपनीय शास्त्र इस अध्याय में कहा गया। जिसके विज्ञान मात्र से मनुष्य सम्यग्ज्ञानी और कृतकृत्य हो जाता है अर्थात्—

'मुक्तो भवति संसृतेः' [यो० शि० उ० ६।१],

संसार के आवागमन से मुक्त ब्रह्मस्वरूप हो जाता है ॥२०॥

॥ पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त ॥

---

१. वह ब्रह्मवित् है, वह लोकवित् है, वह देववित् है, वह वेदवित् है, वह भूतवित् है, वह आत्मवित् है और वही सर्ववित् है।

सोलहवाँ अध्याय

दैवासुरसंपद्विभागयोग

॥ ॐ ॥

सोलहवाँ अध्याय

नवें अध्याय में दैवी एवं आसुरी दो प्रकृतियों का निरूपण किया गया है, जिसमें दैवी प्रकृति मोक्ष की हेतुभूता होने के कारण मुमुक्षुओं से ग्राह्य तथा आसुरी बन्धन की हेतुभूता होने के कारण अग्राह्य है। अतः उन्हीं दोनों प्रकृतियों का विस्तार से विवेचन करने के लिये श्री भगवान् बोले। -

श्री भगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥

अभय—निर्भयता अर्थात् आध्यात्मिकादि उपद्रवों के प्राप्त होने पर भी भयभीत न होना।

अथवा सर्वपरिग्रहशून्य होने पर भी शरीर की चिन्ता से सर्वथा निर्भय—निश्चिन्त होना।

सत्त्वसंशुद्धि—'रागद्वेषादिदोषत्यागेन मनः शुद्धि'

रागद्वेषादि दोषों के त्याग के द्वारा अन्तःकरण का रज एवं तम से रहित विशुद्ध होना अर्थात् आत्मसाक्षात्कार के योग्य होना।

अथवा छल-छिद्ररहित बाह्याभ्यन्तर विशुद्ध व्यापार करना।

ज्ञानयोग व्यवस्थिति—शास्त्र और आचार्य से उपदिष्ट आत्म-अनात्म ज्ञान के द्वारा इन्द्रिय तथा मन के निग्रहपूर्वक सर्वदा सर्वात्मदर्शन रूप योगनिष्ठा से युक्त रहना अर्थात्—

'स्वरूपानुसंधानंविनान्यथाचारपरो न भवेत्'
[ना० प० उ० ५।१],

आलस्य-प्रमादशून्य हो सदैव स्वरूपानुसंधान में ही तत्पर रहना।

दान—'दानंनाम न्यायार्जितस्य धनधान्यादेः श्रद्धयार्थिभ्यः प्रदानम्' [शा० उ० १।२]

न्यायार्जित धन-धान्यादि का यथाशक्ति श्रद्धापूर्वक सत्पात्रों को देना।

दम—'दम इन्द्रिय संयमः' [श्री० भा० ११।१६।३६]

वाह्यइन्द्रियों का निग्रह करना।

यज्ञ—अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमासादि श्रौत-यज्ञ तथा देव-पितृ आदि स्मार्त-यज्ञ।

स्वाध्याय—ब्रह्मयज्ञ अर्थात् ऋग्यादि वेदों का अध्ययन करना।

अथवा,

'नानोपनिषदभ्यासः स्वाध्यायो यज्ञ ईरितः'

[शाण्ड्य० उ० १५]

नाना उपनिषदों का अभ्यास ही स्वाध्याय यज्ञ है।

तप—'देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनम्' [गी० १७।१४]

आदि पदों से आगे के अध्याय में कहा जाने वाला शारीरिक, वाचिक तथा मानसिक तीन प्रकार का तप।

आर्जव—अवक्रता अर्थात् शरीर, वाणी और मन से सर्वत्र सर्वदा एक रहना।

अथवा—

'पुत्रे मित्रे कलत्रे च रिपौ स्वात्मनि संततम्।
एकरूपं मुने यत्तदार्जवं प्रोच्यते मया॥'

[श्री जा० उ० १।१०]

पुत्र, मित्र, स्त्री तथा (शत्रु) अपने आत्मा में भी सदा एकरूप मन का रहना अर्थात् सर्वदा सम रहना॥ १॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥ २॥

अहिंसा—

"अहिंसा नाम मनोवाक्कायकर्मभिः सर्वभूतेषु सर्वदाऽक्लेशजननम् ॥
[शा० उ० १।१]

मन, वाणी और शरीर के कर्मों से किसी को भी क्लेश न देना।

सत्य—

'सत्यंनाममनोवाक्कायकर्मभिर्भूतहितयथार्थाभिभाषणम्'
[शा० उ० १।१]

मन, वाणी और शरीर के कर्मों से प्राणियों के हितार्थ यथार्थ भाषण।

अक्रोध—दूसरों से पीड़ित होने पर जो क्रोध होता है, उसको शान्त कर लेना।

शान्ति—चित्तोपरति।

अपैशुन—परोक्ष में किसी की किसी से चुगली न करना।

दया—दीन दुःखियों पर दया। अथवा—

'दयानाम सर्वभूतेषु सर्वत्रानुग्रहः'
[शा० उ० १।१]

सर्वभूतों पर सर्वत्र अनुग्रह।

अलोलुपता—विषयों की प्राप्ति होने पर भी इन्द्रियों का विकाररहित होना।

मृदुता—कोमलता अथवा प्रियभाषिता।

ह्री—'जुगुप्सा ह्यकर्मसु' [श्री० भा० ११।१९।४०]

शास्त्रविरुद्ध क्रियाओं में लज्जा। अथवा—

'वेदलौकिकमार्गेषु कुत्सितं कर्म यद्भवेत्।
तस्मिन्भवति या लज्जा ह्रीः सैवेति प्रकीर्तिता ॥'
[शा० उ० २।१०]

'वैदिक तथा लौकिक मार्गों में जो निन्दित कर्म माना गया है, उसको करने में जो स्वाभाविक संकोच होता है, उसे ही लज्जा कहा गया है।'

अचपलता—अकारण, वाणी, मन तथा इन्द्रियों की क्रिया का न करना ॥ २ ॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

तेज—बुद्धि की सूक्ष्मता अथवा प्रागल्भ्य—तेजस्विता ।

क्षमा—'कायेन मनसा वाचा शत्रुभिः परिपीडिते ।
बुद्धिक्षोभनिवृत्तिर्या क्षमा सा मुनिपुङ्गव ।
[श्री जा० उ० १।१७]

शत्रुओं द्वारा मन, वाणी और शरीर से भलीभाँति पीड़ा दी जाने पर भी बुद्धि में तनिक भी क्षोभ न आने देना ही क्षमा है ।

धृति—विक्षिप्त देह, इन्द्रिय एवं मन को जिस अन्तःकरण की शक्ति से धारण किया जाता है, वह धैर्य है ।

अथवा—

'जिह्वोपस्थजयो धृतिः'' [श्री० भा० ११।१९।३६]

जिह्वा और उपस्थ के जय को धृति कहते हैं ।

शौच—'शौचं नाम द्विविधं—बाह्यमान्तरं चेति ।
तत्र मृज्जलाभ्यां बाह्यम् । मनः शुद्धिरान्तरम् ।
तदध्यात्मविद्यया लभ्यम् ।' [शा० उ० १।१]

बाह्याभ्यन्तर दो प्रकार की शुद्धि, जिसमें मिट्टी और जल से बाह्यशुद्धि और अध्यात्म विद्या के द्वारा आन्तर—मन की शुद्धि ।

अद्रोह—अपकारी को भी न मारने की इच्छा ।
नातिमानिता—अपने में अतिमानिता का अभाव ।

हे भारत ! ये अभय आदि छब्बीस सात्विक लक्षण दैवी संपदा के अनुसार उत्पन्न हुए पुण्यात्मा पुरुषों के होते हैं, जिनको लेकर मुमुक्षु परमात्मा के अभिमुख होता है अर्थात् आत्मसाक्षात्कार करता है ॥ ३ ॥

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥ ४ ॥

दम्भ—धर्मध्वजीपन को कहते हैं।

दर्प—धन, बल, विद्या एवं परिवार आदि के कारण होने वाले गर्व को कहते हैं।

अतिमान—अपने में अतिपूज्यता का होना।
क्रोध—दूसरे के सताये जाने पर चित्त में विकार का होना।
पारुष्य—कठोर व्यङ्गात्मक वाणी को कहते हैं।

अज्ञान—अविवेक अर्थात् कर्तव्य-अकर्तव्य का ज्ञान न होना। हे पार्थ! दम्भ से लेकर अज्ञान तक ये छः रजोगुण और तमोगुण के लक्षण आसुरी संपदा के अनुसार उत्पन्न हुये पापात्मा पुरुष के होते हैं ॥ ४ ॥

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरीमता।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥ ५ ॥

हे पाण्डव! दैवी संपत्ति संसार से मोक्ष प्रदान करनेवाली और आसुरी सम्पत्ति संसार-बंधन को प्रदान करनेवाली कही गई है। जैसा श्रुति भी कहती है—

'वासना द्विविधा प्रोक्ता शुद्धा चमलिना तथा।[1]
मलिना जन्म हेतुः स्याच्छुद्धा जन्मविनाशिनी ॥'
[मुक्ति० उ० २।६१]

यह सुनकर अर्जुन भयभीत हो गया कि संभवतः मैं भी आसुरी संपत्ति से ही युक्त हूँ। इस प्रकार आनंदकन्द भगवान् अर्जुन को आश्वासन देते हुए बोले कि हे पाण्डव! तू शोक मतकर, क्योंकि तू दैवी संपत्ति को लेकर उत्पन्न हुआ है, इसलिये अवश्य मुक्त होगा ॥ ५ ॥

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥

हे पार्थ! इस संसार में मनुष्यों की दो प्रकार की सृष्टियाँ हैं; एक दैवी—देवताओं की और दूसरी आसुरी—असुरों की।

---

१. वासना दो प्रकार की होती है शुद्ध एवं मलिन। मलिन वासना जन्म-मृत्यु का हेतु होती है और शुद्ध वासना जन्म-मृत्यु विनाशिनी होती है।

अचपलता—अकारण, वाणी, मन तथा इन्द्रियों की क्रिया का न करना ॥ २ ॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

तेज—बुद्धि की सूक्ष्मता अथवा प्रागल्भ्य—तेजस्विता ।

क्षमा—'कायेन मनसा वाचा शत्रुभिः परिपीडिते ।
बुद्धिक्षोभनिवृत्तिर्या क्षमा सा मुनिपुङ्गव ।
[श्री जा० उ० १।१७]

शत्रुओं द्वारा मन, वाणी और शरीर से भलीभाँति पीड़ा दी जाने पर भी बुद्धि में तनिक भी क्षोभ न आने देना ही क्षमा है ।

धृति—विक्षिप्त देह, इन्द्रिय एवं मन को जिस अन्तःकरण की शक्ति से धारण किया जाता है, वह धैर्य है ।

अथवा—

'जिह्वोपस्थजयो धृतिः'' [श्री० भा० ११।१६।३६]

जिह्वा और उपस्थ के जय को धृति कहते हैं ।

शौच—'शौचं नाम द्विविधं—बाह्यमान्तरं चेति ।
तत्र मृज्जलाभ्यां बाह्यम् । मनः शुद्धिरान्तरम् ।
तदध्यात्मविद्यया लभ्यम् ।' [शा० उ० १।१]

बाह्याभ्यन्तर दो प्रकार की शुद्धि, जिसमें मिट्टी और जल से बाह्यशुद्धि और अध्यात्म विद्या के द्वारा आन्तर—मन की शुद्धि ।

अद्रोह—अपकारी को भी न मारने की इच्छा ।
नातिमानिता—अपने में अतिमानिता का अभाव ।

हे भारत ! ये अभय आदि छब्बीस सात्त्विक लक्षण दैवी संपदा के अनुसार उत्पन्न हुए पुण्यात्मा पुरुषों के होते हैं, जिनको लेकर मुमुक्षु परमात्मा के अभिमुख होता है अर्थात् आत्मसाक्षात्कार करता है ॥ ३ ॥

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥ ४ ॥

दम्भ—धर्मध्वजीपन को कहते हैं।

दर्प—धन, बल, विद्या एवं परिवार आदि के कारण होने वाले गर्व को कहते हैं।

अतिमान—अपने में अतिपूज्यता का होना।
क्रोध—दूसरे के सताये जाने पर चित्त में विकार का होना।
पारुष्य—कठोर व्यङ्गात्मक वाणी को कहते हैं।

अज्ञान—अविवेक अर्थात् कर्तव्य-अकर्तव्य का ज्ञान न होना। हे पार्थ! दम्भ से लेकर अज्ञान तक ये छः रजोगुण और तमोगुण के लक्षण आसुरी संपदा के अनुसार उत्पन्न हुये पापात्मा पुरुष के होते हैं ॥ ४ ॥

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरीमता।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥ ५ ॥

हे पाण्डव! दैवी संपत्ति संसार से मोक्ष प्रदान करनेवाली और आसुरी सम्पत्ति संसार-बंधन को प्रदान करनेवाली कही गई है। जैसा श्रुति भी कहती है—

'वासना द्विविधा प्रोक्ता शुद्धा चमलिना तथा।[1]
मलिना जन्म हेतुः स्याच्छुद्धा जन्मविनाशिनी ॥'
[मुक्ति० उ० २।६१]

यह सुनकर अर्जुन भयभीत हो गया कि संभवतः मैं भी आसुरी संपत्ति से ही युक्त हूँ। इस प्रकार आनंदकन्द भगवान् अर्जुन को आश्वासन देते हुए बोले कि हे पाण्डव! तू शोक मतकर, क्योंकि तू दैवी संपत्ति को लेकर उत्पन्न हुआ है, इसलिये अवश्य मुक्त होगा ॥ ५ ॥

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥

हे पार्थ! इस संसार में मनुष्यों की दो प्रकार की सृष्टियाँ हैं; एक दैवी—देवताओं की और दूसरी आसुरी—असुरों की।

---

१. वासना दो प्रकार की होती है शुद्ध एवं मलिन। मलिन वासना जन्म-मृत्यु का हेतु होती है और शुद्ध वासना जन्म-मृत्यु विनाशिनी होती है।

जैसा श्रुति भी कहती है कि—

'द्वा ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च'

[बृ० उ० १।३।१]

'प्रजापति की दो संताने हैं, देव और असुर।' दैवी सृष्टि अर्थात् प्रकृति का विवेचन तो—

'अभयंसत्त्वसंशुद्धिः' [गी० १६।१]

आदि पदों से विस्तारपूर्वक किया गया; परन्तु आसुरी प्रकृति का विवेचन नहीं हुआ। इसलिए उसको भी विस्तारपूर्वक सुन ॥ ६ ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥

आसुरी स्वभाववाले मनुष्य प्रवृत्ति बंधन का हेतु है और निवृत्ति मोक्ष का हेतु है, यह नहीं जानते। अथवा कर्तव्यकार्य में प्रवृत्त होने को और अकर्तव्य कार्य से निवृत्त होने को नहीं जानते हैं अर्थात् धर्माधर्म, विधि निषेध को नहीं जानते हैं। तथा उनमें शौचाचार भी अर्थात् बाहर-भीतर की शुद्धि भी नहीं होती है और न सदाचार-श्रेष्ठाचार ही होता है। तथा न उनमें सत्य भाषण ही होता है। ऐसे ही कहा भी गया है—

'दया सत्यं च शौचं च राक्षसानां न विद्यते'

दया, सत्य और शौच राक्षसों में नहीं होते हैं। अभिप्राय यह है कि वे महान् मूर्ख, अशुद्ध, दुराचारी एवं मिथ्याभाषी होते हैं ॥ ७ ॥

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥

वे असत्य परायण, प्रयत्नवादी, आसुरी स्वभाववाले मनुष्य कहते हैं कि यह सम्पूर्ण विश्व झूठा ही है।

'त्रयो वेदस्य कर्तारो मुनिभण्डनिशाचराः'

'तीनों वेदों के कर्ता मुनि, भण्ड—धूर्त और निशाचर हैं।' इसलिये वेद प्रतिपादित धर्माधर्म जगत् के आधार नहीं हैं; किन्तु यह निराधार ही है। तथा इसके पाप-पुण्य का फल प्रदान करनेवाला इसका कोई शासक—स्वामी

नहीं है। अतः यह जगत् ईश्वर रहित है। यह जगत् काम के वशीभूत होकर स्त्री-पुरुष के संयोग से ही उत्पन्न हुआ दिखाई देता है। अतः काम से भिन्न इस जगत् का कोई अन्य कारण कैसे हो सकता है ? ॥ ८ ॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥

इस प्रकार ऐसी दृष्टि का अवलम्बन करके कामोपासक परलोकसाधन से भ्रष्ट, दूषित अन्तःकरण, क्षुद्रबुद्धिवाले, नास्तिक, देहाभिमानी, व्याघ्रवत् उग्र कर्म करनेवाले, 'हिंसा के परायण, इन्द्रियलोलुप पुरुष केवल संसार के अहित और नाश के लिये ही उत्पन्न होते हैं अर्थात् धर्म और साधु-पुरुषों के शत्रु ही होते हैं ॥ ९ ॥

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ १० ॥

तथा वे अग्नि के सदृश कभी भी पूर्ण न होनेवाली कामनाओं का आश्रय लेकर तथा दम्भ, मान और मद से युक्त अशुद्धाचारी पुरुष अज्ञान से वेद शास्त्रविरुद्ध अनर्थ के हेतुभूत अशुभ सिद्धान्तों को ग्रहण करके संसार में स्वेच्छाचारपूर्वक वर्तते हैं अर्थात् क्षुद्र देवताओं के परायण होकर मद्य-मांसादि का सेवन करते हैं ॥ १० ॥

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ ११ ॥

वे—

'चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः'
'काम एवैकः पुरुषार्थः'

[इस सूत्रानुसार] चैतन्यविशिष्ट शरीर को ही पुरुष मानने वाले देहाभिमानी, विषयासक्त, इन्द्रियों की तृप्ति के लिये मृत्युपर्यन्त अपरिमित—अनन्त चिन्ताओं के आश्रित हो केवल एक काम-भोग को ही परम पुरुषार्थ मानते हैं तथा इससे बढ़कर कोई अन्य प्राप्तव्य वस्तु नहीं है, ऐसे निश्चय से सम्पन्न हो जीवनपर्यन्त काम और भोग के लिये ही प्रयत्न करते रहते हैं ॥ ११ ॥

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥ १२ ॥

वे सैकड़ों आशारूपी पाशों—फाँसियों से बँधे हुये काम-क्रोध के परायण होते हैं अर्थात् काम-क्रोध को ही इष्ट मानते हैं। इसलिये वे उन्हीं की उपासना करते हैं। तथा वे केवल विषय और भोग की पूर्ति के लिये शास्त्र-विरुद्ध मार्ग से छल-कपटादि उपायों से अन्यायपूर्वक पापाचार से धन का सञ्चय करते हैं। ऐसे ही कहा भी है—

'पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः ।
न पापफलमिच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः ॥'

आसुरी वृत्ति वाले पुरुष पुण्य कर्म के फल सुख को चाहते हैं, परन्तु पुण्य कर्म को नहीं करते, तथा पाप कर्म के फल दुःख को नहीं चाहते, परंतु पाप कर्म को प्रयत्नपूर्वक करते हैं ॥ १२ ॥

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १३ ॥

तथा वे कहते हैं कि आज मैंने इतना धन बिना प्रारब्ध के अपने पुरुषार्थ से ही प्राप्त कर लिया है और अन्य लोकैषणा एवं पुत्रैषणा आदि मनोरथों को और प्राप्त करूँगा। मेरे पास इतना धन तो है और इतना भविष्य में ब्याज आदि के द्वारा और हो जायेगा। अतः मैं अक्षय कोष के द्वारा मनमाना भोगों को भोगूँगा और जो चाहूँगा सो करूँगा। इस प्रकार वे सदैव मनोराज्य की ही कल्पना करते रहते हैं ॥ १३ ॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥ १४ ॥

मैंने अमुक दुर्जय शत्रु को मार डाला है, इसलिये मैं दूसरों को भी मारूँगा; क्योंकि मैं ईश्वर हूँ अर्थात् विश्व का स्वतंत्र शासक हूँ। तथा मैं ही भोगी हूँ, अतः संसार की सभी वस्तुएँ मेरी भोग्य सामग्री हैं। तथा मैं ही सब प्रकार से सिद्ध हूँ अर्थात् पुष्कल धन-धान्य तथा स्त्री-पुत्रादि से सम्पन्न कृतकृत्य हूँ तथा मैं ही एकमात्र बलवान्, स्वस्थ और सुखी हूँ ॥ १४ ॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१५॥

तथा मैं धनवान् हूँ और अत्यन्त कुलीन हूँ। इसलिये इस संसार में मेरे सदृश दूसरा कौन है ? अर्थात् कोई भी नहीं है। मैं दूसरों के अपमान तथा अपनी कीर्ति की वृद्धि के लिये दान करूँगा, नटादि को धन दूँगा और आनंद मनाऊँगा अर्थात् मद्य-मांसादि का सेवन करूँगा और रमणियों के साथ स्वच्छन्दरूप से विहार तथा क्रीड़ा करूँगा। इस प्रकार वे सत्यासत्य के विवेक से शून्य अज्ञान से विमोहित—मुग्ध विषयी पुरुष नाना प्रकार की दूषित कामनाओं से युक्त होते हैं ॥१५॥

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६॥

तथा वे अनेक संकल्पों के कारण अत्यन्त भ्रान्त—विक्षिप्त, जाल में फँसे हुये मछलियों जैसे बन्धन के हेतुभूत मोह—अज्ञान जाल में बुरी तरह से फँसे हुये तथा विषय-भोगों में अत्यन्त आसक्त, लोक-परलोक की चिन्ता से रहित पातकी पुरुष मरने के पश्चात् मल-मूत्र तथा पीवादि से युक्त अन्धतामिस्र तथा वैतरणी आदि अपवित्र नरकों में गिरते हैं ॥१६॥

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥१७॥

वे स्वयं ही अपने को महान् मानकर अपना गुणगान करने वाले तथा स्तब्ध—विनय रहित वृक्षों की भाँति किसी के भी सामने न झुकने वाले और साधु, ब्राह्मण तथा धर्मादि का उपहास करने वाले तथा धन, मान के मद से युक्त अर्थात् धन, विद्या और कुलीनता के अभिमान से उन्मत्त पुरुष दम्भ से पाखण्डपूर्वक अपने प्रतिष्ठार्थ शास्त्रीय विधि-विधान से रहित अर्थात् ब्राह्मण, मन्त्र एवं काल आदि की अपेक्षा से रहित पशुओं की बलि देकर नाममात्र के लिये यज्ञ करते हैं ॥१७॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥

वे असुर मैं ही वेदज्ञ, सर्वज्ञ, धर्मिष्ठ तथा कुलीन हूँ इस समस्त अनर्थ के मूल कारण अहंकार का; काम और आसक्ति से युक्त बल का; धन, बल, विद्या आदि के सम्बन्ध से होनेवाले दर्प—गर्व का; तथा स्त्री आदि के सम्बन्ध से होने वाले काम का; और अनिष्ट होने से उत्पन्न क्रोधादि का

आश्रय लेकर अपने शरीर तथा दूसरों के शरीर में स्थित सबके प्रेमास्पद मुझ सर्वान्तर्यामी, सबके नियन्ता, सर्वसाक्षी, परमात्मा के प्रति द्वेष करते हैं अर्थात्—

'अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥'
[गी० ९।११]

वे देहाभिमानी मूढ़ पुरुष मुझ महेश्वर के परभाव—विशुद्धत्व एवं निर्विकारत्वादि भावों को न जानने के कारण मुझे सामान्य मनुष्य समझकर मुझमें दोषारोपण करके मेरी आज्ञाओं—वेद-शास्त्रादि का उल्लंघन करते हैं और ईर्ष्या के कारण सन्मार्गगामी साधुपुरुषों के गुणों की निन्दा करते हैं॥१८॥

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥१९॥

इस प्रकार उन मेरे तथा साधु पुरुषों के साथ द्वेष करने वाले दया, सत्य, शौच तथा शिष्टाचारशून्य क्रूरकर्मा नराधमों को मैं संसार में बार-बार अशुभ—अति क्रूर व्याघ्र, श्वान, सूकर तथा सर्पादि आसुरी योनियों में ही गिराता हूँ अर्थात् उनके अशुभ कर्मानुसार ही अशुभ योनि प्रदान करता हूँ, द्वेष वश नहीं। जैसा श्रुति और पुराण में भी कहा गया है:—

'य इह कपूयचरणा अभ्यासो ह यत्ते कपूयां
योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा'
[छां० उ० ५।१०।७]

'पापशीलानरा यान्ति दुःखेन यमयातना' [म० पु०]

जो अशुभ आचरण वाले होते हैं, वे तत्काल अशुभ योनि को प्राप्त होते हैं; वे कुत्ते की योनि, सूकर की योनि अथवा चाण्डाल की योनि प्राप्त करते हैं।' पापशील पुरुष दुःखपूर्वक यम की यातनाओं को प्राप्त करते हैं॥१९॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥२०॥

हे कौन्तेय! वे शुभ कर्म से पराङ्मुख अत्यन्त पापाचारी तमोगुणग्रस्त मूढ़ पुरुष जन्म-जन्म में आसुरी योनि को प्राप्त होकर मुझे प्राप्त न करके

अर्थात् मेरे प्राप्ति के साधन वैदिक मार्ग को न प्राप्त करने के कारण मेरे स्वरूप को न जानकर उस पूर्व प्राप्त आसुरी योनि की अपेक्षा भी अति निकृष्ट वृक्ष-पाषाणादि योनियों को बार बार प्राप्त होते रहते हैं। ऐसे ही श्रुति और पुराण में भी कहा गया है:—

'इमानिक्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्वम्रियस्वेति'

[छा० उ० ५।१०।८]

'सदैवाकर्मनिरताः शुभकर्मपराङ्मुखाः।
नरकान्नरकं यान्ति दुःखाद्दुःखं भयाद्भयम्' ॥

[ग० पु०]

'ये क्षुद्र बारम्बार मरकर लौटने वाले भूत होते हैं, जन्म लो और मरो' 'जो मनुष्य शुभकर्म से पराङ्मुख होकर सदा अशुभ कर्म में ही रत रहते हैं, वे एक नरक से दूसरे नरक को, एक दुःख से दूसरे दुःख तथा एक भय से दूसरे भय को प्राप्त होते रहते हैं।'

तात्पर्य यह है कि—

'न मानुषंविनान्यत्र तत्त्वज्ञानं तु लभ्यते'

[ग० पु० २।४६।१३].

वैदिक कर्म के अनुष्ठान के योग्य के साधनभूत मानव-शरीर से ही तत्त्वज्ञान हो सकता है, अन्य शरीर से नहीं। इसलिये मनुष्य को 'इन्द्रियों के लालन पालन तथा प्रमाद से मुक्त हो वैराग्यराग का रसिक होकर हस्तगत अमृत को नष्ट नहीं करना चाहिये; क्योंकि—

'इहैव नरकव्याधेश्चिकित्सां न करोति यः।
गत्वा निरौषधं स्थानं सरुजः किं करिष्यति ॥'

[ग० पु० २।४६।२३]

जो पुरुष इस मानवशरीर में ही नरक-व्याधि की चिकित्सा नहीं कर लेता अर्थात् शास्त्रानुसार व्यापार के द्वारा अपना कल्याण नहीं कर लेता, वह पापरूप महारोग से ग्रस्त पापात्मा निरौषध स्थान में जाकर अर्थात् साधन-शून्य अन्य शरीर को प्राप्त करके क्या करेगा ? ॥ २० ॥

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथालोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥ २१ ॥

काम, क्रोध और लोभ—ये ही तीन समस्त आसुरी दोषों के मूलकारण, सर्वानर्थ के बीजभूत नरक के द्वार, और आत्मा के नाशक यानी नीच योनि प्रदान करनेवाले हैं अर्थात् विवेक, वैराग्य, मुमुक्षुत्व, परमात्मरुचि तथा स्वानुभूति के विरोधी हैं। इन्हीं के कारण—

'जातानार्तान्मृतानापद्ग्रस्तान्दृष्ट्वा च दुःखितान्।
लोको मोहसुरां पीत्वा न बिभेति कदाचन ॥'

[ग० पु० २।४६।२८]

मनुष्य उत्पन्न होते हुये, दुःखी होते हुये, मरते हुये, आपत्तिग्रस्त हुये और दुखियों को देखते हुये भी मोहरूपी मदिरा को पीकर कभी भी भय नहीं मानता अर्थात् सत्यासत्य, धर्माधर्म और बन्धमोक्ष के विवेक को नहीं प्राप्त होता। इसलिये विवेकियों को आसुरी संपदा के मूलभूत, सब दुःखों के मूल कारण इन काम, क्रोध और लोभ के त्याग के द्वारा समस्त आसुरी वृत्तियों का त्याग कर देना चाहिये ॥ २१ ॥

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ २२ ॥

हे कुन्तीपुत्र! इन नरक के तीनों द्वारों अर्थात् काम, क्रोध और लोभ से मुक्त हुआ पुरुष—

'यथाशास्त्रमनुद्वेगमाचरन्को न सिद्धिभाक्[1]'

[म उ० ५।८८]

शास्त्रानुसार अपने वर्णाश्रमानुकूल शान्तिपूर्वक कल्याण का अर्थात् कर्मयोग, भक्तियोग तथा ज्ञानयोग का सम्यक् आचरण करता हुआ,

रागद्वेषादिदोष त्यागेन मनः शुद्धि'

राग-द्वेषों (रागद्वेषादि दोषों) के त्याग से चित्तशुद्धि के द्वारा मोक्ष को प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

---

१. शास्त्रानुसार उद्वेग रहित आचरण करता हुआ कौन पुरुष सिद्धि को नहीं प्राप्त करता?

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ २३ ॥

क्यों—

'उच्छास्त्रमनर्थाय'[1] [मुक्ति० उ० २।१]

'श्रुत्याविरोधे नभवेत्प्रमाणं भवेदनर्थाय विना प्रमाणम्'[2]
[ब्र० वि० उ० १२]

शास्त्र-वेद के विधि-विधान अर्थात् प्रमाण को त्यागकर कामना से युक्त हो स्वेच्छानुसार वर्तता है अर्थात् शास्त्रविरुद्ध आचरण करता है, वह न तो चित्तशुद्धिरूपी सिद्धि को प्राप्त करता है, न इस लोक एवं परलोक के सुख को ही प्राप्त करता है और न परमगति-मोक्ष को ही प्राप्त करता है। तात्पर्य यह है कि वह स्वेच्छाचारी पुरुष स्वर्ग-अपवर्ग दोनों से भ्रष्ट हो अनर्थ—दुर्गति को ही प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ २४ ॥

इसलिये कार्य और अकार्य की व्यवस्था में अर्थात् क्या करणीय और क्या अकरणीय है ? इसमें श्रुति, स्मृति और पुराणादि ही प्रमाण हैं; क्योंकि—

'परमार्थाय शास्त्रितम्' [मुक्ति० उ० २।१]

'श्रुतिस्मृतिभ्यां सुजनो नियम्यते'[3] [स्मृति]

शास्त्रविहित पुरुषार्थ से ही परमार्थ सिद्ध होता है, अन्य प्रकार से नहीं। इसलिये विवेकी पुरुष परम प्रमाण एवं परम कल्याण के हेतुभूत श्रुति-स्मृति के द्वारा नियन्त्रित होकर ही सद्गति को प्राप्त होते हैं। देख—

---

१. शास्त्रविरुद्ध आचरण अनर्थ के लिये होता है।

२. शास्त्र के विरुद्ध प्रमाण प्रमाण नहीं होता और बिना प्रमाण का आचरण अनर्थ का कारण होता है।

३. श्रुति एवं स्मृति से सुजन का नियन्त्रण होता है।

श्रुत्याविरोधे न भवेत्प्रमाणं भवेदनर्थाय विना प्रमाणम्'
[अ० वि० उ० ३२]

'उच्छास्त्रमनर्थाय' [मुक्ति० उ० २।१]

शास्त्रविरुद्ध किसी की भी व्यक्तिगत बुद्धि प्रमाण नहीं हो सकती और यदि कोई शास्त्रविरुद्ध स्वच्छन्दबुद्धि से हर्षपूर्वक व्यापार करता भी है तो वह केवल उसके अनर्थ—दुर्गति के लिये ही होता है। इसलिये तुझे भी स्वच्छन्द बुद्धि को त्यागकर अपने वर्णाश्रमानुसार शास्त्रविधान—आज्ञा को जानकर इस स्थल में चित्तशुद्धिपर्यंत कर्म ही करना चाहिये ॥ २४ ॥

॥ सोलहवाँ अध्याय समाप्त ॥

———

सत्रहवाँ अध्याय

श्रद्धात्रय-विभाग-योग

॥ ॐ ॥

सत्रहवाँ अध्याय

पूर्वाध्याय के अन्त में—

'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः'
[गी० १६।२३]

से कहा गया कि जो शास्त्र-विधि को छोड़कर स्वेच्छानुसार वर्तता है, उसको परमार्थ—मोक्ष का अधिकार नहीं है, वैसे ही जो पुरुष शास्त्रज्ञान शून्य होने के कारण शास्त्र विधि को छोड़कर—

'यद्यदाचरति श्रेष्ठ स्तत्तदेवेतरो जनः'
[गी० ३।२१]

श्रेष्ठ पुरुषों के आचारानुसार स्वेच्छा बिना श्रद्धापूर्वक देवादि की उपासना करते हैं, उनकी कौनसी निष्ठा है ? क्या उन्हें मोक्ष-ज्ञान का अधिकार है, अथवा नहीं ? यह जानने के लिये अर्जुन बोला ।

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥ १ ॥

हे कृष्ण ! जो पुरुष शास्त्रज्ञान न होने के कारण शास्त्र-आज्ञा को त्याग करके श्रद्धा से युक्त हो—

'अश्रेष्ठः श्रेष्ठानुसारी'

['अश्रेष्ठ श्रेष्ठानुसारी होते हैं' इस न्याय से] श्रेष्ठ पुरुषों के व्यवहारानुसार देवादि की उपासना तथा वैदिक श्रौत-स्मार्त-कर्म करते हैं, उनकी क्या निष्ठा—स्थिति है ? सात्विक है, राजस है, अथवा तामस है ? अभिप्राय यह है कि वे सत्त्व यानी दैवी सम्पत्ति से युक्त मोक्ष के अधिकारी हैं अथवा

रख, तम यानी आसुरी सम्पत्ति से युक्त मोक्ष के अधिकारी नहीं हैं, यह बतलाने की कृपा कीजिये ॥ १ ॥

श्री भगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ २ ॥

श्री भगवान् बोले—हे अर्जुन ! सभी प्राणियों की त्रिगुणात्मक प्रकृति से जन्य अथवा प्राक्तन संस्कार से सृष्ट श्रद्धा भी सात्त्विकी, राजसी और तामसी ऐसे तीन प्रकार की होती है। जैसा कि कहा भी गया है—

'आयुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च।
पञ्चैतानि विलिख्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः ॥'

[आयु, कर्म, धन, विद्या और मृत्यु जब जीव गर्भ में रहता है तभी पूर्व-संस्कारानुसार लिख दिये जाते हैं] उनको तू मुझसे सुन ॥ २ ॥

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥

हे भारत ! सभी प्राणियों की श्रद्धा उनके अंतःकरण के अनुरूप ही होती है अर्थात् जिसके अंतःकरण में जिस गुण की प्रधानता होती है, उसकी श्रद्धा भी वैसी ही होती है। यह लौकिक पुरुष श्रद्धामय है तथा जिस मनुष्य की जैसी श्रद्धा होती है, वह स्वयं भी वही है अर्थात् उसका वही स्वरूप है, जैसा कि प्रत्यक्ष व्यवहार में भी देखा जाता है।

अभिप्राय यह है कि शास्त्रज्ञानशून्य सात्त्विक - श्रद्धा - संपन्न पुरुष भी दैवी सम्पत्ति से युक्त मोक्ष का अधिकारी है और राजस, तामस श्रद्धा से संपन्न पुरुष आसुरी सम्पत्ति से युक्त होने के कारण मोक्ष का अधिकारी नहीं है ॥ ३ ॥

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥

सात्त्विक यानी दैवी - सम्पत्ति - सम्पन्न पुरुष सत्त्वप्रकृतिवाले अग्नि एवं रुद्रादि देवताओं का पूजन करते हैं; राजस और तामस आसुरी वृत्तिवाले राजस और तामस प्रकृतिवाले यक्ष, राक्षस तथा प्रेत और भूतगणों की

उपासना करते हैं। इस प्रकार शास्त्रविधि को न जानकर कोई कोई श्रद्धालु पुरुष ही सात्विक निष्ठा से युक्त होते हैं, अन्यथा अधिकतर राजस और तामस निष्ठा से ही युक्त हो जाते हैं। जैसा कि भगवान् नीचे के पद से कह रहे हैं ॥ ४ ॥

> अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
> दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥

जो राजसी एवं तामसी पुरुष शास्त्रविधि से रहित स्वेच्छानुसार प्राणियों को भयभीत करनेवाले घोर तप को तपते हैं अर्थात् तप्तशिलाओं पर बैठने अथवा उपवास आदि के द्वारा अपने शरीर को सुखाते हैं, वे दम्भ—बाह्य वेष-भूषा तथा धर्मध्वजीपने से और अहंकार—विद्या, वर्ण, आश्रमादि से मैं उत्कृष्ट हूँ—इस बुद्धि से युक्त होकर तथा कामना—लोक-परलोक के विषयाभिलाष, राग—आसक्ति और बल—दुराग्रह से युक्त होकर ऐसे घोर तप को करते हैं ॥ ५ ॥

> कर्पयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
> मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥

वे मूर्ख शरीर में स्थित पृथ्वी आदि पञ्चभूत समुदाय को तथा शरीर के भीतर स्थित मुझ अन्तरात्मा को वृथा उपवास आदि के द्वारा कृश—दुःखी करते हैं अर्थात् मेरी आज्ञाओं का उल्लंघन करके मुझे कृश करते हैं, स्वरूपतः नहीं। इस प्रकार उन शास्त्रविरुद्ध घोर तप तपने वाले पातकी पुरुषों को तू आसुरी निश्चय वाला जान अर्थात् उन्हें असुर जान ॥ ६ ॥

> आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
> यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥

आहार भी सभी प्राणियों को अपनी - अपनी प्रकृति अर्थात् गुण के अनुसार ही तीन प्रकार का प्रिय होता है, वैसे ही यज्ञ, तप तथा दान भी अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार ही तीन प्रकार के प्रिय होते हैं। उनके इस भेद को तू मुझसे सुन।

अभिप्राय यह है कि राजस, तामस आहार और राजस, तामस यज्ञादि के त्याग के द्वारा तथा सात्विक आहार एवं सात्विक यज्ञादि के सेवन से बुद्धि को सात्विक, मोक्ष के योग्य बना लेना चाहिये ॥ ७ ॥

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥८॥

आयु—चिरजीवन की, सत्त्व—बुद्धि की, बल—देह, इंद्रियों की शक्ति की, आरोग्य—रोगाभाव की, सुख—चित्त की प्रसन्नता की और प्रीति—अभिरुचि की विशेष रूप से वृद्धि करनेवाले, रस्य—रसयुक्त मधुर, स्निग्ध—चिकने, स्थिर—स्थायी रहनेवाले अर्थात् जिसका सार रसरूप से शरीर में चिरकाल तक रहता हो ऐसे और हृद्य—हृदयंगम—मनोरम अर्थात् स्वभाव से ही मन को प्रिय लगनेवाले भक्ष्य, भोज्यादि सात्त्विक आहार सात्त्विक पुरुष को प्रिय होते हैं। जैसा श्रुति भी कहती है:—

'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवास्मृतिः
स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः'

[छा० उ० ७।२६।२]

आहार की शुद्धि होने पर बुद्धि की शुद्धि होती है और बुद्धि की शुद्धि होने पर निश्चल स्मृति होती है और स्मृति की प्राप्ति होने पर सम्पूर्ण ग्रंथियों की निवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार केवल आहार की शुद्धि से ही श्रुति परमात्मा की प्राप्ति बतलाती है। इसलिये मनुष्य को प्रयत्नतः सात्त्विक आहार का ही सेवन करना चाहिये ॥ ८ ॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥

अति कड़वे नीम आदि, अति खट्टे, अतिलवणयुक्त, अतिउष्ण, अतितीक्ष्ण लालमिर्च आदि, अतिरूखे—निःस्नेह काँगनी—टाँगुन आदि, अतिदाहकारक सरसों आदि आहार राजस पुरुष को प्रिय होते हैं, जो कि तात्कालिक हृदय-संताप रूप दुःख और पश्चात् दुर्मनस्तारूप शोक तथा रोग को उत्पन्न करनेवाले होते हैं ॥ ९ ॥

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ १० ॥

यातयाम—अधिकदेर का रखा हुआ या अधपका, गतरस—रसरहित अर्थात् अधिक पका हुआ, पूति—दुर्गन्धियुक्त, पर्युषित—बासी, उच्छिष्ट—जूठा

तथा अमेध्य—अपवित्र, यज्ञ के अयोग्य अभक्ष्य मांस आदि तमोगुणी आहार तामसी पुरुष को प्रिय होते हैं ॥ १० ॥

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥११॥

फल की कामना से रहित पुरुषों के द्वारा जो श्रद्धा-भक्तिसमन्वित शास्त्र-विधि से युक्त यज्ञ भगवदर्थ अपना कर्तव्य समझकर मन को समाहित—निश्चल करके किया जाता है, वह सात्त्विक है ॥ ११ ॥

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ १२ ॥

हे भरत श्रेष्ठ ! जो फल के उद्देश्य से अर्थात् स्वर्ग तथा कीर्ति के लिये और दम्भ—पाखण्ड के लिये किया जाता है, उस यज्ञ को तू राजस जान ॥ १२ ॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १३ ॥

और जो यज्ञ शास्त्रविधि से रहित तथा जिसमें ब्राह्मणों को अन्नदान भी नहीं दिया जाता तथा जो मन्त्रहीन, दक्षिणारहित और श्रद्धा से शून्य है, उस यज्ञ को तामस कहते हैं ॥ १३ ॥

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥

देव—अग्नि, रुद्र, आदित्यादि; द्विज—ब्राह्मण; गुरु—माता, पिता एवं आचार्यादि और प्राज्ञ—ब्रह्मवेत्ताओं का पूजन अर्थात् , प्रणाम, शुश्रूषा तथा अन्नादि से आराधना; शौच—जल-मिट्टी से शरीर की पवित्रता; आर्जव—सरलता; ब्रह्मचर्य एवं अहिंसा—प्राणियों को पीड़ा न देना; यह शारीर सम्बन्धी तप कहा गया है ॥ १४ ॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥

दूसरों को उद्वेग—दुःख न पहुँचाने वाला, मधुर, सत्य—यथार्थ भाषण, प्रिय—कान को प्रिय लगनेवाला और हितकारक वाक्य बोलना अर्थात्

अनुद्वेगकरत्व, सत्यत्व, प्रियत्व और हितत्व इन चार विशेषणों से विशिष्ट वाक्य का उच्चारण वाणी सम्बन्धी तप है। तथा स्वाध्याय का अभ्यास—आवृत्ति अर्थात् वेद-शास्त्रों का पढ़ना और पढ़ाना यह भी वाणी ही सम्बन्धी तप कहलाता है ॥१५॥

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१६॥

मन की प्रसन्नता अर्थात् राग-द्वेष से मुक्त मन की शान्त स्वस्थावस्था, सौम्यता—सरलता—मुदिता, मौन—एकाग्रतापूर्वक सगुण अथवा निर्गुण ब्रह्म का मनन—चिन्तन करना, आत्मविनिग्रह—मन का प्रत्याहार अर्थात्—

'सर्वविषयपराङ्मुखत्वं प्रत्याहारः'

[शा० उ० ११६६]

सर्वविषयों से मन का पराङ्मुख होना, भावसंशुद्धि—हृदय का काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विकारों से रहित शुद्ध होना अथवा छल-छिद्र रहित होकर सर्वत्र सबसे शुद्ध व्यवहार करना—इसको मानसिक तप कहते हैं ॥१६॥

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥१७॥

फल की आकांक्षा से रहित, सिद्धि-असिद्धि में निर्विकार समाहित चित्त से उत्कृष्ट श्रद्धा के साथ जो तीन प्रकार का तप शरीर, वाणी और मन के द्वारा पुरुषों से तपा जाता है, उस तप को सात्त्विक कहते हैं ॥१७॥

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१८॥

जो तप सत्कार—'यह साधु है, तपस्वी है अथवा ब्राह्मण है' इस प्रकार अविवेकियों के द्वारा अपनी स्तुति के लिये; मान—प्रत्युत्थान तथा अभिवादन आदि के लिये; पूजा—पाद-प्रक्षालन, अर्चन, दक्षिणा से अपनी पूजा के लिये केवल दम्भ—धर्मध्वजीपने से और वेष-भूषा आदि के प्रकाशन से, न कि सात्त्विक बुद्धि से किया जाता है, वह चल—अनित्य और अध्रुव—तात्कालिक क्षणिक फल प्रदान करनेवाला तप यहाँ राजस कहा गया है ॥१८॥

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१६॥

जो तप मूढ़तापूर्वक दुराग्रह से शरीर को पीड़ा पहुँचाकर अथवा दूसरे का अनिष्ट करने के लिये किया जाता है, वह तामस कहा जाता है ॥१६॥

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥

'जो दान शास्त्रादेशानुसार देना कर्तव्य है' ऐसी बुद्धि से अपना उपकार न करनेवाले को शुद्धदेश, काल तथा पात्र का विचार करके दिया जाता है अर्थात् कुरुक्षेत्रादि तीर्थ में, संक्रान्ति आदि काल में सत्पात्र—विद्या-विनय-सम्पन्न ब्राह्मण को दिया जाता है, वह सात्त्विक दान कहा गया है ॥२०॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥

जो दान प्रत्युपकार की दृष्टि से तथा मान, बड़ाई और स्वर्गादि की प्राप्ति के उद्देश्य से क्लेश—दुःखपूर्वक पश्चात्तापयुक्त दिया जाता है, वह राजस दान कहा गया है ॥२१॥

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

और जो दान अयोग्य देश, काल में अर्थात् अशुद्ध देश में और अशुद्ध काल में विद्या-विनय-शून्य अभक्ष्य भक्षण करनेवाले तथा आचरणभ्रष्ट नट आदि कुपात्रों को बिना सत्कार के अर्थात् बिना अर्घ्यपाद्यादि पूजन के और अपमानपूर्वक दिया जाता है, वह तामस कहा गया है ॥२२॥

अब असात्त्विक और विगुण यज्ञ, दान और तप आदि को भी सात्त्विक और सगुण बनाने के लिये ब्रह्म के अत्यन्त पवित्र और श्रेष्ठतम तीन नामों का निर्देश किया जा रहा है ।

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३॥

'ॐ' 'तत्' 'सत्' यह तीन प्रकार का अत्यन्त पवित्र और उत्कृष्टतम

सच्चिदानन्दघन ब्रह्म का निर्देश—नाम कहा गया है। उन्हीं से सृष्टि के आदि में ब्राह्मण, ऋगादि वेद और श्रौत स्मार्त रूप यज्ञ रचे गये ॥२३॥

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ २४ ॥

इसलिये वेदवादियों के द्वारा शास्त्रविधि से नियत की हुई यज्ञ, दान और तप रूप क्रियायें सदा—

'ओमितिब्रह्म' [तै० उ० १.८।१]

'ओम्' इस श्रुति प्रसिद्ध ब्रह्म के नाम का उच्चारण करके ही आरंभ की जाती हैं ॥ २४ ॥

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपः क्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ॥ २५ ॥

'तत्त्वमसि' [छा० उ० ६ ८।७]

इस श्रुति से प्रसिद्ध तत्, ऐसे इस ब्रह्म के नाम का उच्चारण करके मुमुक्षुओं के द्वारा कर्म फल की अपेक्षा से रहित हो, ईश्वरार्पणबुद्धि से अंतःकरण की शुद्धि के लिये नाना प्रकार की यज्ञ, तपरूप क्रियायें तथा दान रूप क्रियायें की जाती हैं ॥ २५ ॥

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥ २६ ॥

'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्'
[छा० उ० ६।२।१]

इस श्रुति प्रसिद्ध 'सत्' ऐसे इस ब्रह्म के नाम का सद्भाव में—अस्तित्व में अर्थात् 'यह देवदत्त का पुत्र है' इस अर्थ में अथवा अविद्यमान वस्तु की विद्यमानता में तथा साधुभाव—श्रेष्ठभाव में प्रयोग किया जाता है। तथा हे पार्थ ! लौकिक प्रशस्त माङ्गलिक विवाह आदि शुभ कर्मों में भी 'सत्' शब्द का प्रयोग किया जाता है ॥ २६ ॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥ २७ ॥

तथा यज्ञ, तप और दान में जो स्थिति—तत्परता युक्त निष्ठा है, वह भी सत् है; ऐसा विद्वानों के द्वारा कहा जाता है। तथा उपर्युक्त तीन नामों से कहे जाने वाले सच्चिदानन्दघन ब्रह्म के लिये जो कर्म है अर्थात् ईश्वरार्थ जो कर्म किया जाता है, वह भी सत् है, यह भी कहा जाता है ॥२७॥

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥ २८ ॥

हे पार्थ ! बिना श्रद्धा के श्रौत-स्मार्त कर्मों में किया हुआ हवन; ब्राह्मणों को दिया हुआ दान, शरीर, वाणी आदि से तपा हुआ तप तथा और भी जो कुछ किया हुआ स्तोत्र, मंत्र जप, तथा स्तुति, नमस्कारादि कर्म है, वह सब मुझ सत् परमात्मा की प्राप्ति का हेतु न होने के कारण असत्—निष्फल कहा गया है। क्योंकि—

भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धया'

[श्री० भा० ११।१४।२१]

मैं केवल अनन्य श्रद्धा और भक्ति से ही ग्राह्य हूँ। इसलिये उपर्युक्त कर्म न तो मरने के पश्चात् परलोक के सुख का हेतु होता है और न तो साधु पुरुषों से निन्दित अपयश का हेतु होने के कारण इस लोक में ही सुख का हेतु होता है। इसलिए विवेकियों को संपूर्ण सात्त्विक कर्मों को सात्त्विक श्रद्धा से ही करनी चाहिए, क्योंकि श्रद्धा से किया हुआ कर्म ही सार्थक, सुख, शान्ति का हेतु होता है ॥ २८ ॥

॥ सत्रहवाँ अध्याय समाप्त ॥

॥ ॐ ॥

अठारहवाँ अध्याय

पूर्व के अध्यायों में—

'सर्वं कर्माणि मनसा संन्यस्य' [गी० ५।१३]

'संन्यासयोगयुक्तात्मा' [गी० ६।२८]

इत्यादि पदों से सर्व कर्मसंन्यास का और—

'त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गम्' [गी० ४।२०]

'सर्वकर्मफलत्यागम्' [गी० १२।११]

आदि पदों से सर्व कर्मफल के त्याग के द्वारा कर्मों के अनुष्ठान का उपदेश दिया गया है, परन्तु वह स्पष्टतया पृथक्-पृथक् करके नहीं बतलाया गया। इसलिये अर्जुन सम्पूर्ण गीतोपनिषद् के इस सार अध्याय में संन्यास और त्याग का विभागपूर्वक स्वरूप समझने के लिये श्री भगवान् से बोला।

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥

अर्जुन बोला—हे महाबाहो ! हे हृषीकेश ! हे केशिनिषूदन !

'सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्य' [गी० ५।१३]

'संन्यासयोगयुक्तात्मा' [गी० ६।२८]

'सब कर्मों को मन से त्यागकर' 'संन्यासयोग से युक्त मनवाला' आदि पदों से कथित संन्यास और—

'त्यक्त्वाकर्मफलासङ्गम्' [गी० ४।२०]

'सर्वकर्मफलत्यागम्' [गी० १२।११]

'कर्मफल के संग को छोड़कर' 'समस्त कर्मों के फल को त्यागकर' आदि पदों से कथित त्याग के वास्तविक स्वरूप को अलग-अलग सात्विक, राजस

आदि भेद से विभागपूर्वक जानना चाहता हूँ, इसलिये बतलाने की कृपा करें ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ २ ॥

श्री भगवान् बोले—हे अर्जुन !

'पुत्रकामो यजेत'
'स्वर्गकामो यजेत'

'पुत्र की कामनावाला यज्ञ करे' 'स्वर्ग की कामनावाला यज्ञ करे' इस प्रकार कितने विद्वान् विहित काम्यकर्मों के न्यास—परित्याग को ही चित्तशुद्धि का साधन होने के कारण गृहस्थों का संन्यास कहते हैं। तथा कितने ही बुद्धिमान् पुरुष काम्य-अकाम्य, नित्य-नैमित्तिक सम्पूर्ण कर्मों के फल के त्याग को ही संन्यास कहते हैं, स्वरूपतः कर्मों के त्याग को नहीं अर्थात् सत्वशुद्धयर्थ ईश्वरार्पणबुद्धि से सब कर्मों के फल का त्याग करते हैं ॥ २ ॥

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥

तथा कितने ही सांख्यमतावलम्बी विद्वान् कहते हैं- कि दोषवत् यानी हिंसा आदि दोष के समान केवल बन्धन के ही हेतु होने के कारण विरक्तों के लिए यज्ञ, दान आदि सभी कर्म त्याज्य हैं। जैसा कि कहा भी गया है—

'किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोक इति
ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च
व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति'

[बृ० उ० ४।४।२२]

'कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते।
तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः ॥'

[सं० उ० २।९८]

'हमें प्रजा से क्या लेना है, जिन हमको कि यह आत्मलोक अभीष्ट है, अतः वे पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा से व्युत्थान कर फिर भिक्षाचर्या करते

से।' 'कर्म से जीव बँधता है और विद्या से मुक्त होता है, इसलिये तत्वदर्शी महात्मा कर्म नहीं करते।'

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः।
न चास्ति किंचित्कर्तव्यम्' [श्री जा० उ० १।२३]
'द्वाविमौ न विरज्येते विपरीतेन कर्मणा।
निरारम्भो गृहस्थश्चकार्यवांश्चैव भिक्षुकः॥
[ना० प० उ० ६।३०]
'प्रवृत्ति लक्षणं कर्म ज्ञानं संन्यासलक्षणम्'
[ना० प० उ० ३।१६]
'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः'
[कै० उ० १।३]
'लोकत्रयेऽपि कर्तव्यं किंचिन्नास्त्यात्मवेदिनाम्'
[श्री जा० उ० १।२४]

'ज्ञानरूपी अमृत से तृप्त एवं कृतार्थ हुये योगी के लिये कोई भी कर्तव्य शेष नहीं रहता।' 'कर्म न करनेवाला गृहस्थ और कर्मपरायण भिक्षुक—ये दोनों अपने आश्रम के विपरीत व्यवहार करने के कारण कभी शोभा नहीं पाते।'

'कर्म प्रवृत्तिलक्षण है और ज्ञान संन्यास लक्षण है अर्थात् कर्म का लक्षण प्रवृत्ति है और ज्ञान लक्षण संन्यास है।'

'अमृतत्व की प्राप्ति न कर्म से, न संतान अथवा धन से होती है, किन्तु केवल एक त्याग से ही होती है।'

'आत्मज्ञ महात्माओं के लिये तीनों लोकों में भी कोई कर्तव्य नहीं है।'

'तस्य कार्यं न विद्यते' [गी० ३।१७]
'सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्य' [गी० ५।१३]
'योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते'
'तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥'
[श्री० भा० ११।२०।६]

'ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षकः।
सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचरः॥'
[श्री० भा० ११।१८।२८]

'जिज्ञासायां संप्रवृत्तो नाद्रियेत्कर्मचोदनाम्'

'निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः'

'उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है' 'सब कर्मों को मन से त्याग कर' 'ज्ञान में आरूढ़ उसी मुनि के लिये कैवल्य की प्राप्ति में शम कारण कहा गया है।' 'जब तक वैराग्य न हो अथवा जब तक मेरी कथा के श्रवण में श्रद्धा न उत्पन्न हो, तब तक कर्म करे।' 'ज्ञाननिष्ठ, विरक्त और मोक्ष की भी अपेक्षा से रहित मेरा भक्त लिङ्गसहित आश्रमों को छोड़कर वेदशास्त्र के विधि-निषेध से मुक्त होकर स्वतन्त्र विचरे।' 'जिज्ञासा में प्रवृत्त पुरुष कर्म-सम्बन्धी विधि-विधान का आदर न करे।'

'गुणातीत मार्ग पर विचरनेवाले को क्या विधि और क्या निषेध?' इस प्रकार संसार से विरक्त पुरुषों के लिये कर्म की विधि नहीं है।'

तथा कुछ दूसरे विद्वान् कहते हैं कि मुमुक्षुओं को यज्ञ, दान और तपरूप कर्म चित्तशुद्धि का हेतु होने के कारण त्याज्य नहीं है। जैसा कि कहा भी गया है:—

'ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन'
[बृ० उ० ४।४।२२]

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः'
[ई० उ० २]

'यान्यनवद्यानि कर्माणि॥ तानि सेवितव्यानि॥'
[तै० उ० १।११।२]

'ब्राह्मण यज्ञ, दान एवं अखण्ड तप से ब्रह्मतत्त्व को जानने की इच्छा करते हैं' 'इस लोक में कर्म करते हुये सौ वर्ष जीने की इच्छा करे।' 'जो दोषरहित कर्म हैं, उनको करना चाहिये।'

'सत्यं वद॥ धर्मं चर॥' [तै० उ० १।११।१]

'सत्यान्न प्रमदितव्यम्॥ धर्मान्न प्रमदितव्यम्॥'
[तै० उ० १।११।१]

एकाहं जपहीनस्तु संध्याहीनो दिनत्रयम्।
द्वादशाहमनग्निश्च शूद्र एव न संशयः॥
त्र्यहं सन्ध्यारहितो द्वादशाहं निरग्निकः।
चतुर्वेदधरो विप्रः शूद्र एव न संशयः॥
तस्मात् लङ्घयेत्संध्यां सायं प्रातः समाहितः।
उल्लङ्घयति यो मोहात्स याति नरकं ध्रुवम्॥' [श्रुति]

'सत्य बोलो, धर्म करो' 'सत्य से प्रमाद नहीं करना चाहिये, धर्म से प्रमाद नहीं करना चाहिये' 'एक दिन जपहीन, तीन दिन संध्याहीन और बारह दिन बिना अग्नि का द्विज शूद्र ही है, इसमें संशय नहीं करना चाहिये। तीन दिन सन्ध्यारहित, बारहदिन निरग्निक रहनेवाला चार वेद को धारण करने वाला ब्राह्मण भी शूद्र हो हो जाता है, इसमें संशय नहीं है। इसलिये सायं और प्रातःकाल की संध्या का समाहित पुरुष उल्लंघन न करे, जो मोह से उल्लंघन करता है, वह निश्चय नरक में जाता है।'

धर्मेण पापमपनुदन्ति धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं
तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति'
[म० ना० उ० २२।१]

'वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः।'
[म० स्मृ० ४।१४]

'अकृत्वा वैदिकं नित्यं प्रत्यवायी भवेन्नरः'
'तत्यागी पतितो भवेत्' [स्मृति]

'श्रौतं चापि तथा स्मार्तं कर्मालस्य यसेद्द्विजः।
तद्विहीनः पतत्येव ह्यालम्बरहितान्धवत्॥' [स्मृति]

'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' [श्रुति]
'अहरहः संध्यामुपासीत' [श्रुति]
सायंप्रातरग्निहोत्रं जुहोति' [श्रुति]

'धर्म के द्वारा पाप का नाश करते हैं, धर्म में ही सब प्रतिष्ठित हैं, इसीलिये धर्म को सर्वश्रेष्ठ कहते हैं।'

'वेदोक्त स्वकीयकर्मों का आलस्यरहित होकर नित्य अनुष्ठान करे।' 'वैदिक नित्य कर्मों का अनुष्ठान न कर मनुष्य प्रत्यवायी होता है।' 'स्वधर्म का त्याग करनेवाला पतित होता है।' 'द्विज श्रौत और स्मार्त का अवलम्बन करके रहे, उससे विहीन आलम्बन रहित अन्धे की नाईं गिर जाता है।' 'जब तक जीवे तब तक अग्निहोत्र करे।' 'प्रतिदिन सन्ध्या करे' 'सायं और प्रातःकाल अग्निहोत्र करे।'

'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्मकारणमुच्यते' [गी० ६।३]

'योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये' [गी० ५।११]

'ज्ञानयोग को प्राप्त करने की इच्छा वाले मुनि के लिए अर्थात् जो अभी संसार से विरक्त नहीं हुआ है, उसके लिये ज्ञानयोग की प्राप्ति में कर्म कारण कहा जाता है।'

'योगीजन अन्तःकरणशुद्धयर्थं आसक्ति का त्याग करके कर्म करते हैं।' इस न्याय से रागी पुरुषों को कर्म करने का ही आदेश है ॥ ३ ॥

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥ ४ ॥

हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ! इस प्रकार त्याग के विषय में बहुत मतभेद है, इसका यथार्थ निश्चय करने में अन्य कोई समर्थ नहीं है। इसलिये इस विषय में तू मुझ सर्वज्ञ ईश्वर के निश्चय को सुन। हे पुरुष श्रेष्ठ! वह त्याग सात्त्विक, राजस और तामस भेद से तीन प्रकार का कहा गया है ॥ ४ ॥

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥

'त्रयोधर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानम्' [छा० उ० २।२३।१]

'तपो हि स्वाध्यायः' [श्रुति]

ये तीन धर्म के स्कन्ध यज्ञ, दान और तप—स्वाध्याय रूप नित्य वैदिक कर्म आरुरुक्षु गृहस्थों के लिये कभी भी त्यागने के योग्य नहीं है; किन्तु—

'द्विजातीनामध्ययनमिज्या दानम्' [गौ० स्मृ० १०]
'अहरहः संध्यामुपासीत' [श्रुति]
'उदिते सूर्ये प्रातुर्जुहोति' [श्रुति]
'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' [श्रुति]

"द्विजातियों का अध्ययन, इज्या, दान, 'प्रतिदिन संध्या करे' 'सूर्योदय होने पर प्रातः हवन करे' 'जीवनपर्यन्त अग्निहोत्र करे' इस श्रुति-कथित वाक्यानुसार श्रद्धा-भक्ति समन्वित नित्य वैदिक कर्म करना चाहिये; क्योंकि—

'यज्ञादयोऽपि सद्धर्माश्चित्तशोधनकारकाः[१]।
फलरूपा च मद्भक्तिस्तां लब्ध्वा नावसीदति ॥'
[ग० पु०]

फल की अपेक्षा से रहित ईश्वरार्पण बुद्धि से किये गये यज्ञ, दान और तप रूप कर्म—ये तीनों ही अन्तःकरण के शोधक तथा फल में भक्ति तथा मोक्ष के हेतु होने के कारण बुद्धिमान् पुरुषों को पावन करनेवाले हैं, इसलिये गृहस्थ मुमुक्षुओं को अवश्य करना चाहिये ॥ ५ ॥

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥

इसलिये हे पार्थ !

'वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः ।
तद्धि कुर्वन्यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम्' ॥
[ग० स्मृ० ४।१४]

ये यज्ञ, दान और तपरूप वैदिक कर्म चित्तशुद्धि तथा मोक्ष के हेतु होने के कारण कर्तृत्वाभिनिवेशशून्य होकर, फल का त्याग करके, ईश्वरार्पण बुद्धि से, सावधानीपूर्वक अवश्य करणीय हैं। यह मुझ सर्वलोकमहेश्वर का निश्चित किया हुआ उत्कृष्टतम मत है ॥ ६ ॥

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥

---

१. यज्ञ, दानादि श्रेष्ठधर्म चित्त की शुद्धि करनेवाले हैं और मेरी भक्ति फलरूपा है, उसको प्राप्त करके कभी दुःखी नहीं होता।

नियत—शास्त्रविहित कर्मों का त्याग करना उचित नहीं है; क्योंकि अज्ञानी—रागी पुरुषों के लिये नियत कर्म सत्त्वशुद्धि तथा मोक्ष का कारण है। इसलिये मोह—अज्ञान से अविरक्त पुरुषों के द्वारा उसका त्याग तामस कहा गया है। क्योंकि—

'सरागो नरकं याति'

[ना० प० उ० ३।१३]

[इस न्यायानुसार] रागी पुरुष कर्मों का त्याग करके भी मोक्ष को न प्राप्त करके नरक को ही प्राप्त करता है ॥ ७ ॥

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ८ ॥

जो सम्पूर्ण कर्मों को दुःख रूप समझकर अर्थात् कर्मों के करने में अधिक परिश्रम और दुःख उठाना पड़ता है, ऐसा समझकर शरीर के क्लेश के भय से कर्मों का त्याग कर देता है, वह—

'न सुखाल्लभ्यते सुखम्'

'सुख से सुख नहीं प्राप्त किया जाता' इस न्याय से शरीर को सुखी रखनेवाला आलसी पुरुष इस राजस त्याग का करके भी त्याग के फल मोक्ष—परमात्मा को नहीं प्राप्त करता अर्थात् उसका त्याग व्यर्थ हो जाता है ॥ ८ ॥

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ ९ ॥

हे अर्जुन ! विहित के अनुल्लंघन और मोक्ष के लिये कार्य करना कर्तव्य है, ऐसा समझकर जो शास्त्रविहित वर्णाश्रमोचित कर्म को कर्तृत्वाभिमान के संग और फल को त्याग करके ईश्वरार्पण बुद्धि से सत्त्वशुद्ध्यर्थ किया जाता है, वह सात्त्विक त्याग माना गया है ॥ ९ ॥

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥१०॥

इस प्रकार जब कर्तृत्वाभिमान और फल का त्यागी पुरुष अन्तःकरण शुद्ध्यर्थ ईश्वरार्पण बुद्धि से विहित कर्मानुष्ठान के कारण सम्यक् ज्ञान के प्रतिबन्धक रज, तम के मल से रहित विशुद्धसत्त्वसंयुक्त, आत्म-अनात्म ज्ञान

को धारण करने में पूर्ण समर्थ, विवेक, वैराग्यादि साधन चतुष्टय सम्पन्न, सद्गुरु की कृपा कटाक्ष से श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन के द्वारा—

'अहं ब्रह्मास्मि' [बृ० उ० १।४।१०]

'मैं ब्रह्म हूँ', इस ब्रह्मात्मैक्य—

'निर्विकल्पा च चिन्मात्रा वृत्तिः प्रज्ञेति कथ्यते'
[अ० उ० ४४]

निर्विकल्प चिन्मात्र वृत्तिरूप प्रज्ञा—मेधा से युक्त होकर मेधावी—स्थित प्रज्ञ हो जाता है, तब—

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥'
[मु० उ० २।२।८]

उसकी चिद्-जड़ ग्रंथि अर्थात् जीवत्व भाव नष्ट हो जाता है तथा उसके सारे *संशय अर्थात्* कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि धर्म *आत्मा के हैं अथवा अनात्मा के,* आत्मा संसर्गी है या असंसर्गी, मोक्ष का कारण कर्म है या उपासना, योग है अथवा ज्ञान तथा परमात्मा आत्मा में भेद है अथवा अभेद, बन्ध-मोक्ष सत्य है अथवा असत्य, इत्यादि ये संपूर्ण संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं तथा उसके संपूर्ण कर्म—

'सर्वमिदमहं च वासुदेवः'

'यह सब और मैं वासुदेव ही हूँ', इस सर्वात्मदर्शन के कारण क्षीण हो जाते हैं। इसीलिये वह अकुशल-काम्य-निषिद्ध कर्म से द्वेष नहीं करता और न तो कुशल—नित्यविहित कर्म से प्रीति ही करता है, किंतु वह कर्तृत्वाभिमान-शून्य निर्विकार पुरुष—

'दोषबुद्ध्योभयातीतो निषेधान्न निवर्तते।
गुणबुद्ध्या च विहितं न करोति यथाऽर्भकः॥'
[श्री० भा० ११।७।११]

बालकवत् निषिद्ध—अकुशल कर्म से निवृत्ति होता है, परन्तु दोषबुद्धि से नहीं अर्थात् निषिद्ध कर्म नरकादि दुर्योनि के हेतु हैं—इस दोष बुद्धि से

नियत—शास्त्रविहित कर्मों का त्याग करना उचित नहीं है; क्योंकि अज्ञानी—रागी पुरुषों के लिये नियत कर्म सत्त्वशुद्धि तथा मोक्ष का कारण है। इसलिये मोह—अज्ञान से अविरक्त पुरुषों के द्वारा उसका त्याग तामस कहा गया है। क्योंकि—

'सरागो नरकं याति'

[ना० प० उ० ३।१३]

[इस न्यायानुसार] रागी पुरुष कर्मों का त्याग करके भी मोक्ष को न प्राप्त करके नरक को ही प्राप्त करता है ॥ ७ ॥

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ८ ॥

जो सम्पूर्ण कर्मों को दुःख रूप समझकर अर्थात् कर्मों के करने में अधिक परिश्रम और दुःख उठाना पड़ता है, ऐसा समझकर शरीर के क्लेश के भय से कर्मों का त्याग कर देता है, वह—

'न सुखाल्लभ्यते सुखम्'

'सुख से सुख नहीं प्राप्त किया जाता' इस न्याय से शरीर को सुखी रखनेवाला आलसी पुरुष इस राजस त्याग का करके भी त्याग के फल मोक्ष—परमात्मा को नहीं प्राप्त करता अर्थात् उसका त्याग व्यर्थ हो जाता है ॥ ८ ॥

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ ९ ॥

हे अर्जुन ! विहित के अनुल्लंघन और मोक्ष के लिये कार्य करना कर्तव्य है, ऐसा समझकर जो शास्त्रविहित वर्णाश्रमोचित कर्म को कर्तृत्वाभिमान के संग और फल को त्याग करके ईश्वरार्पण बुद्धि से सत्त्वशुद्ध्यर्थ किया जाता है, वह सात्त्विक त्याग माना गया है ॥ ९ ॥

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥१०॥

इस प्रकार जब कर्तृत्वाभिमान और फल का त्यागी पुरुष अन्तःकरण शुद्ध्यर्थ ईश्वरार्पण बुद्धि से विहित कर्मानुष्ठान के कारण सम्यक् ज्ञान के प्रतिबन्धक रज, तम के मल से रहित विशुद्धसत्त्वसंयुक्त, आत्म-अनात्म ज्ञान

को धारण करने में पूर्ण समर्थ, विवेक, वैराग्यादि साधन चतुष्टय सम्पन्न, सद्गुरु की कृपा कटाक्ष से श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन के द्वारा —

'अहं ब्रह्मास्मि' [बृ० उ० १।४।१०]

'मैं ब्रह्म हूँ' इस ब्रह्मात्मैक्य—

'निर्विकल्पा च चिन्मात्रा वृत्तिः प्रज्ञेति कथ्यते'

[अ० उ० ४४]

निर्विकल्प चिन्मात्र वृत्तिरूप प्रज्ञा—मेधा से युक्त होकर मेधावी— स्थित प्रज्ञ हो जाता है, तब—

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥'

[मु० उ० २।२।८]

उसकी चिद्-जड़ ग्रंथि अर्थात् जीवत्व भाव नष्ट हो जाता है तथा उसके सारे संशय अर्थात् कर्तृत्व - भोक्तृत्वादि धर्म आत्मा के हैं अथवा अनात्मा के, आत्मा संसर्गी है या असंसर्गी, मोक्ष का कारण कर्म है या उपासना, योग है अथवा ज्ञान तथा परमात्मा आत्मा में भेद है अथवा अभेद, बन्ध-मोक्ष सत्य है अथवा असत्य, इत्यादि ये संपूर्ण संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं तथा उसके संपूर्ण कर्म—

'सर्वमिदमहं च वासुदेवः'

'यह सब और मैं वासुदेव ही हूँ', इस सर्वात्मदर्शन के कारण क्षीण हो जाते हैं। इसीलिये वह अकुशल-काम्य-निषिद्ध कर्म से द्वेष नहीं करता और न तो कुशल—नित्यविहित कर्म से प्रीति ही करता है, किंतु वह कर्तृत्वाभिमान-शून्य निर्विकार पुरुष—

'दोषबुद्ध्योभयातीतो निषेधान्न निवर्तते ।
गुणबुद्ध्या च विहितं न करोति यथाऽर्भकः ॥'

[श्री० भा० ११।७।११]

बालकवत् निषिद्ध—अकुशल कर्म से निवृत्ति होता है, परन्तु दोषबुद्धि से नहीं अर्थात् निषिद्ध कर्म नरकादि दुर्योनि के हेतु है—इस दोष बुद्धि से

नहीं। तथा स्वभावतः विहित—कुशल कर्म का अनुष्ठान भी करता है, किंतु गुण बुद्धि से नहीं अर्थात् विहित धर्म मोक्ष के हेतु हैं—इस गुण बुद्धि से नहीं; क्योंकि उसे यह अनुभव है कि—

'बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः।
गुणस्य मायामूलत्वान्न मे मोक्षो न बंधनम्॥'
[श्री० भा० ११।११।१]

बन्ध-मोक्ष सत्त्वादि गुण से ही है, वस्तुतः आत्मदृष्टि से नहीं। सभी गुण मायामूलक हैं, इसलिये मुझ गुणातीत, साक्षी, निर्विकार आत्मा का न बन्ध है और न मोक्ष ही।

इस प्रकार वह महात्मा कुशल—अकुशल समस्त द्वन्द्वात्मक कर्मों से अतीत हो, सदैव अपने साक्षित्व तथा निष्क्रियत्व में ही सम, शान्त रूप से स्थित रहता है॥१०॥

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥११॥

कोई भी देहभृत—देह का धारण करनेवाला अर्थात् 'मैं मनुष्य हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं गृहस्थादि आश्रमी हूँ'—इस अभिमान से युक्त आत्मज्ञानशून्य देहाभिमानी पुरुष कर्मप्रवृत्ति के मूल हेतु राग-द्वेष के बाहुल्य के कारण विहित-अविहित तथा काम्यादि कर्मों को सम्पूर्णता से त्यागने में समर्थ नहीं है। जैसा पूर्वाध्याय में कहा भी गया है कि—

'न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्'
[गी० ३।५]

कोई भी अज्ञानी पुरुष क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता। इसलिये जो आत्मज्ञानशून्य कर्माधिकारी पुरुष सत्त्वशुद्धयर्थ ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्मफल का त्याग करने वाला है; वही त्यागी—संन्यासी है। [यह केवल कर्मफल त्यागी की स्तुतिमात्र है, वस्तुतः वह मुख्य त्यागी—संन्यासी नहीं है; क्योंकि उसको कर्ता, कर्म, क्रिया इस त्रिपुटी से भिन्न साक्षी निष्क्रिय आत्मा का ज्ञान नहीं है] इसीलिये शरीर को ही अपना स्वरूप मानने वाला वह देहाभिमानी अपने को शरीर की चेष्टा से चेष्टावान् मानता है; किन्तु आत्म-

अनात्म विवेक-विज्ञान सम्पन्न आत्माभिमानी—स्वरूपनिष्ठ पुरुष अपने निष्क्रियत्व तथा साक्षित्व में स्थित होने के कारण शरीर की चेष्टाओं से अपने को चेष्टावान् नहीं मानता। इसलिये उस आत्मवेत्ता के लिये—

'तस्य कार्यं न विद्यते' [गी० ३।१७]

'लोकत्रयेऽपि कर्तव्यं किंचिन्नास्त्यात्मवेदिनाम्'
[श्रीजा० उ० १।२४]

त्रैलोक्य में किंचित् मात्र भी कर्तव्य नहीं है।

अभिप्राय यह है कि बिना आत्मा के निष्क्रियत्व, निर्विकारत्व एवं असंगत्व का अपरोक्ष ज्ञान हुये कोई भी पुरुष कर्मों का अशेषतः त्याग नहीं कर सकता ॥११॥

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥१२॥

अनिष्ट—नरक, तिर्यगादि; इष्ट—स्वर्गादि और इष्ट-अनिष्ट मिश्रित—मनुष्यलोक, ऐसे तीन प्रकार का कर्मों का फल अत्यागियों को अर्थात् जो कर्तृत्वाभिमान, कर्मासक्ति तथा फलासक्ति के त्याग से रहित हैं, उन सकामियों को मरने के पश्चात् प्राप्त होता है। परन्तु जो कर्तृत्वाभिमानशून्य, कर्मासक्ति तथा फलासक्ति के त्याग के द्वारा ईश्वरार्थ कर्म करने के कारण विशुद्धसत्त्व हो, सम्यग्ज्ञाननिष्ठा से युक्त हो चुके हैं अर्थात् जो—

'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा'
[गी० ४।३७]

'दृश्यासंभवबोधेन' [म० उ० ४।६२]

सर्वात्मदर्शन रूप ज्ञानाग्नि के द्वारा दृश्यप्रपञ्च का आत्यन्तिक अभाव देखने के कारण सर्वकर्म तथा उसके फल को भस्म कर चुके हैं अर्थात् जैसे रज्जु में सर्प का अभाव है, वैसे ही जो आत्मा में कर्मफलजनित विश्व-प्रपञ्च का आत्यन्तिक अभाव देखने के कारण अपने अकर्तृत्व, अभोक्तृत्व एवं परमानन्द-स्वरूप में नित्य स्थित हैं, उन संन्यासियों को नहीं होता ॥१२॥

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३॥

हे महाबाहो ! निरतिशय पुरुषार्थ की प्राप्ति तथा सर्वानर्थ-निवृत्ति के लिये ज्ञातव्य ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान की व्याख्या करनेवाले वेदान्तशास्त्र में समस्त कर्मों की सिद्धि के लिये पाँच कारण कहे गये हैं, जिन्हें विद्वान् भी विशेष परिश्रम के पश्चात् नहीं समझ पाते। इसलिये उन पाँचों को तू मुझ आप्त, सर्वज्ञ ईश्वर से कर्तृत्वाभिमान की निवृत्ति तथा स्वरूप-स्थिति के लिये ध्यानपूर्वक सुन ॥१३॥

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥१४॥

अधिष्ठान—इच्छा, द्वेष, सुखदुःख, चेतना आदि के अभिव्यक्ति का आश्रय शरीर; कर्ता—उपाधिमान भोक्ता जीव अथवा चिद्—जड़ ग्रंथि—अहंकार, भिन्न-भिन्न करण—ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, मन एवं बुद्धि, जिससे कर्म किये जाते हैं; नाना प्रकार की चेष्टायें और पाँचवाँ हेतु दैव अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियों के प्रेरक दिशा, वायु एवं सूर्यादि देव ॥१४॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥१५॥

मनुष्य शरीर, वाणी और मन से न्याय—शास्त्रानुकूल एवं विपरीत—शास्त्रविरुद्ध जो भी कर्म करता है, उन सबके उपर्युक्त पाँच ही कारण हैं।

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥

परन्तु ऐसा होने पर भी जो आत्म-अनात्म ज्ञान-शून्य देहाभिमानी पुरुष अशुद्ध बुद्धि के कारण केवल—

'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' [श्वे० उ० ६।११]
'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' [श्वे० ६।१९]
'नित्यं शुद्धं बुद्धं मुक्तं सत्यं सूक्ष्मं परिपूर्णमद्वयं
सदानन्दचिन्मात्रम्' [रा० उ० उ० ६]
'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' [बृ० उ० ४।३।१५]

साक्षी, चेतन, केवल, निर्गुण, निष्कल, निष्क्रिय, शान्त, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य, सूक्ष्म, परिपूर्ण, अद्वैत, सदानन्द, चिन्मात्र, असंग, स्वयंप्रकाश,

परमानन्दस्वरूप, अबाध्य, सर्वगत्, निर्विकार आत्मतत्त्व को कर्मों का कर्ता देखता है, वह रज, तम की वासनात्मिका अविद्या से ग्रस्त दूषित बुद्धिवाला विपरीतदर्शी पुरुष रज्जु में सर्पवत्, शुक्ति में रजतवत् यथार्थ नहीं देखता है। इसीलिये वह साधन-चतुष्टय-शून्य देहाभिमानी पुरुष शास्त्र और आचार्य से उपदिष्ट होने पर भी तथा हजारों बार वेदान्त सुनने तथा सुनाने पर भी ब्रह्माकार—आत्मविषयिणी - बुद्धि के अभाव में कर्तृत्वाभिमान के कारण शुभाशुभ योनियों को ही प्राप्त होता रहता है ॥१६॥

यस्य नाहंकृतोभावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१७॥

किन्तु जिस पुण्योपार्जित विवेक, वैराग्यादि साधन-चतुष्टय-सम्पन्न सुमति-परमार्थदर्शी पुरुष की अहंकृति का भाव शास्त्र और आचार्य के उपदेश तथा मनन एवं निदिध्यासन के द्वारा आत्मसाक्षात्कार के कारण समाप्त हो चुका है अर्थात् जो सतत ब्रह्माकार-वृत्ति से युक्त होने के कारण 'मैं कर्ता हूँ, भोक्ता हूँ' आदि इस अनात्म देहभाव को नहीं प्राप्त होता।

अभिप्राय यह है कि जो—

'देहादेर्ज्ञाता देहादिभ्यो भिन्न एव भवति'

'देह आदि का ज्ञाता देहादि से भिन्न ही होता है'—इस न्याय से अपने को नित्य-निरन्तर देहादि से भिन्न, साक्षी, अकर्ता, अभोक्ता एवं निर्विकार तथा अधिष्ठानादि उपर्युक्त पाँच हेतुओं को ही समस्त कर्मों का कर्ता समझता है, आत्मा को नहीं। तथा सर्वत्र ब्रह्म को ही विषय करने के कारण जिसकी—

'निर्विकल्पा च चिन्मात्रा वृत्तिः प्रज्ञेति कथ्यते'
[अ० उ० ४४]

निर्विकल्प चिन्मात्रवृत्ति रूप बुद्धि राग-द्वेष से मुक्त सम, शान्त होने के कारण कहीं भी किसी भी कर्म तथा उससे जनित फल से लिप्त नहीं होती।

अथवा

'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्' [गी० ४।१८]

जिसकी बुद्धि कर्म में अकर्म दर्शन के कारण कहीं लिप्त नहीं होती। वह देहाभिमान से मुक्त सम, शान्त, निर्विकार समदर्शी पुरुष लौकिक दृष्टि से इन समस्त लोकों का हनन करने पर भी परमार्थ दृष्टि से—

'न वासुदेवात्परमस्ति किंचित्'

वासुदेव से भिन्न कुछ न होने के कारण, अथवा—

'न लिप्यते कर्मणा पापकेन'

[बृ० उ० ४।४।२३]

पाप रूप कर्म से लिप्त न होने के कारण, अथवा—

'उभे ह्येवैष एते आत्मानं स्पृणुते' [तै० उ० २।६]

पाप-पुण्य दोनों को आत्मरूप से विषय करने के कारण: अथवा—

'मया कूटस्थेन पूर्वं चाधुना च नैव किंचित्कृतम्'

'मुझ साक्षी, निष्क्रिय, कूटस्थ आत्मा ने न पहले कुछ किया और न अब' इस निष्क्रियत्व बुद्धि के कारण; अथवा—

'निर्विकारे निराकारे निर्विशेषे भिदाकुतः'

[अ० उ० २२]

निर्विकार, निराकार, निर्विशेष आत्मसत्ता में द्वैतप्रपञ्च का अत्यन्ताभाव देखने के कारण;

'नायं हन्ति न हन्यते' [गी० २।१६]

'वेदाविनाशिनं नित्यम्' [गी० २।२१]

न मारता है और न उसके फल पाप से बँधता ही है। अभिप्राय यह है कि पाप-पुण्य केवल अज्ञान—मन की अनिरोधावस्था तक ही है, ज्ञान—निरोधावस्था में नहीं। क्योंकि—

'मनः कर्माणि जायन्ते मनो लिप्यति पातकैः।
मनश्चेदुन्मनी भूयान्न पुण्यं न च पातकम्'॥

[यो० शि० उ० ६।६१]

मन से ही कर्म उत्पन्न होते हैं, इसलिये मन ही पाप-पुण्य से लिप्त होता है, निष्क्रिय आत्मा नहीं। यदि मन उन्मनीभाव—ब्राह्मी अवस्था को प्राप्त हो जाय तो न पुण्य है और न पाप ही। अतः उन्मनी—ब्राह्मी अवस्था को प्राप्त, कर्ता, कर्म एवं क्रिया की त्रिपुटी से रहित—

'निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः'

विधि—निषेध से परे, गुणातीत, कर्तृत्वाभिमानशून्य सर्वात्मदर्शी जीवन्मुक्त पुरुष—

'सर्वथा वर्तमानोऽपि' [गी० ६।३१]

सब प्रकार से वर्तता हुआ अर्थात् विधि—निषेधात्मक सब व्यापारों को करता हुआ भी कुछ नहीं करता अर्थात् सदैव मुक्त ही रहता है। यह ज्ञान की केवल स्तुतिमात्र है। वस्तुतः कोई भी ज्ञानी ऐसा व्यापार नहीं कर सकता ॥१७॥

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८॥

ज्ञान जिसके द्वारा कोई वस्तु जानी जाय; ज्ञेय जानने में आने वाला पदार्थ; यहाँ पर ज्ञान और ज्ञेय सामान्य वस्तु विषयक हैं, विशुद्ध ज्ञान और ज्ञेय—*परमात्मतत्त्व से प्रयोजन नहीं है। परिज्ञाता—अविद्या कल्पित उपाधि* युक्त जीव; इस प्रकार इन तीनों का समुदाय ही सामान्य भाव से सब कर्मों की प्रेरक तीन प्रकार की कर्मचोदना है।

तथा करण—जिसके द्वारा कर्म किया जाय अर्थात् बाह्य-कर्मेन्द्रियाँ तथा अंतःकरणचतुष्टय;

कर्म—

'कर्तुरीप्सिततमं कर्म'

[इस पाणिनी सूत्रानुसार] जो कर्ता का अत्यन्त इष्ट हो और क्रिया के द्वारा संपादित किया जाय;

कर्ता—चक्षु आदि इन्द्रियों को अपने अपने व्यापार में जोड़नेवाला उपाधि-युक्त जीव;

इस प्रकार कर्मसंग्रह—जिसमें कर्मों का अच्छी प्रकार ग्रहण किया जाता है, वह क्रिया का आश्रय करणादि कारक भेद से तीन प्रकार का है ॥ १८ ॥

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ १९ ॥

ज्ञान, कर्म और कर्ता भी गुणों अर्थात् सात्विक, राजस और तामस गुणों के भेद से तीन—तीन प्रकार से महामुनि कपिलप्रणीत सांख्यशास्त्र में कहे गये हैं; उनको तू मुझसे यथार्थ रूप से सुन ॥ १६ ॥

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥ २० ॥

महात्मा अव्यक्त से लेकर स्थावरपर्यन्त समस्त अध्यस्त भूतवर्ग में—

'आकाशवत्सर्वगतश्च पूर्णः' [श्रुति]

'एकमेवाद्वयं ब्रह्म' [अ० उ० ६३]

आकाशवत् सर्वगत, पूर्ण, एक, अद्वितीय, अखण्ड, अविनाशी तथा सर्व-विकारशून्य अधिष्ठानरूप सच्चिदानन्दैकरसस्वरूप ब्रह्मभाव को जिस ब्रह्माकार—

'निर्विकल्पा च चिन्मात्रा वृत्तिः प्रज्ञेति कथ्यते'
[अ० उ० ४४]

निर्विकल्प, चिन्मात्र बुद्धिवृत्ति से देखता है अर्थात्—

'सर्वमिदमहं च ब्रह्मैव'

'यह सब और मैं ब्रह्म ही हूँ' इस ब्रह्मात्मैक्य दर्शन से सम्पन्न होता है, उस अद्वैतात्मदर्शन रूप ज्ञान को सात्विक जान; जो शोक-मोह के हेतु द्वैतदर्शन का सर्वथा समूलोच्छेदक तथा परमानन्द प्रदान करने वाला है ॥ २० ॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥ २१ ॥

जो ज्ञान अर्थात् जिस ज्ञान के द्वारा संपूर्ण भूतों में भिन्न-भिन्न प्रकार के नाना भावों को नाना रूप से देखता है अर्थात् नाना शरीरों में नाना आत्मा को जानता है, उस—

'द्वितीयाद्वै भयं भवति' [बृ० उ० १।४।२]

'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति'
[बृ० उ० ४।४।१६]

मेदोत्पादक भय तथा मृत्युप्रदायक ज्ञान को राजस जान ॥ २१ ॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

जो ज्ञान एक कार्य रूप शरीर अथवा प्रतिमा आदि में सम्पूर्णता की भाँति आसक्त है अर्थात् आत्मा और ईश्वर देहाकार और प्रतिमाकार ही है, इससे भिन्न नहीं है, इस अभिनिवेश से युक्त है तथा जो हेतु-युक्ति रहित अर्थात् आत्मा-परमात्मा के ज्ञान से शून्य तथा तत्त्व-अर्थ से रहित अर्थात् परमार्थ आलम्बन से शून्य है तथा इसी कारण जो अल्प—तुच्छ नरकादि फल प्रदान करनेवाला स्वर्ग और अपवर्ग के हेतु से रहित है, उस ज्ञान को तू तामस जान ॥ २२ ॥

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥

जो शास्त्रविहित वर्णाश्रमानुकूल यज्ञ, दान और तप रूप कर्म कर्तृत्वाभिमान के संग से रहित, फल-चाहनेवाले पुरुष द्वारा निष्काम बुद्धि से इष्ट-अनिष्ट में राग-द्वेष से मुक्त होकर अर्थात् सिद्धि-असिद्धि में सम होकर किया जाता है; वह सात्त्विक कहा जाता है ॥ २३ ॥

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४॥

और जो कर्म फल के चाहनेवाले अहंकार युक्त पुरुष द्वारा अर्थात् मेरे समान कौन विद्वान् है ?—इस बुद्धि से बहुत परिश्रम के साथ किया जाता है, वह राजस है ॥२४॥

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥२५॥

जो कर्म अनुबन्ध—परिणाम का; क्षय—धन, शक्ति, सेना, पुरुष तथा आयु आदि के नाश का; हिंसा—प्राणियों की पीड़ा का और पौरुष—अपने सामर्थ्य का ध्यान न रखकर पूर्वापर के विचार के बिना केवल मोह—अज्ञान से किया जाता है, वह तामस है ॥२५॥

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥२६॥

जो कर्ता मुक्तसङ्ग—फल तथा कर्म की आसक्ति से रहित है तथा जो अनहंवादी—कर्तृत्वाभिमान से मुक्त है तथा जो धैर्य और उत्साह से युक्त है और जो कर्म की सिद्धि—असिद्धि में निर्विकार है अर्थात् हर्ष-शोक से रहित सम, शान्त है; वह शास्त्रादेशानुसार कर्म करनेवाला सात्त्विक कर्ता कहा जाता है ॥२६॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥

जो कर्ता स्त्री-पुत्रादि में आसक्त कर्म फल को चाहनेवाला है तथा जो लोभी—कंजूस या दूसरे के धन को चाहने वाला है तथा हिंसात्मक—दूसरों को पीड़ा पहुँचाने के स्वभाव वाला है और अशुचि—शास्त्रोक्त शरीर और अंतःकरण की शुद्धि से रहित है, तथा जो हर्ष-शोक से युक्त अर्थात् कर्म की सिद्धि और असिद्धि में हर्ष-शोक से युक्त रहनेवाला है; वह कर्ता राजस कहा जाता है ॥२७॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥२८॥

जो अयुक्त—असमाहित चित्तवाला, प्राकृत—शास्त्रीय शिक्षा रहित, विवेकशून्य; स्तब्ध—घमण्डी—गुरु, देवता आदि के सामने भी न झुकने के स्वभाववाला; शठ—कपट करनेवाला; नैष्कृतिक—दूसरों की आजीविका का हनन करनेवाला स्वार्थी; अथवा दूसरों का अपमान करनेवाला; अलस—आलसी—अनुद्यमी—कर्मों में न प्रवृत्त रहने वाला; दीर्घसूत्री—चिरकारी—थोड़े काल के कार्य में अधिक समय लगाने वाला है; वह कर्ता तामस कहा गया है ॥२८॥

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥२९॥

हे धनंजय ! बुद्धि एवं धृति के भेद, जो कि सत्त्वादि गुणों के अनुसार तीन तीन प्रकार के हैं, उनको तू विभागपूर्वक सम्पूर्णता से कहे हुये मुझसे सुन ॥२९॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३०॥

जो बुद्धि प्रवृत्ति—बन्धन के मार्ग को; निवृत्ति—मोक्ष के मार्ग को ठीक-ठीक समझती है; तथा जो कर्तव्य और अकर्तव्य को यथार्थमानुकूल विधि-निषेध रूप से करने और न करने योग्य क्रियाओं को भी समझती है; तथा जो बुद्धि भय और अभय को अर्थात् शास्त्र विरुद्ध आचरण भय का हेतु है तथा शास्त्रानुकूल आचरण निर्भयता का हेतु है, इसको भी जानती है; तथा जो बन्ध और मोक्ष को अर्थात् बन्ध और मोक्ष के स्वरूप को भी जानती है, सात्विकी है। अथवा, जो प्रवृत्ति—कर्म मार्ग को; निवृत्ति—संन्यास मार्ग को; कार्य—प्रवृत्ति मार्ग के करणीय कर्म को; अकार्य—निवृत्ति मार्ग के अकरणीय कार्यों को; भय—प्रवृत्ति मार्ग में गर्भवास आदि के दुःख को अथवा संसार के कारण अज्ञान को; अभय—निवृत्ति मार्ग में उसके अभाव को अथवा ज्ञान को; बन्ध—प्रवृत्ति मार्ग में मिथ्या अज्ञानकृत् कर्तृत्वाभिमान को; अथवा अध्यास लक्षण अज्ञान के कार्य को; मोक्ष—निवृत्ति मार्ग में तत्त्वज्ञान के द्वारा अज्ञान सहित कर्तृत्वाभिमान के अभाव को; अथवा अध्यासाभाव—ज्ञान के कार्य को विवेकी जिस बुद्धि से नीर-क्षीरवत् पृथक्-पृथक् जानता है, वह बुद्धि सात्त्विकी है ॥३०॥

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥३१॥

हे पार्थ! जिस संशयात्मक बुद्धि के द्वारा मनुष्य शास्त्रविहित धर्म को और शास्त्रविरुद्ध अधर्म को तथा कर्तव्य-अकर्तव्य को यथार्थ रूप से नहीं जानता, वह बुद्धि राजसी है ॥३१॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥ ३२ ॥

हे पार्थ! जो तमोगुण से आवृत मलीन बुद्धि अधर्म को धर्म और धर्म को अधर्म, सत्य को असत्य और असत्य को सत्य तथा बन्ध को मोक्ष और मोक्ष को बन्ध—ऐसे सब धर्मों को विपरीत मानती है, वह विपरीतग्राहिणी बुद्धि तामसी है ॥ ३२ ॥

धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रिय क्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३३ ॥

ब्रह्म में चित्त की एकाग्रता रूप समाधियोग से जिस अव्यभिचारिणी—

विषयान्तर की अपेक्षा से रहित धृति के द्वारा मन, प्राण और इन्द्रियों की बाह्य प्रवृत्तिरूप चेष्टाओं को प्रशमित धारण करता है अर्थात् मन, प्राण और इन्द्रियों की बहिर्मुख वृत्ति को रोककर अन्तर्मुखी रखता है, वह धृति सात्विकी है ॥ ३३ ॥

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥ ३४ ॥

हे अर्जुन ! फलेच्छुक पुरुष जिस धृति के द्वारा अत्यधिक आसक्ति से धर्म, काम और अर्थ को धारण करता है अर्थात् जिससे उनको प्राप्त करना अपना कर्तव्य समझता है, वह धृति राजसी है ॥ ३४ ॥

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥ ३५ ॥

हे पार्थ ! जिस धृति के द्वारा दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य निद्रा, भय, चिन्ता, दुःख और मद—शास्त्रविरुद्ध विषय भोग को नहीं छोड़ता; किन्तु सदैव कर्तव्य रूप से धारण करता है वह धृति तामसी है ॥ ३५ ॥

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥ ३६ ॥

हे भरतर्षभ ! अब तू तीन प्रकार के सुख को भी मुझसे सुन; जिस परम भूमा सुख में साधक दीर्घकाल के श्रवण मनन एवं निदिध्यासन के अभ्यास से रमण—रति, प्रीति तथा क्रीड़ा करता है न कि विषय सुख की भाँति सहसा और जिस अत्यानन्द से सांसारिक दुःखों के अन्त—अत्यन्ताभाव को प्राप्त करता है अर्थात् निरतिशय सुख का अनुभव करता है ॥ ३६ ॥

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धि प्रसादजम् ॥ ३७ ॥

जो पहले साधन के आरंभकाल में अर्थात् विवेक, वैराग्य, ध्यान एवं समाधि के आरंभकाल में दुर्जय इन्द्रिय और मन का निग्रह कठिन होने के कारण तथा असत् प्रत्यय के निरास का हेतु ध्यान—सविकल्प समाधि उससे भी कठिनतर होने के कारण तथा निर्विकल्प समाधि—अपरोक्षानुभूति उससे भी कठिनतम होने के कारण विष के सदृश महान् दुःखरूप प्रतीत होता है;

किन्तु परिणाम में अर्थात् साधन की परिपक्वावस्था में अमृत के समान अतिशय प्रीति का आस्पद एवं परमानन्दप्रद है, वह आत्मविषयिणी बुद्धि की प्रसन्नता से अर्थात् आत्मभाव के प्रतिबन्धक रज, तम के मल से रहित विशुद्ध बुद्धि से जन्य यानी विशुद्ध बुद्धि से ग्राह्य स्वतः नित्य सिद्ध—

'सुखात्मनः स्वरूपम्'
'यो वै भूमा तत्सुखम्' [छा० उ० ७।२३।१]

निरपेक्ष निरतिशय भूमा—आत्मसुख सात्विक कहा गया है। ऐसे ही श्रीमद्भागवत एवं श्रुति में भी कहा गया है—

'सात्विकं सुखमात्मोत्थम्' [श्री० भा० ११।२५।२६]

'आत्मा सुखस्वरूपः सुषुप्तौ सुखमात्रोपलम्भनात्'

'बुद्धः सुखस्वरूप आत्मा' [नृ० उ० उ० ६]

'आत्मविषयिणी बुद्धि से सृष्ट सुख सात्विक है' 'आत्मा सुख स्वरूप है सुषुप्ति में सुख का अनुभव होने से' 'आत्मा बुद्ध सुखस्वरूप है' ॥ ३७ ॥

विषयेन्द्रिय संयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥

जो विषय और इन्द्रियों के संयोग से उत्पन्न स्त्री-संगादि का सुख प्रथम भोगकाल में अमृत के सदृश प्रतीत होता है, परन्तु परिणाम में लोक-परलोक के दुःख का हेतु तथा जन्म-मृत्यु प्रदान करनेवाला होने के कारण विष के सदृश है, वह सुख राजस कहा गया है। जैसा श्री मद्भागवत में भी कहा गया है—

'विषयोत्थं तु राजसम्'
[श्री० भा० ११।२५।२६]

'विषयों से सृष्ट सुख राजस है ॥' ३८ ॥

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्य प्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

जो सुख पहले भोगकाल में और परिणाम में भी अर्थात् भोगने के पश्चात् भी आत्मा को मोहित करनेवाला है यानी आत्म-अनात्म विवेक को आच्छादित करके अज्ञान की वृद्धि करने वाला है, वह निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न हुआ सुख तामस कहा गया है ॥३९॥

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥

हे पार्थ ! पृथ्वी में, स्वर्ग में अथवा देवताओं में कोई भी ऐसा जड़-चैतन्य प्राणी नहीं है, जो प्रकृति से उत्पन्न सात्त्विकादि तीनों गुणों से मुक्त—रहित हो; क्योंकि त्रिगुणात्मक माया का कार्य होने के कारण यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड त्रिगुणमय ही है ।

जैसाकि श्रीमद्भागवत में भी कहा गया है :—

'द्रव्यं देशः फलं कालो ज्ञानं कर्म च कारकः ।
श्रद्धावस्थाऽऽकृतिर्निष्ठा त्रैगुण्यः सर्व एव हि' ॥

[श्री० भा० ११।२५।३०]

'द्रव्य-वस्तु, देश—स्थान, फल, काल, ज्ञान, कर्म, कर्ता, श्रद्धा, अवस्था, देव, मनुष्य, तिर्यगादि शरीर और निष्ठा सभी त्रिगुणात्मक हैं' ॥४०॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥

हे परंतप ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों के कर्म स्वभाव—प्रकृति से उत्पन्न हुए सत्त्वादि गुणों के द्वारा शास्त्रों से विभक्त—भिन्न भिन्न किये गये हैं । अथवा, ब्राह्मण स्वभाव का कारण रजोगुण मिश्रित सत्त्वगुण प्रधान है; क्षत्रिय स्वभाव का कारण सत्त्वगुण मिश्रित रजोगुण प्रधान है; वैश्य स्वभाव का कारण तमोगुण मिश्रित रजोगुण प्रधान है और शूद्र स्वभाव का कारण रजोगुण मिश्रित तमोगुण प्रधान है । इसलिये उनके गुणानुसार क्रम से प्रशान्तस्वभाव, ईश्वरस्वभाव, ईहा—चेष्टा-स्वभाव एवं मूढ़ता के स्वभाव पृथक् पृथक् देखे जाते हैं ।

अथवा—

'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत' ॥

[ऋग्वेद—पुरुष सूक्त १२]

'ईश्वर के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, जंघाओं से वैश्य और पैरों से शूद्र उत्पन्न हुये'—इस वेदवचनानुसार चारों वर्णों की सृष्टि परमात्मा के भिन्न-भिन्न उत्तमाधम अङ्गों से होने के कारण उनके स्वाभाविक कर्म भी उत्तमाधम—भिन्न-भिन्न ही हैं। तथा वह वर्ण भी उत्तमाधम अङ्गों से सृष्ट होने के कारण उत्तमाधम ही हैं।

ऐसे ही भगवान् ने श्रीमद्भागवत में भी कहा है :—

'विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा मुखबाहूरुपादजाः।
वैराजात् पुरुषाज्जाता य आत्माचारलक्षणाः' ॥
'गृहाश्रमो जघनतो ब्रह्मचर्यं हृदोमम।
वक्षःस्थानाद् वने वासो न्यासः शीर्षणि संस्थितः ॥
वर्णानाश्रमाणां च जन्मभूम्यनुसारिणी।
आसन् प्रकृतयो नृणां नीचैर्नीचोत्तमोत्तमाः' ॥
[श्री० भा० ११।१७।१३-१५]

विराट् पुरुष के मुख, भुजा, जंघा एवं पैरों से क्रम से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की सृष्टि हुई, जिसमें उनकी पहचान उनके स्वभाव और आचार से होती है। ऐसे ही मुझ विराट्स्वरूप परमात्मा के उदरस्थल से गृहस्थ, हृदय से ब्रह्मचर्य, वक्षस्थल से वानप्रस्थ और मस्तक से संन्यास आश्रम की सृष्टि हुई। इस प्रकार वर्णाश्रमीय पुरुषों के स्वभाव भी उनके जन्म स्थान के अनुसार उत्तमाधम हो गये। अथवा, पूर्व जन्म के कर्मों के संस्कार को स्वभाव कहते हैं, उससे उत्पन्न गुणों के अनुसार चारों वर्णों के कर्म भी विभक्त—भिन्न-भिन्न हैं। जैसा कि स्मृतियों में भी निरूपण किया गया है :—

'द्विजातीनामध्ययनमिज्यादानम्।
ब्राह्मणस्याधिकाःप्रवचन याजन प्रतिग्रहाः'
'राज्ञोऽधिकं रक्षणं सर्वभूतानां न्यायदंडत्वम्'
'वैश्यस्याधिकं कृषिवणिक्पाशुपाल्यं कुसीदं शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एकजातिस्तस्यापि सत्यमक्रोधःशौचमाचमनार्थेपाणिपाद-प्रक्षालनमेवैके श्राद्धकर्म भृत्यभरणं स्वदारतुष्टिः परिचर्या चोत्तरेषाम्'
[गौ० स्मृ० १०]

'द्विजातियों को अध्ययन, यज्ञ और दान—इन तीनों कर्मों का अधिकार है।

इन तीनों में ब्राह्मण को अधिक पढ़ाना, यज्ञ कराना और दान लेना, यह विशेष है।'

'सम्पूर्ण प्राणियों की रक्षा, दण्ड के योग्य दुष्ट मनुष्य को न्यायानुसार दण्ड देना—यह राजा का विशेष धर्म है।'

'खेती, व्यापार, पशुओं का पालन, कुसीद—सूद लेना—यह वैश्य का विशेष धर्म है। और चौथा वर्ण शूद्र जाति है, जो द्विजाति-संस्कार से शून्य होता है, उसके भी सत्य, अक्रोध, शौच, आचमन के लिये हाथ-पैरों का धोना कर्म है। कुछ विद्वान् ऐसा भी कहते हैं कि श्राद्ध करना, भृत्यों की पालना, अपनी स्त्री से तुष्ट रहना तथा उत्तर द्विजातियों की सेवा कर्म है।'

> 'षट् कर्माणि ब्राह्मणस्य अध्ययनमध्यापनं यजनं
> याजनं दानं प्रतिग्रहश्चेति। त्रीणि राजन्यस्याध्ययनं
> यजनं दानं शस्त्रेण च प्रजापालनं स्वधर्मः
> एतान्येव त्रीणि वैश्यस्य कृषि वाणिज्य पाशुपाल्य
> कुसीदानि च। एतेषां परिचर्या शूद्रस्य।' [व० स्मृ० २]

'ब्राह्मण के लिये छः कर्म हैं—पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, कराना, दान और प्रतिग्रह; क्षत्रियों के तीन कर्म हैं—अध्ययन यजन और दान तथा शस्त्र के द्वारा प्रजापालन क्षत्रिय का धर्म है। वैश्य के भी तीन ही कर्म हैं—खेती, व्यापार, पशुओं का पालन और सूद—ब्याज लेना और इन तीनों जातियों की सेवा करना शूद्र का धर्म है।'

> 'कर्मविप्रस्य यजनं दानमध्ययनं तपः।
> प्रतिग्रहोऽध्यापनं च याजनं चेति वृत्तयः॥
> क्षत्रियस्यापि यजनं दानमध्ययनं तपः।
> शस्त्रोपजीवनं भूतरक्षणं चेति वृत्तयः॥
> दानमध्ययनं वार्ता यजनं चेति वै विशः।
> शूद्रस्य वार्ता शुश्रूषा द्विजानां कारु कर्म च॥
> [अ० स्मृ० १३-१५]

'ब्राह्मणों के छः कार्य हैं; जिसमें यजन, दान और अध्ययन—यह तीन तपस्या है और दान लेना, पढ़ाना और यज्ञ कराना—यह तीन जीविका है। क्षत्रियों के पाँच कर्म हैं, जिसमें यजन, दान और अध्ययन—यह तीन

तपस्या है और शस्त्र का व्यवहार और प्राणियों की रक्षा करना—यह दो जीविका है। वैश्य की भी दान, अध्ययन और यजन—यह तीन तपस्या है और वार्ता अर्थात् खेती, वाणिज्य, गौओं की रक्षा और व्यवहार—यह चार आजीविका है। तथा शूद्रों की ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की सेवा करना ही तपस्या है और शिल्पकार्य उनकी जीविका है।'

'यजनं याजनं दानं तथैवाध्यापनं क्रिया।
प्रतिग्रहश्चाध्ययनं विप्रकर्माणि निर्दिशेत् ॥
दानं चाध्ययनं चैव यजनं च यथाविधि।
क्षत्रियस्य च वैश्यस्य कर्मेदं परिकीर्तितम् ॥
क्षत्रियस्य विशेषेण प्रजानां परिपालनम्।
कृषिगोरक्षवाणिज्यं विशश्च परिकीर्तितम् ॥
शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा सर्वं शिल्पानि वाप्यथ ॥'
[शं० स्मृ० १।२-५]

'यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना और पढ़ाना, प्रतिग्रह और पढ़ना—ये छः कर्म ब्राह्मणों के कहे गये हैं। दान, पढ़ना और शास्त्रादेशानुसार यज्ञ करना—ये तीन कर्म क्षत्रिय और वैश्यों के हैं। क्षत्रिय जाति का विशेष कर्म प्रजा का पालन करना और वैश्य का कर्म खेती गौओं की रक्षा तथा व्यापार है। और तीनों जातियों का सेवा करना तथा संपूर्ण कारीगरी—यह शूद्र का कर्म है।'

'अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहंचैव ब्राह्मणमकल्पयत् ॥
प्रजानांरक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥
पशूनांरक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥
एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥'
[म० स्मृ० १।८८-९१]

'पढ़ाना, पढ़ना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना, दान लेना—ये छः कर्म ब्राह्मणों के लिये निश्चित किये गये हैं।

प्रजाओं की रक्षा, दान, यज्ञ करना, पढ़ना, विषयों में आसक्त न होना—ये पाँच कर्म क्षत्रिय के लिये संक्षेप से निश्चित किये गये हैं।

पशुओं की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना, व्यापार; सूद पर रुपया देना और कृषि करना—ये वैश्यों के कर्म हैं। तथा असूयारहित होकर उपर्युक्त तीनों वर्णों की सेवा करना—यह एक ही कर्म ब्रह्मा ने शूद्र के लिये निश्चित किया है।'

'क्षमा सत्यं दमः शौचं सर्वेषामविशेषतः''

[शं० स्मृ० १।५]

'विशेष करके क्षमा सत्य, दम और शौच—ये चारों वर्णों के सामान्य कर्म हैं।'

'अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
दानं दमो दया क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम्॥'

[या० स्मृ० १।५।१२२]

'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय निग्रह, दान, दम—मनोनिग्रह दया, क्षमा—ये सबके सामान्य धर्मसाधन हैं।'

'आनृशंस्यमहिंसा चाप्रमादः संविभागिता।
श्राद्धकर्मातिथेयं च सत्यमक्रोध एव च॥
स्वेषु दारेषु संतोषः शौचं नित्यानसूयता।
आत्मज्ञानं तितिक्षा च धर्माः साधारणा नृप॥'

[महा० शा० २९६।२३, २४]

'अक्रूरता—दया, अहिंसा, अप्रमाद, दान देना, श्राद्धकर्म, अतिथिसत्कार, सत्य, अक्रोध, अपनी स्त्री में ही तुष्ट रहना, शौच, कभी किसी का दोष न देखना, आत्मज्ञान, तितिक्षा—ये सब वर्णों के सामान्य धर्म हैं।'

'अहिंसासत्यमस्तेयमकामक्रोधलोभता।
भूतप्रिय हितेहा च धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः॥'

[श्री० भा० ११।१७।२१]

'अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, कामनाशून्यता, अक्रोध, अलोभ, प्राणियों की प्रसन्नता और हित की इच्छा करना—ये सब वर्णों के सामान्य धर्म हैं।'

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्मस्वभावजम् ॥ ४२ ॥

शम—मनो निग्रह; दम—इन्द्रिय निग्रह; तप—

'देवद्विजगुरु प्राज्ञपूजनम्' [गी० १७।१४]

आदि से पूर्वोक्त शारीरिक, वाचिक तथा मानसिक तीन प्रकार का तप; शौच—*बाहर-भीतर की शुद्धि; क्षान्ति—क्षमा, आर्जव—सरलता*, ज्ञान—शास्त्रीय ज्ञान, विज्ञान—कर्मकांड के कर्मों का विशेष ज्ञान अथवा ब्रह्मात्मैक्यानुभव एवं आस्तिक्य—

'श्रौते स्मार्ते च विश्वासो यत्तदास्तिक्यमुच्यते'

[*श्री० शा० उ० २।६*]

श्रौत-स्मार्त कर्मों में विश्वास—ये ब्राह्मणों के स्वाभाविक कर्म हैं। ऐसे ही भगवान् ने श्रीमद्भागवत में भी कहा है :—

'शमो दमस्तपः शौचं संतोषः क्षान्तिरार्जवम् ।
मद्भक्तिश्च दया सत्यं ब्रह्मप्रकृतयस्त्विमाः' ॥

[*श्री० भा० ११।१७।१६*]

शम, दम, तप, शौच, संतोष, क्षमा, सरलता, मेरी भक्ति, दया और सत्य—ये ब्राह्मण वर्ण के स्वभाव हैं।

तथा ऐसे ही स्मृतियों में भी कहा गया है :—

'सत्यं दानमथाद्रोह आनृशंस्यं त्रपाघृणा ।
तपश्च दृश्यते यत्र स ब्राह्मण इति स्मृतः' ॥

[महा० शा० १८६।४]

'जिसमें सत्य, दान, अद्रोह, अक्रूरता, लज्जा, दया और तप—ये सद्गुण देखे जाते हैं, वह ब्राह्मण माना गया है।'

'शौचं मंगलानायासा अनसूयाऽस्पृहा दमः ।
लक्षणानि च विप्रस्य तथा दानं दयापि च' ॥

[अ० स्मृ० ३३]

शौच, मंगल,[1] अनायास,[2] अनसूया, अस्पृहा, दम, दान और दया—ये ब्राह्मणों के लक्षण हैं।

'योगस्तपो दमो दानं सत्यं शौचं दया श्रुतम्।
विद्या विज्ञानमास्तिक्यमेतद्ब्राह्मण लक्षणम्' ॥
[व० स्मृ० ६।२१]

योग, तप, इन्द्रिय दमन, दान, सत्य, शौच, दया, वेद, विद्या, विज्ञान एवं आस्तिक्य—ये लक्षण ब्राह्मण के हैं ॥४२॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥४३॥

शौर्य—पराक्रम, तेज—प्रागल्भ्य अर्थात् बलवानों से भी न दबने का स्वभाव, धृति—धैर्य अर्थात् महान् विपत्ति में भी न घबराने का स्वभाव, दक्षता—कुशलता अर्थात् प्रतिकूल परिस्थितियों में भी क्रियाओं के करने की क्षमता, अपलायन—युद्ध से पराङ्मुख न होने का स्वभाव अर्थात् मृत्यु से भी पीछे न हटने का स्वभाव, दान—बिना संकोच के अपनी सम्पत्ति को दूसरे का बना देने का स्वभाव और ईश्वर भाव—नियमनशक्ति—सब पर शासन करने का स्वभाव अर्थात् शास्त्रानुकूल निःस्वार्थ भाव से प्रजा का धर्मपूर्वक पुत्रवत् पालन करना—ये सब क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं। ऐसे ही भगवान् ने श्रीमद्भागवत में भी कहा है :—

---

१ मंगल—'प्रशस्ताचरणं नित्यमप्रशस्तविवर्जनम्।
एतद्धि मंगलं प्रोक्तमृषिभिर्धर्मवादिभिः' ॥
[अ० स्मृ० ३५]

श्रेष्ठ कर्मों का नित्य आचरण और निन्दित कर्मों का त्याग—इसी को धर्मवेत्ता ऋषियों ने मंगल कहा है।

२ अनायास—'शरीरं पीड्यते येन शुभेन ह्यशुभेन वा।
अत्यन्तं तन्न कुर्वीत अनायासः स उच्यते' ॥
[अ० स्मृ० ३६]

शुभ कर्म हो या अशुभ, 'जिससे शरीर को ग्लानि होती हो' उसको सर्वथा न करे; उसे अनायास कहते हैं।

'तेजो बलं धृतिः शौर्यं तितिक्षौदार्यमुद्यमः।
स्थैर्यं ब्रह्मण्यतैश्वर्यं क्षत्र प्रकृतयस्त्विमाः'॥
[श्री० भा० ११।१७।१७]

तेज, बल, धैर्य, पराक्रम, तितिक्षा, उदारता, उद्यम, स्थिरता, ब्राह्मण भक्ति और ऐश्वर्य—ये क्षत्रिय वर्ण के स्वभाव हैं। तथा ऐसे ही स्मृति में भी कहा गया है :—

'तेजः सत्यं धृतिर्दाक्ष्यं संग्रामेष्वनिवर्तिता।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रधर्मः प्रकीर्तितः॥
क्षत्रियस्य परोधर्मः प्रजानां परिपालनम्।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन रक्षयेन्नृपतिः प्रजाः॥
त्रीणि कर्माणि कुर्वीत राजन्यस्तु प्रयत्नतः।
दानमध्ययनं यज्ञं ततो योगनिषेवणम्'॥
[वि० स्मृ० ५।२-४]

तेज, सत्य, धैर्य, दक्षता, संग्राम में पीछे न होना, दान, ईश्वर भाव—यह क्षत्रियों का धर्म कहा है। प्रजाओं का पालन करना क्षत्रियों का परम धर्म है, इसलिये सब प्रकार से यत्नसहित राजा प्रजाओं की रक्षा करे तथा क्षत्रिय दान, अध्ययन, यज्ञ—इन तीनों कर्मों को प्रयत्नतः करे और इसके पश्चात् योगमार्ग का सेवन ॥४३॥

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्मस्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

कृषि—खेती करना, गौरक्ष्य—गौओं का पालन करना; वाणिज्य—क्रय-विक्रय रूप सत्य व्यवहार—ये तीनों वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं और परिचर्या—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, इन तीनों वर्णों की सेवा करना शूद्र का स्वभाव है। ऐसे ही भगवान् ने श्री मद्भागवत् में कहा है :—

'आस्तिक्यं दाननिष्ठा च अदम्भो ब्रह्मसेवनम्।
अतुष्टिरर्थोपचयैर्वैश्य प्रकृतयस्त्विमाः॥
शुश्रूषणं द्विजगवां देवानां चाप्यमायया।
तत्र लब्धेन सन्तोषः शूद्रप्रकृतयस्त्विमाः'॥
[श्री भा० ११।१७।१८, १६]

आस्तिक्य, दाननिष्ठा, अदम्भ, ब्राह्मणों की सेवा और धनसंचय से तुष्ट न होना—ये वैश्य वर्ण के स्वभाव हैं। द्विज, गौ और देवताओं की निश्छल भाव से सेवा करना और उससे जो प्राप्त हो जाय उसमें सन्तुष्ट रहना—ये शूद्र वर्ण के स्वभाव हैं।

'वाणिज्यं कर्षणं चैव गवां च परिपालनम्।
ब्राह्मणक्षत्रसेवा च वैश्यकर्म प्रकीर्तितम्'॥
[बृ० स्मृ० ५।६]

'ब्राह्मणक्षत्रवैश्यांश्च चरेन्नित्यममत्सरः।
कुर्वंस्तु शूद्रः शुश्रूषां लोकाञ्जयति धर्मतः'॥
[बृ० स्मृ० ५।८]

'व्यापार, कृषि, गोपालन, ब्राह्मण और क्षत्रिय की सेवा—ये तीन कर्म वैश्य के लिये कहे हैं।

शूद्र निर्मत्सर होकर ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य—तीनों वर्णों की नित्य सेवा करे; क्योंकि धर्मपूर्वक इनकी शुश्रूषा करनेवाला शूद्र स्वर्ग लोक को जीत लेता है।'

'लाभकर्म च रत्नं गवां च परिपालनम्।
कृषि कर्म च वाणिज्यं वैश्यवृत्तिरुदाहृता॥
शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा परमो धर्म उच्यते।
अन्यथा कुरुते किंचित्तद्भवेत्तस्य निष्फलम्॥'
[पा० स्मृ० १।७०,७१]

[ब्याज लेना, रत्नों का क्रय-विक्रय, गोपालन, खेती और व्यापार करना—यह वैश्य की वृत्ति है। ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य—इन तीनों वर्णों की सेवा करना शूद्र का परम धर्म है। इसके अतिरिक्त यदि कुछ करता है, तो उसका वह सब कृत्य निष्फल हो जाता है।

'कृषिश्च पाशुपाल्यं च वाणिज्यं च विशामपि।
द्विजानां परिचर्या च शूद्र कर्म नराधिप॥'
[महा० शा० २९६।२१]

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥ ४५ ॥

अपने अपने अधिकारानुसार शास्त्रविहित कर्मों में अच्छी प्रकार परि-निष्ठित पुरुष मोक्ष-प्राप्ति की योग्यता को यानी सत्त्वशुद्धिरूप सिद्धि को अर्थात् पर वैराग्य को प्राप्त करता है। इस प्रकार श्रुति,स्मृति कथित अपने वर्णाश्रमानुकूल स्वाभाविक कर्मों में निरत पुरुष जिस भाँति सिद्धि—सत्त्व-शुद्धि रूप सिद्धि को अर्थात् परवैराग्य को अथवा मोक्षरूप सिद्धि को प्राप्त करता है, उसको सुनो। जैसा कि स्मृतियों में भी कहा गया है—

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन्हि मानवः।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥'

[म० स्मृ० २।९]

'स्वधर्मं येऽनुतिष्ठन्ति ते यान्ति परमांगतिम्'

[हा० स्मृ० ७।१९]

'श्रुति-स्मृति से विहित धर्मानुष्ठान करनेवाला मनुष्य इस लोक में कीर्ति को पाकर मरने के पश्चात् परलोक में उत्तम सुख पाता है।' 'जो स्वधर्मानुष्ठान करते हैं, वे परमगति को प्राप्त होते हैं' ॥ ४५ ॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ ४६ ॥

'जन्माद्यस्य यतः' [ब्र० सू० १।१।२]

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'''तद्ब्रह्म'

[तै० उ० ३।१]

'जगत् के जन्मादि जिससे होते हैं।'

'जिससे ये भूत उत्पन्न होते है वह ब्रह्म है।'

इस न्यायानुसार जिस मायोपाधिक अन्तर्यामी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् चैतन्य परमात्मा से स्वर्ण से कुण्डलवत् सम्पूर्ण भूतप्राणियों की उत्पत्ति हुई है; अथवा—

'यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरः'

[बृ० उ० ३।७।१५]

'जो सब भूतों में स्थित, सब भूतों के भीतर है' इस श्रुति के अनुसार ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त समस्त प्राणियों की प्रवृत्ति—चेष्टा जिस अन्तर्यामी अमृतसत्ता से होती है तथा जिस निमित्तोपादान कारण परमात्मा से स्वर्ण से कुण्डलवत् सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है अर्थात् जिससे भिन्न अणुमात्र भी नहीं है, उस सर्वस्वरूप परमेश्वर को अपने वर्णाश्रमानुकूल विहित कर्मों के द्वारा पूजकर अर्थात् स्वकर्म रूपी प्रसून उस पर चढ़ाकर यानी कर्तृत्वाभिमान, कर्मासक्ति एवं फलासक्ति को उसके अर्पण करके मनुष्य उसकी कृपा से उसके प्राप्ति के साधन सत्वशुद्धि रूप सिद्धि अर्थात् पर वैराग्य को प्राप्त करता है ॥ ४६ ॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वान्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ ४७ ॥

अच्छी प्रकार अनुष्ठान किया हुआ शास्त्रविहित वर्णाश्रमानुकूल अपना विगुण—दोष युक्त धर्म भी दूसरे वर्णाश्रम के धर्म से श्रेष्ठ है; क्योंकि—

'धर्मेण पापमपनुदन्ति' [म० ना० उ० २२।१]

'वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः ।
तद्धि कुर्वन्यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम्' ॥
[म० स्मृ० ४।१४]

'स्वधर्मेण यथा नृणां नरसिंहः प्रसीदति ।
न तुष्यति तथान्येन कर्मणा मधुसूदनः' ॥
[हा० स्मृ० ७।१६-२०]

'धर्म से पाप का अपनोदन—नाश करते हैं'

'सावधानीपूर्वक नित्य अपने वेदोक्त कर्म को करे; क्योंकि यथाशक्ति स्वधर्माचार करनेवाला पुरुष परमगति को प्राप्त होता है ।'

'भगवान् नरसिंहदेव जिस प्रकार स्वधर्म से प्रसन्न होते हैं, उस प्रकार अन्य कर्म से प्रसन्न नहीं होते ।'

'तत्त्यागी पतितो भवेत्' [स्मृति]

'स्वधर्म का त्यागी मोक्ष—सुख से पतित हो जाता है' इस नियमानुसार—

'परधर्मो भयेत्याज्यः सुरूप परदारवत्'
[श्र० स्मृ० १८]

दूसरे का धर्म भयावह—जन्म-मृत्यु का हेतु होने के कारण सुन्दरी पर स्त्रीवत् त्याज्य ही है, ग्राह्य नहीं। क्योंकि मनुष्य स्वभाव से नियत अर्थात् स्वभावजन्य शास्त्रविहित अपने कर्म को—

'सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ'
[गी० २।३८]

सुख दुःख तथा लाभ-अलाभ में सम होकर करता हुआ चित्तशुद्धि के प्रतिबन्धक पाप को नहीं प्राप्त होता ॥४७॥

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥४८॥

हे कौन्तेय ! सहज कर्म—शास्त्रविहित स्वाभाविक ब्राह्मण का पशुहिंसा-युक्त ज्योतिष्टोम यज्ञ तथा बन्धुवधादि हिंसायुक्त क्षत्रिय का युद्धादि कर्म दोष-युक्त—हिंसायुक्त होने पर भी अन्तःकरण के शुद्धि का हेतु तथा मोक्षप्रद होने के कारण त्याज्य नहीं है, क्योंकि—

'न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषत.'
[गी० १८।११]

कोई भी देहाभिमानी अनात्मज्ञ पुरुष कर्मों का सम्पूर्णता से त्याग करने में समर्थ नहीं है।

दूसरे, परधर्म के अनुष्ठान से भी दोषों से मुक्त नहीं हो सकता; क्योंकि सम्पूर्ण कर्म अर्थात् स्वधर्म अथवा परधर्म त्रिगुणात्मक होने के कारण धुएँ से अग्नि की भाँति व्याप्त—दोषयुक्त ही हैं।

अथवा—

'न हिंस्यात्सर्वाभूतानि' [श्रुति]

'सब भूतों की हिंसा न करे' इस श्रुति वचनानुसार सब प्राणियों की हिंसा का निषेध है। तथा समस्त वैदिक कर्म कुश, समिधा आदि से सिद्ध होने के कारण हिंसा प्रधान है, इसलिये भी सम्पूर्ण वर्णों और आश्रमों के कर्म दोष-युक्त ही हैं।

अथवा—

'काममय एवायं पुरुषः' [बृ० उ० ४।४।५]

'यद्यद्धि कुरुते किंचित्तत्तत्कामस्यचेष्टितम्'

[म० स्मृ० २।४]

'रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्'॥

[गी० १४।७]

'काममय ही यह पुरुष है' 'मनुष्य जो कुछ भी करता है, वह काम की चेष्टा है' 'तृष्णा और सङ्ग से उत्पन्न रजोगुण को रागात्मक जानो; हे कौन्तेय ! वह कर्म के सङ्ग से देही को बाँधता है।'—इस न्यायानुसार सम्पूर्ण कर्म काम, संकल्प आदि रजोगुण के कार्य होने के कारण दोषयुक्त ही हैं। अतः सम्पूर्ण कर्म हिंसा तथा रजो दोष से युक्त होने से धूम से अग्नि के समान व्याप्त हैं अर्थात् जैसे धूम के बिना अग्नि की उत्पत्ति संभव नहीं, वैसे ही हिंसा या काम के बिना कोई भी वैदिक कर्म संभव नहीं। अतः इस न्यायानुसार स्वधर्म अथवा परधर्म सभी दोषयुक्त ही हैं।

दूसरे परधर्म के आचरण से प्रथम स्वाभाविक दोष अर्थात् कर्म करने की अकुशलता रूप दोष उपस्थित होता है; स्वधर्म का त्याग दूसरा दोष; निषिद्ध का आचरण तीसरा दोष और परमात्मा की आज्ञाओं का उल्लंघन चौथा दोष उपस्थित होता है। इसलिये उपर्युक्त दोषों तथा दुर्गति से बचने के लिये सत्त्वशोधक तथा मोक्षप्रद शास्त्रविहित स्वधर्म का त्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि—

'स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः।
विपर्ययस्तु दोषः स्यात्' [श्री० भा० ११।२१।२]

'वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः।
तद्धि कुर्वन्यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम्'॥

[म० स्मृ० ४।१४]

'वर्णाश्रमानुसार अपने-अपने अधिकार—धर्म में जो निष्ठा है वही गुण कहा गया है और इसके विपरीत अनधिकार चेष्टा करना दोष है।'

'आलस्यरहित नित्य अपने वेदोक्त कर्म को करे; क्योंकि यथाशक्ति स्वधर्माचार करनेवाला पुरुष परमगति को प्राप्त होता है' ॥४८॥

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥४९॥

जो—

'वैराग्यरागरसिकः' [श्री० भा० ४।७९]

वैराग्य-राग का रसिक विशुद्धान्तःकरण पुरुष—

'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या' [श्रुति]

ब्रह्म को सत्य और जगत् को मिथ्या बन्धन का हेतु समझकर—

'घृणां विपाट्य सर्वस्मिन्पुत्रमित्रादिकेष्वपि'
[ना० प० उ० ६।१६]

पुत्र, मित्र, कलत्र, धन तथा लोक-लोकान्तरादि सबमें सर्वत्र घृणा को प्राप्त करने के कारण आसक्ति रहित बुद्धिवाला हो चुका है अर्थात् जो—

'लोकवासनया जन्तोः शास्त्रवासनयाऽपि च ।
देहवासनया ज्ञानं यथावन्नैव जायते ॥'
[मुक्ति० उ० २।२]

यथार्थ ज्ञान के प्रतिबन्धक लोकवासना, शास्त्रवासना एवं देहवासना से रहित—

'परमात्मनि यो रक्तो विरक्तोऽपरमात्मनि ।
सर्वेषणा विनिर्मुक्तः' [ना० प० उ० ३।१८]

परमात्मा से अनुरक्त और अपरमात्मा—संसार तथा उसके सम्पूर्ण एषणाओं से सम्यग्रूपेण विरक्त—मुक्त है; तथा जो—

'परो हि योगो मनसः समाधिः'
[श्री० भा० ११।२३।४६]

---

१. प्राणी को लोकवासना, शास्त्रवासना तथा देहवासना के कारण यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती ।

मन की समाहितावस्था को ही परम योग समझकर मन को पूर्णरूपेण जीत चुका है अर्थात् वश में कर लिया है; तथा जो—

'सङ्गत्यागं विदुर्मोक्षम्' [अन्न० उ० ५।४)

'मुनिः स्यात्सर्व निःस्पृहः'

[ना० प० उ० २।३४]

भविष्यत मुनि संगत्याग को मोक्ष समझकर शरीर, भिक्षा, कंथा, कौपीन तथा कमण्डलादि—इन सबकी स्पृहा से रहित है अर्थात्—

'यदृच्छालाभतो नित्यम्' [श्री जा० उ० २।५]

'अयाचितं यथालाभं भोजनाच्छादनं भवेत्'

[ना० प० उ० ५।४]

शरीर के भोजन-छादन में प्रारब्धानुसार नित्य यदृच्छालाभ सन्तुष्ट रहता है, वह—

'शान्तो दान्तो जितेन्द्रियः'

[ना० प० उ० ६।२३]

शान्त, दान्त, जितेन्द्रिय पुरुष सर्व कर्म के संन्यास के द्वारा परम नैष्कर्म्य-सिद्धि को अर्थात्—

'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्'

[श्वे० उ० ६।१६]

निष्कल, निष्क्रिय, शान्त परब्रह्म को प्राप्त करता है ॥ ४६ ॥

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ ५० ॥

हे कौन्तेय ! स्वकर्म से भलीभाँति समाराधित ईश्वर के प्रसाद से अंतः-करण की शुद्धिरूपी सिद्धि अर्थात् परवैराग्य को प्राप्त पुरुष जिस प्रकार—

'सजातीय प्रवाहश्च विजातीय तिरस्कृतिः'

[तै० वि० उ० १।१८]

सजातीय—ब्रह्माकार वृत्ति के द्वारा विजातीय—अब्रह्माकार वृत्ति के निःशेष निर्मूलन से संसार के आलंबन से रहित सर्व उपाधिशून्य—

'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्'

[श्वे० उ० ६।१६]

निष्कल, निष्क्रिय एवं शान्त ब्रह्म को प्राप्त करता है अर्थात्—

'सर्वमिदमहं च ब्रह्मैव'

'यह सब और मैं ब्रह्म ही हूँ'—इस प्रत्यगभिन्न दृष्टि से साक्षात्कार करता है. उस ज्ञान की परानिष्ठा—पराकाष्ठा को, अर्थात् ब्रह्मज्ञान की परमावधि को 'जो साक्षात् मोक्ष का हेतु है' तू मुझसे संक्षेपतः सुन ॥ ५० ॥

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥ ५१ ॥

विशुद्ध बुद्धि से युक्त होकर अर्थात् वेदान्तविज्ञान के सुनिश्चित अर्थ को सम्यग्रूपेण समझनेवाली—

'लोकवासनया जन्तोः शास्त्रवासनयाऽपि च ।
देहवासनया ज्ञानं यथावन्नैव जायते ॥'

[मुक्ति० उ० २।२]

यानी यथार्थ ज्ञान के प्रतिबन्धक लोकवासना, शास्त्रवासना और देहवासना से रहित परिमार्जित—

'सजातीय प्रवाहश्च विजातीय तिरस्कृतिः'

[ते० बि० उ० १।१८]

सजातीय प्रत्यय के द्वारा विजातीय प्रत्यय के निरास में समर्थ अर्थात् सर्वत्र ब्रह्म को विषय करने में समर्थ व्यवसायी, सूक्ष्म, कुशाग्रबुद्धि से युक्त होकर सात्त्विक धृति—धैर्य से शरीर को वश में करके अर्थात् मन, प्राण और इन्द्रियों को बाह्य विषयों से रोककर यानी परमात्मचिन्तन के योग्य बनाकर तथा—

'शब्दस्पर्शमया येऽर्था अनर्था इव ते स्थिताः'

[मैत्रे० उ० १।१]

अनर्थ रूप से स्थित शब्द, स्पर्श, रूप, रसादि विषयों को विषवत् दूर से ही त्यागकर तथा—

'रागद्वेषौ प्रहाय च' [या० स्मृ० ३।४।६२]
राग द्वेष का त्यागकर अर्थात् प्रारब्धानुसार प्राप्त शरीर-निर्वाह की भी वस्तुओं में राग-द्वेष का त्यागकर अथवा साधु-असाधु सबमें राग द्वेष को त्याग कर अर्थात् केवल सम रूप से स्थित होकर ॥ ५१ ॥

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ ५२ ॥

तथा जो—

'विविक्तदेशे संसक्तो मुच्यते नात्र संशयः'
[ना० प० उ० ३।७६]

'विविक्त देश में संसक्त निश्चित रूप से मुक्त होता है' इस श्रुति के अनुसार विविक्त—जनशून्य पवित्र एकान्तदेश अर्थात् अरण्य, नदी, पहाड़, गुहादि ब्रह्मप्राप्ति के साधनभूत स्थानों का चित्त की प्रसन्नता और एकाग्रता के लिये सेवन करता हुआ—

'औषधवदशनमाचरेत् । औषधवदशनं प्राश्नीयात् ।
यथालाभमश्नीयात्प्राण संधारणार्थं यथा मेदोवृद्धिर्न जायते ।'
[सं० उ० १।१]

'लघ्वाशी नियताहारः सकृदन्ननिषेविता'
[महा० शा० २४५।६]

औषधवत् अशन का सेवन करे—इस श्रुति, स्मृति वचनानुसार चित्त के लयकारक निद्रा, आलस्यादि दोषों से बचने तथा सतत ध्यान करने के लिये लघु-मित, हित, मेध्य—पवित्र प्राणधारण मात्र के लिये केवल एक बार, यथा लाभ, औषधवत् युक्त आहार का सेवन करते हुये तथा तत्त्वज्ञान के द्वारा वासनाक्षय एवं मनोनाश के लिये वाणी, शरीर एवं मन को वश में करके अर्थात् मौन धारण कर, यम, नियमादि साधन सम्पन्न हो, इन्द्रियों को आत्माभिमुखी बनाकर तथा—

'न हि ध्यानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'
[ग० पु० १।२३०।१५]

'ध्यानेन सदृशो नास्ति शोधनंपापकर्मणाम्'
[ग० पु० १।२३०।१४]

'ध्यानमेव परोधर्मो ध्यानमेव परं तपः।
ध्यानमेव परं शौचं तस्माध्यानपरो भवेत्' ॥
[ग० पु० १।२३०।१०]

ध्यानयोग के सदृश इस लोक में कुछ भी पावन तथा पाप कर्मों का शोषक नहीं है। इसलिये ध्यान को ही परम धर्म, परम तप एवं परम शौच समझ कर सतत ध्यान के परायण होने के लिये—

'सजातीयप्रवाहश्च विजातीय तिरस्कृतिः'
[ते० बि० उ० १।१८]

सजातीय—ब्रह्माकार—सत् प्रत्ययों से विजातीय—दृश्याकार असत् प्रत्ययों का निरास करते हुये—

'निद्राया लोकवार्तायाः शब्दादेरात्मविस्मृतेः।
क्वचिन्नावसरं दत्वा चिन्तयात्मानमात्मनि' ॥
[अ० उ० ५]

निद्रा, लोकवार्ता एवं शब्दादि विषयों से आत्मविस्मृति को लेशमात्र भी अवकाश न देता हुआ—

'स्वरूपानुसंधानं विनान्यथाचारपरो न भवेत्'
[ना० प० उ० ५।१]

'सुप्तेरुत्थाय सुप्त्यन्त ब्रह्मैकं प्रविचिन्त्यताम्'
[ध० उ० २।६४]

नित्य-निरन्तर जीवनपर्यन्त सुषुप्ति से उठकर सुषुप्तिपर्यन्त तैलधारावत् अविच्छिन्न रूप से स्वरूपानुसंधान करनेवाला सदैव ब्रह्मनिष्ठा से युक्त हो, अन्य बहिर्मुख बनानेवाले अनात्ममन्त्र, जप एवं तीर्थादि सेवन के परायण न होकर तथा परवैराग्य का आश्रय लेकर अर्थात्—

'दृष्टानुश्रविकविषय वितृष्णस्य वशीकार संज्ञा वैराग्यम्'[१]
[यो० सू० १।१५]

---

१. कामिनी-काञ्चन आदि दृष्ट विषयों में तथा श्रुतियों में कहे हुये

'गुरोष्वसङ्गो वैराग्यम्'[1] [श्री० भा० ११।१९।२७]
दृष्ट-अदृष्ट समस्त विषयों से असंग—निःस्पृह होकर ॥५२॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५३॥

तथा अहंकार अर्थात् मैं महान् कुलीन, विद्वान्, अति विरक्त और ज्ञानी हूँ, मेरे समान कोई भी नहीं है—इस अभिमान, बल—कामना और आसक्ति-युक्त सामर्थ्य; दर्प—धर्म के उल्लंघन के हेतुभूत गर्व; काम—विषयाभिलाष; क्रोध—द्वेष, इन सब ज्ञान के प्रतिबन्धक आसुरी भावों का तथा चित्तविक्षेप के हेतु शारीरिक परिग्रह—संग्रह का भी त्याग करके और अनात्म शरीर तथा जीवन में पराई शरीर के समान ममता से रहित, केवल स्वरूपभूत परमात्म दृष्टि से ही सदैव युक्त, शान्त, समाहितचित्त संन्यासी—यति—

'सर्वमिदमहं च ब्रह्मैव'

'यह सब और मैं ब्रह्म ही हूँ' इस परिपक्व सर्वात्मज्ञाननिष्ठा के द्वारा ब्रह्मभूत—ब्रह्मरूप होने के योग्य होता है ॥५३॥

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥५४॥

जो—

'आत्मव्यतिरेकेण द्वितीयं यो न पश्यति ।[2]
ब्रह्मभूतः स एवेह वेदशास्त्र उदाहृतः' ॥ [स्मृति]

आत्मा से भिन्न कुछ न देखने के कारण ब्रह्मभूत हो गया है अर्थात्—

'सर्वमिदमहं च ब्रह्मैव'

'यह सब और मैं ब्रह्म ही हूँ' इस ब्रह्मात्मैक्यदृष्टि से अपने सद्घनस्व, चिद्घनस्व

अदृष्ट विषयों में तृष्णारहित हुये चित्त की राग रहित स्थिति का नाम ही वशीकार वैराग्य है।

१. विषयों से असंग रहना ही वैराग्य है।

२. जो पुरुष इस संसार में आत्मा से अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं देखता, उसी को वेद और शास्त्र में ब्रह्मभूत कहा है।

तथा आनन्दघनत्व में सम्यग्रूपेण स्थित है, वह शम, दमादि साधन-सम्पन्न प्रसन्नात्मा विशुद्धान्तःकरण जीवन्मुक्त महात्मा—

'चिदेकत्वपरिज्ञाने न शोचति न मुह्यति'

[अन्न० उ० ४।३५]

'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः'

[ई० उ० ७]

एकत्व दर्शन से द्वैतप्रपंच का आत्यन्तिक अभाव देखने के कारण शोक-मोह को प्राप्त नहीं होता।

तथा—

'अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्।
अहमन्नादोऽऽहमन्नादोऽहमन्नादः' ॥

[तै० उ० ३।१०।६]

'मैं अन्न हूँ, मैं अन्न हूँ, मैं अन्न हूँ, मैं अन्नाद हूँ, मैं अन्नाद हूँ, मैं अन्नाद हूँ'

'अहंमनुरभवँ सूर्यश्च' [बृ० उ० १।४।१०]

'मैं ही मनु और सूर्य हुआ'

'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा
सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्' ॥

[श्वे० उ० १।१२]

भोक्ता, भोग्य और प्रेरक सब ब्रह्म ही है' इस न्याय से भोक्ता, भोग्यादि रूप से सर्वत्र अपनी स्थिति होने के कारण; तथा—

'अहमेवेदं सर्वम्' [छा० उ० ७।२५।१]

'यह सब मैं ही हूँ' इस श्रुति के अनुसार सर्वात्म दृष्टि से सभी वस्तुओं की स्वात्म रूप से प्राप्ति होने के कारण ब्रह्मभूत महात्मा को किसी भी वस्तु की इच्छा नहीं होती।

अथवा—

'विषयानन्दवाञ्छा मे मा भूदानन्दरूपतः[1]'
[आ० प्र० उ० १५]

[इस श्रुति से] महात्मा आनन्दस्वरूप होने के कारण भी विषयों की इच्छा नहीं करता।

अथवा—

'यत्रनान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा'
[छा० उ० ७।२४।१]

अद्वैत भूमा तत्त्व में अन्य देखने, सुनने एवं समझने योग्य द्वैतोत्पादक विषयों का अभाव होने के कारण भी किसी वस्तु की इच्छा नहीं करता।

अथवा—

'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चित्'
[तै० उ० २।१]

ब्रह्मवित् सर्वज्ञ ब्रह्मरूप होकर ब्रह्म के साथ ही संपूर्ण भोगों को भोगता है। इसलिये भी किसी वस्तु की इच्छा नहीं करता। तथा वो समदर्शी जीवन्मुक्त पुरुष—

'समता चैव सर्वास्मिन्नेतन्मुक्तस्य लक्षणम्'
[ना० प० उ० ३।५४]

ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त समस्त प्राणियों में सर्वात्मदर्शन के कारण सम हो चुका है अर्थात्—

'ततो न विजुगुप्सते' [ई० उ० ६]

किसी से भी घृणा—राग-द्वेष को प्राप्त नहीं होता, वह परावरैकत्व विज्ञान-दर्शी अथवा, मनन के फलरूप परिपक्व निदिध्यासनात्मिका मेरी चतुर्थ ज्ञान लक्षणा—परा—अभेद भक्ति को प्राप्त करता है ॥ ५४ ॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ ५५ ॥

---

१. आनन्दस्वरूप होने के कारण मुझे विषयानन्द की इच्छा नहीं है।

इस प्रकार वह महात्मा 'मैं जितना हूँ और जो हूँ' अर्थात्—

'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'

[बृ० उ० २।५।१६]

'ईश्वर माया से बहुत रूप होता है' इस श्रुति के अनुसार उपाधि भेद से यानी समष्टि स्थूल सूक्ष्म तथा कारण रूप उपाधियों से विराट, हिरण्यगर्भ एवं ईश्वर; व्यष्टि स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण रूप उपाधियों से विश्व, तैजस एवं प्राज्ञ और तीन गुण रूप उपाधियों से ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश तथा समस्त विश्व के रूप में जैसा हूँ; तथा—

'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा'

[छा० उ० ७।२४।१]

'निष्कलं निर्गुणं शान्तं निर्विकारं निराश्रयम् ।
निर्लेपकं निरापायं कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥'

[यो० शि० उ० ३।२१]

'अस्थूलमनणुह्रस्वमदीर्घमजमव्ययम् ।
अशब्दमस्पर्शरूपमचक्षुःश्रोत्रनामकम् ॥'

[यो० शि० उ० ३।१६]

'आकाशवत्सर्वगतं सुसूक्ष्मं निरञ्जनं निष्क्रियं
सन्मात्रं चिदानन्दैकरसं शिवं प्रशान्तममृतं
तत्परं च ब्रह्म'

[शा० उ० २]

'जहाँ अन्य को नहीं देखता, अन्य को नहीं सुनता और अन्य को नहीं जानता वह भूमा है।'

'निष्कल, निर्गुण, शान्त, निर्विकार, निराश्रय, निर्लेप, निरापाय, कूटस्थ, अचल, ध्रुव' 'स्थूल नहीं, अणु नहीं, ह्रस्व नहीं, दीर्घ नहीं, अज, अव्यय, शब्दरहित, स्पर्शरहित, रूप रहित, चक्षुरहित, श्रोत्ररहित, नामरहित' वह ब्रह्म आकाशवत् सर्वव्यापक, अतिसूक्ष्म, निरञ्जन, निष्क्रिय, सन्मात्र, चिदानन्दैकरस, शिव, प्रशान्त, अमृत एवं उत्कृष्ट है' इत्यादि श्रुतियों से उपाधि भेद से रहित जो हूँ; उस मुझ—

'मद्रूपमद्वयं ब्रह्म आदिमध्यान्तवर्जितम् ।
स्वप्रभं सच्चिदानन्दं भक्त्या जानाति चाव्ययम् ॥'
[वा० उ० १]

आदि, मध्य एवं अन्तरहित, स्वयं प्रकाश, सच्चिदानन्दस्वरूप, अव्यय, अद्वय ब्रह्म को पराभक्ति के द्वारा तत्त्वतः—यथार्थ रूप से जान लेता है।

अभिप्राय यह है कि वह—

'सगुण निर्गुण स्वरूपं ब्रह्म'
[त्रि० म० उ० १।१]

'आत्मैव ब्रह्म' [श्रुति]
'ब्रह्मैव आत्मा' [श्रुति]
'अयमात्मा ब्रह्म' [बृ० उ० २।५।१९]

[आदि श्रुतियों के अनुसार] सगुण-निर्गुण ब्रह्म में तथा आत्मा-परमात्मा में अभेद निश्चय को प्राप्त करता है। ऐसे ही श्रीमद्भागवत में भी कहा गया है—

'परावरगतिज्ञाय सर्वाध्यक्षाय ते नमः।
अविश्वाय च विश्वाय तद् द्रष्टेऽस्य च हेतवे ॥'
[श्री० भा० १०।१६।४८]

यह ब्रह्म ही पर-अपर समस्त गतियों का ज्ञाता सबका अध्यक्ष, सर्वप्रपञ्च-निषेधावधि, प्रपञ्चस्वरूप, अध्यास एवं अपवाद का साक्षी तथा अज्ञान और ज्ञान के द्वारा उसकी प्रतीति और आत्यन्तिक निवृत्ति का भी कारण है।

अभिप्राय यह है कि अन्वय—व्यतिरेकदृष्टि से आत्मतत्त्व ही सर्वत्र सब रूपों में स्थित है, उससे भिन्न अणुमात्र भी नहीं है। इस प्रकार मुझको तत्त्वतः जानकर वह परात्परैकत्वविज्ञानदर्शी जीवन्मुक्त महात्मा अज्ञान और उसके कार्य की निःशेष रूप से निवृत्ति होने के कारण तत्काल मुझमें मेरे रूप से प्रवेश करता है अर्थात् जैसे तरंग और नदियाँ समुद्र में प्रवेश करके समुद्र रूप हो जाती हैं, वैसे ही वह मुझमें मेरे रूप से प्रवेश करके सच्चिदानंद स्वरूप हो जाता है। जैसा श्रुति भी कहती है—

'सच्चिदानन्दात्मोपासकः सर्वपरिपूर्णाद्वैत परमानन्द लक्षणे परब्रह्मणि नारायणे मयि सच्चिदानन्दात्मकोऽहमजोऽहं परिपूर्णोऽहमस्मीति प्रविवेश। तत्र उपासको निस्तरङ्गाद्वैतापारनिरतिशय सच्चिदानन्द समुद्रो बभूव'
[त्रि० म० उ० ८।१]

'यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे
ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥'
[मु० उ० ३।२।८]

"सच्चिदानन्द स्वरूप सर्वात्मदर्शी उपासक सर्वरूप से परिपूर्ण—व्याप्त अद्वैत परमानन्दस्वरूप लक्षण-सम्पन्न मुझ परब्रह्म नारायण में—मैं सच्चिदानन्दस्वरूप, अजन्मा एवं परिपूर्ण—व्यापक, एक, अद्वितीय हूँ' इस ब्रह्मात्मैक्यानुभव के द्वारा मद्रूप होकर प्रविष्ट हो जाता है। तत्पश्चात् वह अभेदोपासक तरंगहीन—शान्त, अद्वैत, अपार, निरतिशय—अनन्त सच्चिदानन्द समुद्रस्वरूप हो जाता है।'

'जिस प्रकार सतत प्रवाहित नदियाँ अपने नाम रूप का परित्याग करके समुद्र में विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार विद्वान् नाम-रूप से मुक्त होकर परात्पर दिव्य पुरुष को प्राप्त हो जाता है॥ ५५॥

सर्व कर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥ ५६॥

विवेकी पुरुष मुझ परमात्मा का सम्यक् आश्रय लेकर अर्थात् सर्वात्मभाव से मेरे शरणापन्न होकर विहित—अविहित सम्पूर्ण कर्मों को सदा मेरे लिये करता हुआ—

'ईश्वरानुग्रहादेव पुंसामद्वैतवासना'

मुझ ईश्वर के अनुग्रह से विशुद्धान्तःकरण हो अद्वैतवासना का अधिकारी होकर परमात्मानुभूति के द्वारा नित्य अविनाशी सर्वोत्कृष्ट वैष्णव पद को प्राप्त करता है॥ ५६॥

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥ ५७॥

इसलिये तू विशुद्ध मन से—

'नाहं कर्तेश्वरः कर्ता' [श्रवि उ० २६]
'कर्ता भोक्ता जनार्दनः'
'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः' [श्रु० उ० २६]

'मैं कर्ता नहीं हूँ, ईश्वर कर्ता है' 'कर्ता और भोक्ता जनार्दन है' 'अर्पण ब्रह्म है, हवि ब्रह्म है' इस न्यायानुसार सम्पूर्ण कर्मों को मुझ परमेश्वर में समर्पित करके मेरे परायण होकर अर्थात् मुझे परम प्रेमास्पद और परमगति मानकर अनन्य बुद्धियोग का आश्रय लेकर केवल मुझमें ही सतत चित्तवाला हो अर्थात्—

'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति'
[छा० उ० ७।२४।१]

[इस श्रुति के अनुसार] सर्वदा सर्वत्र सर्व अवस्थाओं में मुझे ही देखने, सुनने एवं समझने का अभ्यास कर ॥ ५७ ॥

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥ ५८ ॥

इस प्रकार सतत ब्रह्माभ्यास के द्वारा तू मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव में सर्वदा चित्त को लगाकर मेरी अहैतुकी कृपा से सर्वात्मदर्शन के द्वारा सब दुर्गों को अर्थात् दुस्तर अविद्या, काम, क्रोध, लोभ तथा जन्म-मृत्यु आदि सांसारिक सभी दुःखों को अनायास ही गोष्पदवत् तर जायेगा और यदि मिथ्या ज्ञानाभिमान के कारण मेरे अमृत से भी मधुर अत्यन्त कल्याणप्रद वचनों को नहीं सुनेगा अर्थात् उसके अनुसार वर्णाश्रमानुकूल व्यापार नहीं करेगा तो—

'अकुर्वन्वा वैदिकं कर्म द्विजः पतनमृच्छति'
[स्मृति]

'द्विज वैदिक कर्म के अनुष्ठान न करने से पतन को प्राप्त होता है' इस न्यायानुसार पुरुषार्थ—श्रेय साधन से भ्रष्ट हो जायेगा; क्योंकि मुझ सर्वज्ञ से भिन्न कोई भी कल्याण के साधन वेद-शास्त्र को पूर्णरूपेण नहीं जानता और न मुझसे भिन्न कोई अन्य वस्तु ही वेद-शास्त्रों से प्रासव्य है ॥५८॥

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥५९॥

यदि तू 'मैं धार्मिक हूँ' इस मिथ्या ज्ञानाभिमान का आश्रय लेकर ऐसा मानता है कि मैं क्रूर हिंसात्मक युद्ध-रूप कर्म नहीं करूँगा, तो यह तेरा निश्चय मिथ्या है; क्योंकि जिस रजोगुणमयी प्रकृति से क्षत्रिय की सृष्टि हुई है, वह प्रकृति रजोगुण स्वभाव के द्वारा तुझे बलात् युद्ध में नियुक्त कर देगी ॥५६॥

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥६०॥

हे कौन्तेय! तू पूर्वोक्त क्षत्रिय शौर्य, तेज आदि अपने स्वाभाविक कर्मों के द्वारा पूर्णरूपेण बँधा हुआ है अर्थात् उन कर्मों के वश में है। इसलिए जिस कर्म को तू मोह-अज्ञान के कारण नहीं करना चाहता है, उसको स्वाभाविक कर्मों तथा ईश्वर से परतन्त्र होने के कारण न चाहने पर भी परवश हो अवश्य करेगा ॥६०॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥६१॥

हे अर्जुन! सबका शासन करनेवाला अन्तर्यामी—

'सर्वदं सर्वगं शान्तं सर्वेषां हृदये स्थितम्'

[यो० शि० उ० ३।२०]

सर्वज्ञ, सर्वगत्, शान्त परमात्मा सभी भूतप्राणियों के हृदयदेश—अन्तःकरण में स्थित है। क्या करता हुआ स्थित है? इस पर कहते हैं कि जैसे सूत्रधारी यन्त्रारूढ़ कठपुतली को घुमाता है, वैसे ही शरीर रूपी यन्त्र पर आरूढ़ देहाभिमानी परतन्त्र सम्पूर्ण भूतप्राणियों को अपनी त्रिगुणात्मिका माया शक्ति के द्वारा भ्रमाता-घुमाता हुआ अर्थात् अपने-अपने कर्म में प्रवृत्त कराता हुआ स्थित है। अथवा—

'एष एव साधुकर्म कारयति यम्' [श्रुति]

'यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यँ सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः'

[बृ० उ० ३।७।१५]

'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः'

[बृ० उ० ३।७।२२ विज्ञान स्थाने माध्यन्दिन पाठः] .

'एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' ॥

[श्वे० उ० ६।११]

"यही जिससे साधु कर्म कराता है'—

"जो सब भूतों में रहता हुआ सब भूतों के भीतर है, जिसको सब भूत नहीं जानते, जिसके सब भूत शरीर हैं, जो सब भूतों के भीतर रहकर सबका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।'

'जो जीवात्मा में रहता हुआ जीवात्मा के भीतर है, जिसे जीवात्मा नहीं जानता, जिसका जीवात्मा शरीर है, जो जीवात्मा के भीतर रहता हुआ नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।'

'एक ही देव सर्वभूतप्राणियों में गूढ़रूप से स्थित, सर्वव्यापी, सर्वभूतप्राणियों का आत्मा, सबके शुभाशुभ कर्मों का अध्यक्ष, सर्वभूतों का आधार, साक्षी, चैतन्य, केवल और निर्गुण है।'

इस प्रकार सर्वभूतप्राणी सर्वशक्तिमान् परमात्मा से परतन्त्र होने के कारण कर्म करने को बाध्य हैं। इसलिये भी तुझे बुद्धि की शुद्धि के लिये—

'नाहं कर्तेश्वरः कर्ता' [आदि उ० २६]

"मैं कर्ता नहीं हूँ ईश्वर कर्ता है' इस श्रुति वचनानुसार कर्तृत्वाभिमान से मुक्त होकर स्वधर्म रूप कर्म ही करना चाहिये ॥६१॥

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥

इसलिये हे भारत ! तुम सर्वभाव से अर्थात् सर्वात्मभाव से मन, वाणी

और कर्म से अहंकार का परित्याग करके दीनभाव से, उस परम कारुणिक परमात्मा की शरण में जाओ, यानी—

'संसारसागरेमग्नं मामुद्धर जगत्प्रभो'

'हे जगत्प्रभो! संसार सागर में डूबते हुए मुझ अनाथ का उद्धार करो' इस भावना से संसार-सागर से मुक्त होने के लिये एकमात्र अकारण हितू अशरण-शरण दीनवत्सल उस परमात्मा की अनन्यरूपेण शरण ग्रहण करो। तू—

'ईश्वरानुग्रहादेव पुंसामद्वैतवासना'

उस ईश्वर के अनुग्रह से अद्वैत वासना का अधिकारी होकर तत्त्वज्ञान के द्वारा परम शान्ति और शाश्वत—नित्य स्थान को प्राप्त करेगा ॥६२॥

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥

इस प्रकार मुझ सर्वज्ञ परम कारुणिक सर्वशक्तिमान् ईश्वर के द्वारा मन्त्र और योगादि ज्ञान की अपेक्षा श्रेष्ठ और गुह्य से भी गुह्य अर्थात् अत्यन्त गोपनीय—रहस्य युक्त मोक्ष के साक्षात् हेतु परावरैकत्व बोधकज्ञान को तुझ अत्यन्त प्रिय शिष्य के लिये कहा गया।

'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'

[श्वे० उ० ६।१५]

जिससे भिन्न अन्य कोई कल्याण का मार्ग नहीं है। इसलिये इस सर्वोपनिषदिक सर्वश्रेष्ठ गीताशास्त्र का संपूर्णता से पूर्णरूपेण पूर्वापर विचार करके तेरी जैसी इच्छा हो वैसे ही कर अर्थात् कर्म या ज्ञान, जिसमें तेरा अधिकार हो, उसमें निश्चयात्मिका बुद्धि के द्वारा स्थित हो जा ॥ ६३ ॥

सर्वं गुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥ ६४ ॥

सम्पूर्ण गोपनीयों में भी अत्यन्त गोपनीय पूर्वोक्त मेरे सर्वोत्कृष्ट रहस्ययुक्त अमृत से भी मधुर वचनों को फिर बुद्धि की दृढ़ता के लिए सुन; क्योंकि जैसे पिता का अंश होने के कारण पुत्र पिता को अत्यन्त प्रिय होता है, वैसे ही मेरे अंश होने के कारण तुम भी मुझे अत्यन्त प्रिय हो। दूसरे तू मेरा शिष्य, भक्त एवं मित्र भी है; इसलिये भी अति प्रिय है। अतः मैं—

'भक्ताधीनो दिधानिशम्' [ब्र० वै० पु०]

प्रेम परवश सदा भक्ताधीन रहनेवाला भक्तवत्सल भगवान् स्नेहवश तेरे अत्यन्त हित का साधन करूँगा ॥ ६४ ॥

> मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
> मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ ६५ ॥

अर्जुन !

> 'वासुदेवपरा वेदा वासुदेवपरा मखाः।
> वासुदेवपरा योगा वासुदेवपराः क्रियाः॥
> वासुदेवपरं ज्ञानं वासुदेवपरं तपः।
> वासुदेवपरो धर्मो वासुदेवपरा गतिः॥'
> [श्री० भा० १।२।२८,२६]

[इन पदों के अनुसार] 'वेदों का पर्यवसान मुझ वासुदेव में ही है, यज्ञों का लक्ष्य मैं वासुदेव ही हूँ, योग मुझ वासुदेव की ही प्राप्ति के लिये किये जाते हैं और सम्पूर्ण कर्मों का अन्तर्भाव भी मुझ वासुदेव में ही है। ज्ञान से ज्ञातव्य मैं परब्रह्म स्वरूप वासुदेव ही हूँ; तपस्या मुझ वासुदेव की प्रसन्नता के लिये ही की जाती है; कर्मों का अनुष्ठान भी मुझ वासुदेव की प्राप्ति के लिये ही किया जाता है और सब गतियाँ मुझ वासुदेव में ही प्रविष्ट हो जाती हैं।' इसलिये तू सब साधनों से प्राप्तव्य मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव में मन-वाला हो अर्थात् अनन्यरूपेण अतिशय प्रेम से—

'वासुदेवः सर्वमिति' [गी० ७।१६]

मुझ सर्वस्वरूप वासुदेव के चिन्तन में सतत सल्लीन रह अर्थात् नाम—रूप की अपेक्षा के द्वारा मन, बुद्धि एवं चित्त से सर्वत्र सर्वदा मेरी ही भावना करता रह, क्योंकि—

'एतावान् योगसंग्रहः' [श्री० भा० ११।२३।६१]

सम्पूर्ण योगों का इतना ही सार-संग्रह है। अथवा मेरे नामामृत, गुणामृत, कथामृत, लीलामृत, रूपामृत, प्रेमामृत एवं ज्ञानामृत से ही सदैव तृप्त रह, उसी का लुब्ध मन से पान करता रह, उसी से रति, प्रीति तथा क्रीड़ा कर एवं उसी में नित्य निवास कर, अनात्म विषयों में नहीं। तथा—

'न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथाभक्तिर्ममोर्जिता॥'
[श्री० भा० ११।१४।२०]

'जिस प्रकार मैं प्रगल्भभक्ति से शीघ्र प्राप्त होता हूँ वैसे योग, सांख्य, धर्म, स्वाध्याय, तप तथा त्याग से नहीं' इस रहस्य को समझकर—

'सर्वोपायान्परित्यज्य भक्तिमाश्रयः'
[त्रि० म० उ० ८।१]

'भक्तियोगान्मुक्तिः' [त्रि० म० उ० ८।१]

'भक्तियोगो निरुपद्रवः' [त्रि० म० उ० ८।१]

अन्य सर्व उपायों को छोड़कर मोक्षप्रद, निरुपद्रव भक्तियोग का आश्रय ग्रहण करके मेरा भक्त हो जा अर्थात्—

'मद्भक्तिनिष्ठोभव' [त्रि० म० उ० ८।१]

'मदीयोपासनां कुरु' [त्रि० म० उ० ८।१]

'कोटि पूर्णेन्दुशोभाढ्यम्' [ब्र० वै० पु०]

'कोटिकन्दर्प कमनीयं शोभाधाम मनोहरम्'
[ब्र० वै० पु०]

'अमृत वपुः' [स्मृति]

मेरी अनन्य-भक्ति-निष्ठा से युक्त होकर करोड़ों पूर्णिमा के चन्द्रमा तथा करोड़ों कामदेव के समान कमनीय शोभा के धाम अत्यन्त मनोहर मेरे अमृत स्वरूप का उत्कंठित हृदय से परम प्रेमा—अमृतस्वरूपा भक्ति के द्वारा सतत उपासना कर। अथवा—

'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥'
[श्री० भा० ७।५।२३]

मुझ विष्णु के गुण लीला नाम आदि का श्रवण, मेरे नाम गुणों आदि का कीर्तन, मेरे रूप-नाम आदि का स्मरण, मेरे चरणों की सेवा, पूजा—अर्चा, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—इस प्रकार मेरी नवधा भक्ति से

युक्त होकर नित्य-निरन्तर अत्यन्त श्रद्धा भक्ति से विह्वलतापूर्वक मेरा भजनकर, नित्य मेरे ही शरण में रह, मुझमें ही तेरी गति-मति हो तथा गोपियों की भाँति विरहातुर होकर मेरे ही संयोग वियोग से सुखी-दुःखी होओ अर्थात् मेरे ही प्रेम में तन्मय होकर हँसो, रोओ और गाओ। तथा—

'उन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः'

[श्री० भा० ११।२।४०]

उन्मत्तवत् लोकातीत प्रगाढ़ प्रेमावस्था में नृत्य करो। तथा—

'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य' [गी० १८।४६]

[इस नियम से] स्वकर्म से मेरा ही अर्चन-पूजनकर अर्थात् मेरी प्रसन्नता के लिये ही सब कर्मों का अनुष्ठान कर। अथवा—

'योऽर्चयेत्प्रतिमां प्रीत्या स मे प्रियतरो भुवि'

[गो० उ० उ० १५]

'जो प्रीति पूर्वक मेरी प्रतिमा की पूजा करता है, वह मेरा भूमण्डल में अतिशय प्रिय है' इस नियमानुसार तू मुझ विष्णु का ही श्रद्धा-भक्ति समन्वित प्रेम-पूर्ण-हृदय से यजन—पूजन अर्थात् धूप, दीप एवं आरती कर, अपने जीवन को मेरी पूजा की सामग्री बना दे, तेरी सारी क्रियायें मेरे लिये ही हों, तू मेरे लिये ही हो, अन्य के लिये नहीं।

तथा तू—

'ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टोभगवानीति'

[श्री० भा० ३।२६।३४]

'वासुदेवः सर्वमिति' [गी० ७।१६]

भगवान् ईश्वर ही जीव रूप से सब प्राणियों में प्रविष्ट हैं' 'सब वासुदेव स्वरूप ही है' इस नियम से मोक्ष के प्रतिबन्धक देहाभिमान—अहंभाव से शीघ्र मुक्त होने के लिये मुझ सर्वरूपधारी विष्णु को—

'मनसैतानि भूतानि प्रणमेद्बहु मानयन्'

[श्री० भा० ३।२६।३४]

मन से सादर प्रणाम कर।

अथवा—

'प्रणमेद् दण्डवद् भूमावाश्वचाण्डालगोखरम्'

[श्री० भा० ११।२९।१६]

शरीर से कुत्ते, चाण्डाल, एवं गधे तक को भी भगवद्भाव से पृथ्वी पर गिर कर साष्टांग दण्डवत् प्रणाम कर। इस प्रकार तू शरीर, वाणी एवं मन से मेरे शरणापन्न होकर मेरी कृपा से चित्त की शुद्धि के द्वारा आत्मज्ञान को प्राप्तकर—

'मामेव प्राप्स्यसि' [त्रि० म० उ० ८।१]

मुझे ही प्राप्त करेगा। मैं तुमसे यह सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय भक्त है ॥६५॥

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६६॥

अर्जुन! तू—

'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या' [श्रुति]

लोक-परलोक को मिथ्या, बन्धन का हेतु समझकर पर-वैराग्य से युक्त हो, आरोपित शरीरत्रय, वर्णाश्रम तथा विश्व के समस्त कर्मों एवं धर्मों को त्याग करके—

'त्यजधर्ममधर्मं च' [महा० शा० ३२९।४०]

'तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम्'।
प्रवृत्तं च निवृत्तं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च॥
मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम्।
याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतो भयः'॥

[श्री० भा० ११।१२।१४, १५]

---

१. इसलिये हे उद्धव! तुम श्रुति स्मृति, विधि-निषेध, प्रवृत्ति-निवृत्ति और सुनने योग्य तथा सुने हुये समस्त विषयों का परित्याग करके, सर्वत्र मेरी भावना से सम्पन्न हो, सर्वभूतान्तरात्मा मुझ एक की ही शरण सर्वात्मभाव से ग्रहण करो; क्योंकि मेरे शरणापन्न हो जाने पर तुम सर्वथा निर्भय हो जाओगे।

'मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा[1]
निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे।
तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो
मयाऽऽत्मभूयाय च कल्पते वै' ॥
[श्री० भा० ११।२६।३४]

अर्थात् श्रुति-स्मृति, विधि-निषेध, सुनने योग्य तथा सुने हुये समस्त विषयों का परित्याग करके अर्थात् उनकी विधि कैङ्कर्य यानी विधि-विधान से मुक्त हो अमृतत्व का सच्चा जिज्ञासु बनकर नाम-रूप की उपेक्षा करके—

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' [छा० उ० ३।१४।१]
'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' [वृ० उ० २।५।१]

'यह सब ब्रह्म ही है' इस दृष्टि को लेकर—

'यद्यत्पश्यति चक्षुर्भ्यां तत्तदात्मेति भावयेत् ॥
यद्यच्छृणोति कर्णाभ्यां तत्तदात्मेति भावयेत्।
लभते नासया यद्यत्तत्तदात्मेति भावयेत् ॥
जिह्वया यद्रसं ह्यत्ति तत्तदात्मेति भावयेत्।
त्वचा यद्यत्स्पृशेद्योगी तत्तदात्मेति भावयेत्' ॥
[यो० त० उ० ६६–७१]

'दृष्टिं ज्ञानमयीं कृत्वा पश्येद्ब्रह्ममयं जगत्'
[वे० वि० उ० १।२६]

आँख से जो कुछ देखो, कान से जो कुछ भी सुनो, नाक से जो कुछ भी सूँघो, रसना से जो कुछ भी रस ग्रहण करो, त्वचा से जो कुछ भी स्पर्श करो; उन सबको सर्वत्र सर्वदा अर्थात् चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते; सोते-जागते सर्व अवस्थाओं में—

'सर्वमिदमहं च वासुदेवः'

इस ज्ञानमयी दृष्टि से अपने सहित सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को वासुदेवस्वरूप—देखता हुआ—

---

१. मनुष्य जब सम्पूर्ण कर्मों का परित्याग करके आत्मसमर्पण कर देता है, तब वह मेरा विशेष माननीय हो जाता है; मैं उसे अमृतत्व—मोक्ष की प्राप्ति कर देता हूँ, जिससे वह मुझसे मिलकर मेरा स्वरूप ही हो जाता है।

'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' [त्रि० म० उ० ३।१]

मुझ एक, अद्वितीय सच्चिदानन्दघन वासुदेव के शरण में आ जा; क्योंकि—

'यावत्सर्वं न संत्यक्तं तावदात्मा न लभ्यते'[1]

[अन्न० उ० १।४५]

'आत्मावलोकनार्थं तु तस्मात्सर्वं परित्यजेत्'[2]

[अन्न० उ० १।४६]

'तस्मान्मामेकं शरणं व्रज'

[त्रि० म० उ० ८।१]

जब तक इन आरोपित धर्मों का त्याग नहीं करेगा अर्थात् जब तक इनमें अम्बरीष; प्रह्लाद और गोपियों की तरह उपेक्षा—अनादर बुद्धि तथा मुझमें अपेक्षा—आदर बुद्धि नहीं होगी, तब तक मेरी प्राप्ति संभव नहीं, और जब तक मेरी प्राप्ति संभव नहीं तब तक नित्य सुख-शान्ति भी नहीं होगी। इसलिए सुख-शान्ति की प्राप्ति के लिये अर्थात् आत्मदर्शनार्थ संपूर्ण धर्मों, एषणाओं और विषयों का त्याग करके तू मुझ एक, अद्वितीय परब्रह्म के शरण में सर्वात्मभाव से अर्थात् सर्वत्र मुझ वासुदेव को ही देखता, सुनता एवं समझता हुआ आ जा।

प्यारे! यह तुम्हारे कल्याणार्थ मेरी अंतिम पुकार है; मैं सर्व शक्तिमान् ईश्वर अपनी पूरी शक्ति को लेकर तेरे कल्याणार्थ तुम्हारे सामने खड़ा हूँ, मेरा निर्भयता प्रदान करनेवाला वरद कर तेरे शिर पर है, मैं आज तुझे समस्त पापों से यानी जन्म-मृत्यु प्रदान करनेवाले शुभाशुभ कर्मों से अथवा पाप की हेतुभूता वासनात्मिका अनादि अविद्या से आत्मविषयिणी अप्रतिबद्ध निर्विकल्प चिन्मात्र वृत्ति के द्वारा नित्यमुक्त आत्मा के अकर्तृत्व, अभोक्तृत्व, असंगत्व, निर्विकारत्व, सर्वगतत्व एवं परिपूर्णत्व का अपरोक्षानुभव कराकर सर्वदा के लिए मुक्त कर दूँगा अर्थात् परिछिन्न जीवभाव से मुक्त करके अपरिच्छिन्न ब्रह्मभाव में स्थित कर दूँगा तथा सर्वात्मदर्शन के द्वारा नाम रूप का आत्यन्तिक प्रलय कराकर समता के साम्राज्य पर आरूढ़ कर दूँगा। उस

---

१. जब तक सबका परित्याग नहीं होता, तब तक आत्मा की प्राप्ति नहीं होती।

२. इसलिये आत्मदर्शनार्थ सर्वस्व का परित्याग कर देना चाहिये।

काल में तुम्हारे हृदय से अनुभव का उद्गार फूट पड़ेगा, तुम आनन्द-विभोर होकर गद्गद् वाणी से समाधि-भाषा में सहसा बोल उठोगे कि—

'क्व गतं केन वा नीतं कुत्र लीनमिदं जगत्।
अधुनैव मया दृष्टं नास्ति किं महदद्भुतम्' ॥
[अ० उ० ६५]

'न किंचिदत्र पश्यामि न शृणोमि न वेद्म्यहम्'।
[अ० उ० ६७]

'न तदस्ति न यत्राहं न तदस्ति न यन्मयि।
किमन्यदभिवाञ्छामि सर्वं संविन्मयं जगत्' ॥
[यो० वा०]

'अहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं-
दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदं सर्वमीति' [छा० उ० ७।२५।१]

'किं करोमि क्व गच्छामि किं गृह्णामि त्यजामि किम्।
यन्मया पूरितं विश्वं महाकल्पाम्बुना यथा' ॥
[वं० उ० २।३५, ३६]

'किं हेयं किमुपादेयं किमन्यत्किं विलक्षणम्'
[अ० उ० ६६]

अरे, इस प्रकार की नाई मुहद संसार को पता नहीं किसने निगल लिया ? कहाँ चला गया ? कौन ले गया ? कहाँ विलीन हो गया ? अभी अभी तो मैं इसे देख रहा था, परन्तु महान् आश्चर्य है कि सहसा कहाँ अन्तर्धान हो गया ? इस समय द्वयाभाव के कारण मैं केवल अपने को ही सर्वत्र देख, सुन, समझ रहा हूँ। ऐसा कोई स्थान नहीं जहाँ मैं न होऊँ और ऐसी कोई वस्तु नहीं जो मुझमें न हो। अतः मैं ही नीचे, ऊपर, पीछे, आगे, दायें, बायें हूँ, तथा मैं ही यह सब जगत् हूँ। मुझसे ही यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड प्रलयकालीन जल के सदृश परिपूर्ण—व्याप्त है, मैं ही सर्वत्र आनन्द की तरङ्गें—मौजें मार रहा हूँ। अहा ! मैं धन्य हूँ मेरा मुझको नमस्कार है। भला, ऐसी महान् पूर्णावस्था में मैं क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? क्या ग्रहण करूँ ? तथा क्या त्याग करूँ ? तथा किस वस्तु की इच्छा करूँ ? अब मेरे लिये क्या हेय और क्या उपादेय तथा क्या सामान्य और विलक्षण रहा ?

'धन्योऽहं धन्योऽहं ब्रह्मानन्दो विभाति मे स्पष्टम् ॥
धन्योऽहं धन्योऽहं दुःखं सांसारिकं न वीक्षेऽद्य ।
धन्योऽहं धन्योऽहं स्वस्याज्ञानं पलायितं क्वापि ॥
धन्योऽहं धन्योऽहं कर्तव्यं मे न विद्यते किञ्चित् ॥
धन्योऽहं धन्योऽहं तृप्तेर्मे कोपमा भवेल्लोके'।
[अव० उ० २७–३०]

'अहो ज्ञानमहो ज्ञानमहो सुखमहो सुखम् ।
अहो शास्त्रमहो शास्त्रमहो गुरुरहो गुरुः' ॥
[अव० उ० ३२]

मैं धन्य हूँ ! धन्य हूँ !! आज मुझे ब्रह्मानन्द सर्वत्र स्पष्टरूप से भास रहा है, मैं उसे देख रहा हूँ वह मुझे देख रहा है, मैं वह हो गया हूँ वह मैं हो गया है। मैं धन्य हूँ ! धन्य हूँ !! मुझे आज स्वदर्शनानन्द के कारण सांसारिक दुःख नहीं दिखाई दे रहा है। मैं धन्य हूँ ! धन्य हूँ !! पता नहीं आज मेरा चिरकालिक अज्ञान ज्ञानोदय के कारण क्षण मात्र में ही सर्वदा के लिये, कहाँ चला गया ? मैं धन्य हूँ ! धन्य हूँ !! अब मेरे लिये किंचित् मात्र भी कर्तव्य शेष नहीं रहा। मैं धन्य हूँ ! धन्य हूँ !! आज मेरे सदृश त्रैलोक्य में कोई भी तृप्त नहीं है। अहो ज्ञान ! अहो ज्ञान !! तू धन्य है ! धन्य है !! तूने आज अज्ञान को ग्रस लिया। अहो सुख ! अहो सुख !! तू धन्य है ! धन्य है !! तूने आज दुःख का आत्यन्तिक प्रलय कर दिया। अहो शास्त्र ! अहो शास्त्र !! तू धन्य है ! धन्य है !! आज तूने मुझे अक्षयानन्द प्रदान कर दिया। अहो गुरो ! अहो गुरो !! तू धन्य है ! धन्य है !! तुझे सर्वदा के लिये नमस्कार है ! नमस्कार है !! तूने आज ज्ञानामृत पिलाकर मुझे अमर कर दिया; भेद-भाव सदा के लिये मिटा दिया; जीव को शिव बना दिया तथा प्रकृति, पुरुष एवं जीव को एक करके दिखा दिया। आज मैं तुम्हारे कृपा-कटाक्ष से कृतकृत्य हो गया। अब मैं स्वस्थ होकर अपने निर्विकारावस्था में स्थित हूँ।

अर्जुन ! इस प्रकार मैं अभेद दृष्टि अर्थात् सर्वात्मदर्शन के द्वारा तुम्हें सर्वदा के लिये शोक-मोह से मुक्त कर दूँगा। तू शोक मत कर; क्योंकि—

'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः'
[ई० उ० ७]

एकत्वदर्शी को शोक-मोह होता ही नहीं, शोक तो केवल—

'द्वितीयाद्वै भयं भवति' [बृ० उ० १।४।२]

भेददर्शी को ही हुआ करता है ॥६६॥

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥६७॥

इस—

'सर्वशास्त्रमयीगीता' [म० पु०]

सर्वशास्त्रमय अत्यन्त गोपनीय संसार-बन्धन का समूलोच्छेदन करनेवाले सच्चिदानन्दस्वरूप गीता शास्त्र का उपदेश तुम्हें अतपस्वी—अजितेन्द्रिय अथवा स्वधर्म रूप तप से शून्य पुरुष के प्रति कभी भी नहीं कहना चाहिये। तपस्वी होने पर भी—

'यस्य देवे परामक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ'
[श्वे० उ० ६।२३]

जिसकी परमात्मदेव में पराभक्ति है और जैसी परमेश्वर में है वैसी ही गुरु में भी है' इस श्रुति आज्ञा से विरुद्ध गुरु एवं ईश्वर की भक्ति से रहित अभक्त पुरुष को कभी भी नहीं सुनाना चाहिये। तथा तपस्वी और भक्त होने पर भी गुरु-शुश्रूषा—सेवा न करनेवाले से भी यह मात्र शास्त्र कभी नहीं कहना चाहिये। तथा उपर्युक्त तीन विशेषणों से युक्त होने पर भी जो मुझ परमेश्वर को मनुष्य मानकर, मुझमें दोषारोपण करके मेरी निन्दा करता है, उससे भी कभी नहीं कहना चाहिये ॥६७॥

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥६८॥

जो पुरुष इस राजविद्या, राजगुह्य, परमपावन, निरतिशय पुरुषार्थ के साधनभूत अतिरहस्य युक्त सर्वज्ञानमय गीता-शास्त्र को मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव के अनुरक्त भक्तों में निःस्वार्थ बुद्धि से करुणावश केवल आत्मदृष्टि से भक्ति और ज्ञान के प्रचार-प्रसार के लिये मुझ जैसे निष्पक्ष भाव से कहेगा अर्थात् ग्रंथरूप या अर्थरूप में जैसे भी समझें वैसे समझाने के लिये सतत प्रयत्न करेगा, वह मेरी पराभक्ति को प्राप्त करके मुझे ही प्राप्त करेगा अर्थात् संसार-बन्धन से शीघ्र ही मुक्त हो जायेगा, इसमें लेशमात्र भी संशय नहीं है ॥६८॥

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९॥

जो जीवन्मुक्त पुरुष मेरे प्रेम में अनुरक्त भक्तों को गीताशास्त्र का उपदेश देता है, उस उपदेष्टा पुरुष से श्रेष्ठ—

'गीता मे हृदयं पार्थ'

'हे पार्थ ! गीता मेरा हृदय है' [इस न्याय से] मेरा अतिशय प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्यों में अन्य कोई भी वर्तमान काल में नहीं है और न उससे श्रेष्ठ मेरा अत्यन्त प्रिय भविष्य में ही कोई पृथ्वी में होगा । तात्पर्य यह है कि उसके समान त्रिकाल अथवा त्रैलोक्य में कोई भी मेरा प्रिय नहीं है। इसलिये—

'सर्ववेदमयी गीता' [वा० पु०]

सर्ववेदमय इस दिव्य गीता शास्त्र का प्रयत्नतः ग्रन्थरूप अथवा अर्थरूप से मेरे भक्तों में अवश्यमेव व्याख्यान करना चाहिए ॥ ६६ ॥

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥ ७० ॥

तथा हे अर्जुन ! जो मनुष्य हम दोनों नर-नारायण के मोक्ष प्रदान करने में सर्वसमर्थ इस दिव्य—गीता शास्त्र का श्रद्धा भक्ति से युक्त हो केवल अध्ययन अर्थात् जपरूप से पाठ करेगा, उस भक्त के द्वारा—

'श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप'
[गी० ४।३३]

सर्व द्रव्ययज्ञों से श्रेष्ठ ज्ञानयज्ञ से मैं पूजित आराधित होऊँगा अर्थात् उसे ज्ञान प्रदान करके संसार-बन्धन से मुक्त कर दूँगा, ऐसा मुझ विष्णु का निश्चय है। इस प्रकार जब केवल जपरूप पाठ मात्र से सत्त्वशुद्धि के द्वारा ज्ञानयज्ञ का फल मोक्ष प्राप्त हो जाता है तो फिर अर्थ के अनुसंधानपूर्वक पाठ करने से साक्षात् मोक्ष होगा, इसमें कहना ही क्या ? इसलिये कल्याण-कामियों को ज्ञान-विज्ञान के भंडार ब्रह्मस्वरूप गीता शास्त्र का प्रयत्नतः अवश्य ही पाठ करना चाहिए ॥ ७० ॥

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥ ७१ ॥

जो कोई भी शिखासूत्र्य स्त्री या पुरुष इस महाप्रसाद चिन्मय गीता शास्त्र को केवल श्रद्धापूर्वक दोषदृष्टि से रहित होकर नित्यप्रति सुनता है, वह अर्थज्ञानशून्य केवल अक्षरमात्र का श्रोता भी जान-अनजान में किये गये समस्त पापों से मुक्त होकर पुण्य अश्वमेधादि धर्म करने वालों के स्वर्गादि

श्रेष्ठ लोकों को प्राप्तकर वहाँ के अक्षय भोगों को भोगकर अन्त में मुझे ही प्राप्त करता है तो फिर गीतार्थ के समझने वालों की बात ही क्या ? ॥७१॥

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥ ७२ ॥

हे पार्थ ! क्या तूने मुझसे उपदिष्ट मोक्षप्रद अद्वैतामृतवर्षी इस गुह्य गीता शास्त्र को भलीभाँति एकाग्रचित्त से सावधान होकर सुना ? अर्थात् सुनकर धारण किया अथवा नहीं ? हे धनंजय ! क्या तुम्हारा स्वरूप को आच्छादित करनेवाला अज्ञानजनित आवरणात्मक मोह ज्ञान के द्वारा नष्ट हुआ कि नहीं ? यह बतलाओ ॥ ७२ ॥

अर्जुन उवाच
नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥ ७३ ॥

अर्जुन बोला—हे अच्युत ! आपके कृपा-कटाक्ष से अर्थात् आपके उपदेश से जन्य आत्मज्ञान के द्वारा संसार-प्रवाह का मूल कारण सम्पूर्ण अनर्थों का हेतु मेरा अज्ञानजनित महामोह नष्ट हो गया । इसीलिये मैंने—

'स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः'

[छा० उ० ७।२६।२]

'भिद्यते हृदयग्रन्थिः' [मु० उ० २।२।८]

आपकी कृपा से संपूर्ण हृदयग्रन्थियों के नाशक—भेदक स्वात्मा की स्मृति प्राप्त कर ली है; इसलिये ही मैं—

'छिद्यन्ते सर्व संशयाः' [मु० उ० २.२.८]

'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे'

[मु० उ० २।२।८]

परावरैकत्वविज्ञान के द्वारा सर्वसंशयों से मुक्त एवं कर्मों के क्षीण हो जाने के कारण अपने अकर्तृत्व, अभोक्तृत्व, असंगत्व, सर्वगतत्व, शुद्धत्व एवं मुक्तत्व में स्थित हूँ अर्थात्—

'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः'

[ई० उ० ७]

'तरति शोकमात्मवित्' [छा० उ० ७।१।३]

एकत्वदर्शन के कारण शोक-मोह से मुक्त कृतकृत्य हो चुका हूँ। अतः मैं आप परम गुरु ईश्वर की आज्ञा अवश्य पालन करूँगा यानी लोक-संग्रहार्थ धर्मयुद्ध करूँगा ॥ ७३ ॥

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ ७४ ॥

धृतराष्ट्र से संजय बोला—हे राजन्!—

'सर्वभूताधिवासं च यद्भूतेषु वसत्यपि'
[ब्र० बिन्दु० उ० २२]

"जो सर्वभूतों का निवास स्थान है और जो सर्वभूतों में निवास भी करता है" इस श्रुति के अनुसार सर्वत्र सच्चिदानन्दघन वासुदेव और महात्मा अर्जुन के इस अत्यन्त और आश्चर्यजनक और अलौकिक अद्वैतामृतवर्षी रोमाञ्चकारी गीता-शास्त्र के संवाद को मैंने सुना, जिसके श्रवण मात्र से जीव कृतकृत्य हो जाता है ॥ ७४ ॥

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥७५॥

मैंने परम गुरु भगवान् वेदव्यास की कृपा से दिव्यचक्षु, श्रोत्र और ज्ञान-शक्ति से सम्पन्न होकर इस मोक्ष के परम साधन अत्यन्त गोपनीय ज्ञानयोग को साक्षात् योगेश्वरेश्वर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के मुखारविन्द से कहते हुये सुना। मैं धन्य हूँ, मैं कृतार्थ हो गया ॥७५॥

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥

हे राजन्! श्रवणमात्र से पापों के नाशक भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन के इस पुण्यमय परम पावन गीता शास्त्र के अत्यन्त अद्भुत संवाद को मैं बार-बार स्मरण करके निरतिशयानन्द को प्राप्तकर बार-बार अर्थात् प्रतिक्षण हर्ष, रोमाञ्च, प्रकम्प, प्रस्वेद आदि दिव्य भावों को प्राप्त हो रहा हूँ। पता नहीं, मेरे कौन से पुण्य, यज्ञ, दान और तप का यह फल है ॥७६॥

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान्राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥

श्रेष्ठ लोकों को प्राप्तकर वहाँ के अक्षय भोगों को भोगकर अन्त में मुझे ही प्राप्त करता है तो फिर गीतार्थ के समझने वालों की बात ही क्या ? ॥७१॥

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥ ७२ ॥

हे पार्थ ! क्या तूने मुझसे उपदिष्ट मोक्षप्रद अद्वैतामृतवर्षी इस गुह्य गीता शास्त्र को भलीभाँति एकाग्रचित्त से सावधान होकर सुना ? अर्थात् सुनकर धारण किया अथवा नहीं ? हे धनंजय ! क्या तुम्हारा स्वरूप को आच्छादित करनेवाला अज्ञानजनित आवरणात्मक मोह ज्ञान के द्वारा नष्ट हुआ कि नहीं ? यह बतलाओ ॥ ७२ ॥

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥ ७३ ॥

अर्जुन बोला—हे अच्युत ! आपके कृपा-कटाक्ष से अर्थात् आपके उपदेश से जन्य आत्मज्ञान के द्वारा संसार-प्रवाह का मूल कारण सम्पूर्ण अनर्थों का हेतु मेरा अज्ञानजनित महामोह नष्ट हो गया। इसीलिये मैंने—

'स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः'

[छा० उ० ७।२६।२]

'भिद्यते हृदयग्रन्थिः' [मु० उ० २।२।८]

आपकी कृपा से संपूर्ण हृदयग्रन्थियों के नाशक—भेदक स्वात्मा की स्मृति प्राप्त कर ली है; इसलिये ही मैं—

'छिद्यन्ते सर्व संशयाः' [मु० उ० २।२।८]

'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे'

[मु० उ० २।२।८]

परावरैकत्वविज्ञान के द्वारा सर्वसंशयों से मुक्त एवं कर्मों के क्षीण हो जाने के कारण अपने अकर्तृत्व, अभोक्तृत्व, असंगत्व, सर्वगतत्व, शुद्धत्व एवं मुक्तत्व में स्थित हूँ अर्थात्—

'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः'

[ई० उ० ७]

'तरति शोकमात्मवित्' [छा० उ० ७।१।३]

'एकत्वदर्शन के कारण शोक-मोह से मुक्त कृतकृत्य हो चुका हूँ। अतः मैं आप परम गुरु ईश्वर की आज्ञा अवश्य पालन करूँगा यानी लोक-संग्रहार्थ धर्मयुद्ध करूँगा ॥ ७३ ॥

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ ७४ ॥

धृतराष्ट्र से संजय बोला—हे राजन्!—

'सर्वभूताधिवासं च यद्भूतेषु वसत्यपि'
[ब्र० बिन्दु० उ० २२]

'जो सर्वभूतों का निवास स्थान है और जो सर्वभूतों में निवास भी करता है' इस श्रुति के अनुसार सर्वज्ञ सच्चिदानन्दघन वासुदेव और महात्मा अर्जुन के इस अत्यन्त और आश्चर्यजनक और अलौकिक अद्वैतामृतवर्षी रोमाञ्चकारी गीता-शास्त्र के संवाद को मैंने सुना। जिसके श्रवण मात्र से जीव कृतकृत्य हो जाता है ॥ ७४ ॥

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥७५॥

मैंने परम गुरु भगवान् वेदव्यास की कृपा से दिव्यचक्षु, श्रोत्र और ज्ञान-शक्ति से सम्पन्न होकर इस मोक्ष के परम साधन अत्यन्त गोपनीय ज्ञानयोग को साक्षात् योगेश्वरेश्वर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के मुखारविन्द से कहते हुये सुना। मैं धन्य हूँ, मैं कृतार्थ हो गया ॥७५॥

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥

हे राजन्! श्रवणमात्र से पापों के नाशक भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन के इस पुण्यमय परम पावन गीता शास्त्र के अत्यन्त अद्भुत संवाद को मैं बार-बार स्मरण करके निरतिशयानन्द को प्राप्तकर बार-बार अर्थात् प्रतिक्षण हर्ष, रोमाञ्च, प्रकम्प, प्रस्वेद आदि दिव्य भावों को प्राप्त हो रहा हूँ। पता नहीं, मेरे कौन से पुण्य, यज्ञ, दान और तप का यह फल है ॥७६॥

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान्राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥

तथा हे राजन्! दर्शन मात्र से पापों को तथा मन एवं जीव भाव को हरनेवाले श्री हरि के—

'अनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्' [गी० ११।१६]

अनन्त बाहु और शशि-सूर्य नेत्र वाले उस अत्यन्त अद्भुत और ऐश्वर्य सम्पन्न विश्वरूप को बारम्बार स्मरण करके मुझे महान् आश्चर्य हो रहा है और बार-बार हर्षित—आनन्दविभोर हो रहा हूँ, न चाहने पर भी आनन्दातिरेक के कारण आनन्द की किलकारियाँ स्वयमेव निकलती आ रही हैं, मेरी चेष्टा पागलों जैसी हो रही है, इसीलिये मैं कभी कभी असम्बद्ध वार्ता भी करने लगता हूँ। हे राजन्! यह सर्वाश्चर्यमय विश्वरूपधारी श्री कृष्ण का स्वरूप मुझको बलात् अपनी ओर आकृष्ट करके दिव्योन्मादी बनाये जा रहा है। क्या करूँ? मैं असमर्थ हूँ ऐसी अवस्था विशेष से मुक्त होने के लिये। इसीलिये मैं सोचने-विचारने तथा बोलने में असमर्थ हो रहा हूँ।

राजन्! मैं—

'अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्'[1]

[ना० भ० सू० ५१]

'परमप्रेमरूपा' [ना० भ० सू० २]

'अमृत स्वरूपा च' [ना० भ० सू० ३]

'शान्तिरूपात् परमानन्दरूपाच्च'[2]

[ना० भ० सू० ६०]

अनिर्वचनीय-परम-प्रेमरूपा अमृतस्वरूपा भक्ति को प्राप्त कर—

'यज्ज्ञात्वा मत्तोभवति स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति'[3]

[ना० भ० सू० ६]

महाभाव से युक्त, प्रेमोन्माद से उन्मत्त, प्रशान्त, अद्वयानन्द, भूमानन्द तथा परमानन्द में मग्न आत्माराम हो गया हूँ। इस समय मैं—

---

१. प्रेम का स्वरूप अनिर्वचनीय है।

२. भक्ति शान्तिरूपा और परमानन्दरूपा है।

३. उस प्रेमरूपा भक्ति को पाकर मनुष्य उन्मत्त हो जाता है, शान्त हो जाता है और आत्माराम बन जाता है।

'तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति'
तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति'

[ना० भ० सू० ५५] [1]

तद्रूप होकर उस अनिर्वचनीय, गुणातीत, प्रेमस्वरूप ब्रह्म को ही सर्वत्र देख, सुन, समझ रहा हूँ। धन्य है परम गुरु महर्षि वेदव्यास को, जिनके कृपा कटाक्ष से मैं कृतकृत्य—जीवन्मुक्त हो गया हूँ ॥७७॥

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥७८॥

हे राजन् ! मैं अधिक क्या कहूँ; जहाँ पर अर्थात् जिस पक्ष में—

'संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः' [श्वे० उ० ६।१६]

संसार के मोक्ष, स्थिति और बन्ध के हेतु एवं समस्त योगों और सिद्धियों के ईश्वर षडैश्वर्य-सम्पन्न नारायण श्रीकृष्ण हैं और जहाँ पर अर्थात् जिस पक्ष में धनुर्धर भक्तप्रवर नर पार्थ हैं, वहीं पर अर्थात् उसी पक्ष में ध्रुव श्री—अचल राज्यलक्ष्मी है तथा उसी पक्ष में अर्थात्—

'यतो धर्मस्ततो जयः'

'जहाँ धर्म है वहाँ जय भी है' इस नियम से जहाँ धर्मराज युधिष्ठिर हैं, वहीं अचल विजय भी है तथा उसी पक्ष में अचल विभूति और अचल नीति अर्थात् शास्त्रीय मर्यादा भी है; ऐसा मेरा निश्चय है।

अतः तुम पुत्रों के विजय की व्यर्थ आशा को छोड़कर भगवान् श्रीकृष्ण-चन्द्र से अनुगृहीत पाण्डवों के साथ सन्धि कर लो ॥७८॥

'भगवद्भक्तियुक्तस्य तत्प्रसादात्मबोधतः ।
सुखं बन्धविमुक्तिः स्यादिति गीतार्थसंग्रहः' ॥

भगवद्भक्ति से युक्त पुरुष की ईश्वर के प्रसाद से आत्मबोध के द्वारा सुखपूर्वक संसार-बन्धन से मुक्ति होती है; यह गीतार्थ का सार-संग्रह है।

जैसा कि भगवान् ने स्वयं ही कहा है :—

'पुरुषः स परः पार्थ भक्त्यालभ्यस्त्वनन्यया'

[गी० ८।२२]

---

१. उस प्रेम को प्राप्त करके प्रेमी उस प्रेम को देखता है, प्रेम को ही सुनता है, प्रेम का ही वर्णन करता है और प्रेम का ही चिन्तन करता है।

'मेरा भक्त मेरे भक्तियोग के द्वारा अनायास ही स्वर्ग-अपवर्ग सबको प्राप्त कर लेता है।

ऐसे ही परमज्ञानी श्री मधुसूदनाचार्य ने भी भक्तिरसायन में कहा है—

'भगवन्तं विभुं नित्यं पूर्णं बोध सुखात्मकम्।
यद् गृह्णाति द्रुतं चित्तं किमन्यदवशिष्यते॥'
[भक्ति रसायन १।२८]

'विभु—व्यापक, नित्य—सत्य-त्रिकालातीत, पूर्ण-अद्वितीय चिदानन्दस्वरूप परमेश्वर को द्रवित-चित्त से ग्रहण कर लेने पर अन्य कुछ भी पाना अवशिष्ट नहीं रह जाता।'

इस प्रकार भगवद्भक्ति से ही ज्ञान के द्वारा मोक्ष सिद्ध होता है, अन्य प्रकार से नहीं; यह सिद्ध हुआ। इसलिये बुद्धिमान् कल्याणकामी पुरुषों को चाहिये कि—

'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति॥'
[क० उ० १।३।१४]

'क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्'
[गी० १२।५]

'निर्गुणोपासने कष्टम्'
[श्री० भा० मा० ३।५६]

कष्टप्रद निर्गुण उपासना को छोड़कर—

'भक्तियोगो निरुपद्रवः'
[त्रि० म० उ० ८।१]

'न युज्यमानया भक्त्या भगवत्यखिलात्मनि।
सदृशोऽस्ति शिवः पन्था योगिनां ब्रह्मसिद्धये॥'[1]
[श्री० भा० ३।२५।१९]

---

१. योगियों को भगवत् प्राप्त्यर्थ सर्वात्मा भगवान् के प्रति की हुई अनन्य भक्ति के सदृश अन्य कोई भी कल्याणमय मार्ग नहीं है।

'तपोयोगादयो मोक्षमार्गाः सन्ति तथापि च ।'
समीचीनस्तु मद्भक्तिमार्गः संसरतामिह ॥'
[ग० पु०]

'देहाभिमानिनामन्तर्मुखी वृत्तिर्न जायते ।
अतस्तेषां तु मद्भक्तिः सुकरा मोक्षदायिनी ॥'
[ग० पु०]

सर्वशास्त्रसम्मत, निरुपद्रव; अद्वितीय, कल्याणप्रद, समीचीन, सुगम, मोक्ष-दायी, भक्तिमार्ग का अवलंबन करके—

'काठिन्यं विषये कुर्यात् द्रवत्वं भगवत्पदे'
[भक्ति रसायन १।१०]

विषयों में चित्त को कठिन रखे अर्थात् विषयों को विषवत् जन्म-मृत्यु का हेतु समझकर उनका सर्वथा चिन्तन न करे और मोक्षप्रद भगवत्पद में द्रवीभूत करे अर्थात्—

'कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना ।[१]
विनाऽऽनन्दा श्रुकलया शुध्येद्भक्त्या विनाऽऽशयः ॥'
[श्री० भा० ११।१४।२३]

'कलिग्राह गृहीतानां स एव परमाश्रयः'
[श्री० मा० मा० ४।६]

मोक्ष के परम साधन, कलिग्राह से मुक्ति प्रदान करनेवाले, सर्वोत्तम आश्रय; भक्ति, ज्ञान और वैराग्य को उज्जीवित करनेवाले, सगुण एवं निर्गुण में अभेद दर्शन करानेवाले, *संसार बन्धन का सम्यग्रूपेण उच्छेद करनेवाले*, कृष्ण-तत्व के प्रकाशक—